वीरोदय महाकाव्य और भगवान महावीर के जीवनचरित का समीक्षात्मक अध्ययन



: प्रकाशक :

भगवान ऋषभदेव ग्रंथमाला

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी

सांगानेर, जयपुर (राज.)

डॉ. श्रीमती कामिनी जैन



वीरोदय महाकाव्य और भगवान महावीर के जीवनचरित का समीक्षात्मक अध्ययन

: आशीर्वाद :

मुनिश्री 108 सुधासागर जी महाराज
क्षु. 105 श्री गम्भीरसागर जी महाराज
क्षु. 105 श्री धैर्यसागर जी महाराज

: लेखक :

डॉ. (श्रीमती) कामिनी जैन

एम.ए. (हिन्दी, संस्कृत)

: प्रकाशक :

भगवान ऋषभदेव ग्रंथमाला
श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी,
साँगानेर (जयपुर) फोन : 0141-2731952, 2730390



: प्रेरक प्रसंग :

परम पूज्य संत शिरोमणि आचार्य श्री 108 विद्यासागरजी महाराज के परम शिष्य तीर्थ क्षेत्र जीर्णोद्धारक, आध्यात्मिक संत मुनिश्री 108 सुधासागरजी महाराज एवं क्षुल्लक 105 श्री गम्भीरसागरजी महाराज एवं क्षुल्लक 105 श्री धैर्यसागरजी महाराज के वर्ष 2004 वर्षायोग सूरत (गुजरात) के पावन प्रसंग पर प्रकाशित।

संस्करण : प्रथम, 2005

I.S.B.N. : 81-7772-009-0

प्रतियाँ : 1000

मूल्य : 75.00 (पुनः प्रकाशन हेतु सुरक्षित)

: प्राप्ति स्थान :

भगवान ऋषभदेव ग्रंथमाला

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर-जयपुर (राज.)

फोन : 0141-2730390 फेक्स : 0141-2731952

: मुद्रक :

श्री पदम कम्प्यूटर सेन्टर

1471, नाटाणियों का रास्ता, चौड़ा रास्ता, जयपुर (राजस्थान)



वीरोदय महाकाव्य और भगवान महावीर के जीवनचरित का समीक्षात्मक अध्ययन

: पुण्यार्जक :

श्रीमती शकुंतला देवी राजीव जी भौंच

सूरत (गुजरात)

: प्रकाशक :

भगवान ऋषभदेव ग्रंथमाला

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी,

साँगानेर (जयपुर) फोन : 0141-2731952, 2730390

प्रकाशकीय समर्पण



आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज



मुनिश्री सुधासागर जी महाराज

पंचाचार युक्त, महाकवि, दार्शनिक विचारक
धर्मदिवाकर, आदर्श चारित्रनायक,
कुन्द–कुन्द की परम्परा के उन्नायक, संत शिरोमणि, समाधि सम्राट,
परम पूज्य आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज
के कर–कमलों में
एवं इनके परम सुयोग्य शिष्य
ज्ञान, ध्यान तप युक्त श्रमण संस्कृति के रक्षक, क्षेत्र जीर्णोद्धारक,
वात्सल्य मूर्ति, समता स्वाभावी, जिनवाणी के यथार्थ
उद्घोषक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संत मुनि
श्री सुधासागर जी महाराज के कर–कमलों में

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र

ब्यावर (राज.)

एवं

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी,

सांगानेर, जयपुर

की ओर से

सादर समर्पित

प्रकाशकीय

चारित्र चक्रवर्ती, रससिद्ध महाकवि पू. आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के प्रशिष्य एवम् सन्त शिरोमणि महाकवि पू. आचार्य विद्यासागरजी महाराज के प्रभावक शिष्य पू. मुनिपुंगव सुधासागरजी एक ओर इतिहास–निर्माणी सांस्कृतिक उपक्रमों के प्रेरक हैं और समाज के आबालवृद्ध समुदाय के सत्पथदर्शक हैं तो दूसरी ओर वे जैनाचार्यो के कालजयी साहित्य के अनुशीलन, परिशीलन एवम् व्यापक–अनुसंधान हेतु विद्वानों का ध्यानाकर्षित करते रहते हैं। पूज्य मुनिपुंगवश्री के आशीष से लिखित शोध–प्रबन्धों की श्रृंखला में डॉ. श्रीमती कामिनी जैन के वैदुष्ययुक्त अध्यवसाय से संग्रथित प्रस्तुत प्रबन्ध **"वीरोदय महाकाव्य और भगवान महावीर के जीवन चरित का समीक्षात्मक अध्ययन"** जिस पर लेखिका को 'मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय' द्वारा पीएच.डी. उपाधि से अलंकृत हुयी है, भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला, सांगानेर–जयपुर के सहभागिता से प्रकाशित करते हुए केन्द्र अति हर्षित है।

आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र की स्थापना की पीठिका में पूज्य मुनिवर का भाव है कि जैनाचार्यों की कालजयी कृतियाँ समाज के औदासीन्य से काल–कवलित न हो जायँ तथा साम्प्रदायिकता की कलुषित भावना का शिकार होकर उपेक्षित न हों तथा उनका सम्यक् मूल्यांकन हो सके, साहित्य के इतिहास में उनका यथानुरूप समादृत स्थान प्राप्त हो, श्रमण साहित्य का विद्वद् वर्ग में प्रचार/प्रसार हो, जैनेतर विद्वान् भी जैनाचार्यों की प्रतिभा एवम् विश्व संस्कृति को प्रदत्त उनके अवदान से अवगत

हों। अतः महाकवि ब्र. भूरामल शास्त्री (अपर नाम चा.च. आचार्य ज्ञानसागर जी महाराज) द्वारा विरचित लघुत्रयी (सुदर्शनोदय, दयोदय, भद्रोदय) पर ब्यावर (राज.) में आयोजित अखिल भारतीय जैनाजैन विद्वानों की संगोष्ठी में विद्वानों के अभिमत पर मुनिश्री के भावों की क्रियान्विति हेतु "आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र" की स्थापना की गयी।

प्रकाशित साहित्य पाठकों को सरलता एवं सहजता से उपलब्ध हो सके ऐसी भावना के साथ मुनिश्री की ही प्रेरणा एवं आशीर्वाद से भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला सांगानेर की स्थापना की गई।

भगवान ऋषभदेव ग्रंथमाला के संयुक्त सहकार से केन्द्र द्वारा सौ से अधिक ग्रंथों का प्रकाशन किया जा चुका है तथा आचार्य ज्ञानसागर वाङ्मय पर 25 से अधिक महानिबन्धों का लेखन कार्य विविध विद्वानों द्वारा तथा उन विद्या पर अर्द्धशतकाधिक शोधार्थी विद्वानों द्वारा विश्वविद्यालयीय शोधोपाधि पीएच.डी. हेतु शोध प्रबन्धों का लेखन सम्पादित हुआ है तथा सम्प्रति एक दर्जन से अधिक शोधछात्र जैन विद्या के विविध पक्षों पर केन्द्र के सहयोग से अपने शोध–अनुसंधान कार्य में संलग्न हैं।

"लघुतम समय में ऐसे अनेक प्रतिमान–संस्थापक कार्य किस प्रकार संभव हो सके?" यह जिज्ञासा प्रायः अनेक व्यक्तियों द्वारा की जाती है और जब उत्तर मिलता हैं कि यह सब मान् पुरातत्त्व संरक्षक, असंभव सदृश महान् सांस्कृतिक उपक्रमों के संप्रेरक, विद्वत् कल्पतरु, ज्ञान रथ के सारथी उपसर्गजयी, महत्तपस्वी, आध्यात्मिक सन्त मुनिपुंगव सुधासागरजी के आशीष का कमाल है।" तो जिज्ञासु–जनों के मौन मुखर हो उठता है–"मुनिपुंगव सुधासागर का तपोबल निश्चय ही अनुपम और अचिन्त्य है;" अगर मुनिवर न होते तो कौन सैकड़ों तीर्थक्षेत्रों के पुरातत्त्व का

वास्तुशास्त्रानुसार संरक्षण कराता? विद्वानों को जैन विद्याओं के उद्धार की दिशा में कौन प्रवृत्त करता? युग प्रवाह के कारण चलती मिथ्यात्व की आँधी को कौन रोकता? अस्तु।

श्रीमती कामिनी जैन साहित्यिक प्रतिभा की धनी स्थापित विदुषी लेखिका है। पूज्य मुनिवरश्री की प्रवचन गंगा में स्नात होकर आर्षमार्ग की परम्परा से सम्बद्ध हुयी हैं, पूज्य मुनिश्री के आशीष से उन्होंने वीरोदय महाकाव्य एवम् विश्ववन्द्य भगवान् महावीर स्वामी के लोकोत्तर चरित का तुलनात्मक अध्ययन प्रकृत ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। शोध प्रबन्ध विश्वविद्यालीय उच्चतम मानदण्डों के अनुरूप सज्जित हो एतदर्थ जैनविद्याओं के शोधानुसंधान एवम् उत्कर्ष में सतत निरत मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय के विविध उच्च पदों को अलंकृत कर चुके सुसिद्ध मनीषी प्रो. डॉ. सुमन के प्रति केन्द्र कृतज्ञता ज्ञापित करता है एवम् विदुषी लेखिका इस विद्वतापूर्ण परिश्रमान्वित सारस्वत कार्य के लिये उनहें साधुवाद अर्पित करते हुए आशा करता है, उनकी प्रतिभा से सरस्वती का भण्डार और वृद्धिगत होगा।

प्रकृत ग्रन्थ का विद्वतापूर्ण सम्पादन सरलता, सज्जनता व सात्विकता की प्रतिमूर्ति पं. श्री अभयकुमार जैन, जैनदर्शन–साहित्याचार्या की न्यायपूर्ण लेखनी से किया गया है। पं. श्री अभयकुमार जी जो भी कार्य करते हैं पूरी ईमानदारी से श्रद्धा और भक्तिभाव पूर्वक करते हैं। पं. जी के प्रति केन्द्र आभार व्यक्त करता है। श्री प्रदीपजी लुहाड़िया, जयपुर ने मुद्रण कार्य की व्यवस्था में जो सहयोग दिया है, वह उनकी गुरुभक्ति एवम् श्रुतभक्ति का निदर्शक है, वे साधुवाद के पात्र हैं।

हमारा विश्वास है भारत के श्रमण संस्कृति के अनुरागी जैना–जैन विद्वानों के सारस्वत सहयोग से श्रमण साहित्य का

चन्द्र सदा अपनी शान्तिमयी शीतल रश्मियों से सन्तप्त विश्व की पीड़ा हरेगा और आन्दोद्योत का वितान करेगा।

परमपूज्य मुनिपुंगवश्री, जिनकी कृपा–कोर से श्रमण संस्कृति के दुर्लभ–उत्कर्ष की आशाएँ बलवती हुयी हैं, के प्रति सश्रद्ध त्रिकाल नमोऽस्तु।

जिनवाणी माँ का लघु शिशु

प्राचार्य अरुणकुमार जैन
जैनदर्शन–व्याकरणाचार्य, एम.ए. आदि
निदेशक
आ.ज्ञा.वा.वि. केन्द्र, ब्यावर

प्राक्कथन

संस्कृत महाकाव्यों का प्रणयन रामायण, महाभारत से माना गया है। तत्पश्चात् यह प्रभाव कालिदास, श्रीहर्ष आदि कवियों में देखा जाता है। ईसा की द्वितीय शताब्दी के प्रथम संस्कृत जैनकवि जैनाचार्य समन्तभद्र हुए हैं। इसी परमपरा में बीसवीं शताब्दी में आचार्य ज्ञानसागर ने अनेक जैन महाकाव्यों की रचना की है। उन्होंने संस्कृत वाङ्मय का तथा जैनधर्म, जैनदर्शन का विधिवत् अनुशीलन–परिशीलन कर आत्म–साधना के साथ–साथ साहित्य–साधना भी अनवरत की है, जिसके फलस्वरूप मानवसमाज को जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, भद्रोदय, महाकाव्य समुद्रचरित एवं दयोदय चम्पू जैसे काव्य संस्कृत भाषा में उपलब्ध हुए हैं और हिन्दी में भी उनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। जन–जन के नायक भगवान महावीर के समग्र जीवन–दर्शन को आत्मसात् करने का बहुआयामी पुरूषार्थ उन्होंने आजीवन ब्रह्मचर्य पालन का व्रत लेकर प्रारम्भ किया। ऐसे 20वीं शताब्दी के महामना स्वनामधन्य ब्र. भूरामल ने मरूधरा राणोली की उर्वरा भूमि में अपनी पर्याय सार्थक करते हुए ज्ञानसागर के रूप में पंचमहाव्रतों को निष्ठापूर्वक अंगीकार कर स्व–कल्याण के साथ–साथ समग्र मानव–समाज के कल्याणार्थ अनुपम काव्य विधा दी। उन्हीं में से एक वीरोदय महाकाव्य है।

आचार्यश्री ज्ञानसागर ने वीरोदय महाकाव्य में महावीर जैसे सर्वश्रेष्ठ महापुरूष को अपनी कथा का नायक चुना है, जिनका चरित उत्तरोत्तर चमत्कारी है। 22 सर्गों में निबद्ध इस महाकाव्य में कवि ने भगवान महावीर के चरित को लोककल्याण की भावना से चित्रित किया है। ग्रन्थ में कुण्डनपुर नगर का प्राकृतिक सौन्दर्य–वर्णन, ऋतु–वर्णन और राजा सिद्धार्थ तथा रानी प्रियकारिणी के अनुपम वात्सल्य को भी यथास्थान दर्शाया है।

प्रस्तुत **"वीरोदय महाकाव्य और भगवान महावीर के जीवनचरित का समीक्षात्मक अध्ययन"** नामक शोध–प्रबन्ध को छह अध्यायों में

विभक्त किया गया है। **प्रथम अध्याय** में प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश में चरित–काव्य की परम्परा में वर्णित तीर्थंकर परम्परा और भगवान महावीर के विषय में विवेचना की गई है तथा **प्राकृत काव्यों** में तिलोयपण्णत्ती, विमलसूरिकृत पउमचरियं और धनेश्वरसूरिकृत सुरसुन्दरीचरियं का वर्णन किया गया है।

संस्कृत–काव्यों की परम्परा में असगकवि विरचित वर्धमानचरित, रविषेण का पद्मचरित, जटासिंहनन्दि का वरांगचरित, वीरनन्दिकृत चन्द्रप्रभचरित और आचार्य ज्ञानसागरकृत वीरोदय महाकाव्य आदि प्रमुख हैं। **अपभ्रंश–साहित्य** में वर्णित चरित–परम्परा के अन्तर्गत रयधू विरचित महावीरचरिउ, सिरिहररचित वड्ढमाणचरिउ, जयमित्तहल्लविरचित वर्धमानकाव्य विशेष उल्लेखनीय हैं। इस अध्याय में अन्तिम परिच्छेद में महावीरचरित साहित्य का विकास, आधुनिक साहित्य में वर्णित महावीरचरित और भगवान महावीर के चरित का महत्त्व प्रतिपादित किया गया है।

द्वितीय अध्याय में आचार्य ज्ञानसागर के व्यक्तित्व को प्रतिपादित करते हुए जयोदय महाकाव्य की समीक्षा की गई है तथा इसके कथानक की ऐतिहासिकता प्रस्तुत करते हुए महावीरचरित–परम्परा का प्रभाव दर्शाया गया है। इसी अध्याय में सुदर्शनोदय की समीक्षा के अन्तर्गत शील की महिमा और गृहस्थाचार का वर्णन भी किया गया है। भद्रोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन कर समुद्रदत्त चरित की कथा का उद्देश्य प्रस्तुत किया गया है। आचार्य ज्ञानसागरकृत दयोदय चम्पू की कथावस्तु की प्राचीनता, वैशिष्ट्य और अहिंसा–व्रत की उपादेयता भी प्रस्तुत की गई है।

तृतीय अध्याय में वीरोदय के स्वरूप को प्रतिपादित करते हुये काव्य की महत्ता, भगवान महावीर के जन्म से पूर्व भारत की सामाजिक, धार्मिक स्थिति का चित्रण, पूर्व–भवों का वर्णन तथा महावीर का समग्र जीवन–दर्शन दर्शाया गया है। इसके साथ ही भगवान महावीर के उपदेशों का तात्कालिक राजाओं पर प्रभाव, गृहस्थ–धर्म एवं मुनि–धर्म का भी वर्णन किया गया है। साथ ही समोशरण की रचना, दिव्य–ध्वनि का प्रभाव, सिद्धान्तों की प्ररूपणा, सर्वज्ञता की सिद्धि व भगवान महावीर का मोक्ष–गमन एवं पौराणिक आख्यानों का दिग्दर्शन कराया गया है।

चतुर्थ अध्याय में वीरोदय के काव्यात्मक मूल्यांकन में कवि की काव्यात्मकता, छन्द प्रयोग, अलंकारों का विवेचन, रसानुभूति, भाषा–शैली, संवादों की विशिष्टता तथा अन्य काव्यों से तुलनात्मक समीक्षा की गई है।

पंचम अध्याय में वीरोदय महाकाव्य का सांस्कृतिक एवं सामाजिक विवेचन किया गया है। जिसमें सामाजिक चित्रण, वर्ण–व्यवस्था, परिवार, समाज व सामाजिक संगठन, नीतिगत व्यवस्था, समाज में अनुशासन, रीति–रिवाज, वेश–भूषा व रहन–सहन पद्धति का अध्ययन किया गया है। इसमें धार्मिक अनुष्ठान, व्रत, उपवास, शिक्षा एवं शिक्षा–पद्धति, जीवमात्र पर दया, सहिष्णुता के साथ–साथ कला–चित्रण का मूल्यांकन भी किया गया है।

षष्ठ अध्याय के अन्तर्गत धर्म का स्वरूप, धर्म की महत्ता, देव, शास्त्र, गुरू की भक्ति, रत्नत्रय का स्वरूप, पुण्य–पाप विवेचना तथा वीरोदय में कर्म सिद्धान्त की समीक्षा प्रस्तुत करते हुए सदाचार एवं शाकाहार जीवन–शैली व पुरूषार्थ चतुष्टय के महत्त्व को प्रतिपादित किया गया है।

उपर्युक्त छह अध्यायों की विषय–वस्तु के आधार पर प्राप्त निष्कर्षों को उपसंहार में संकलित किया गया है। शोध–प्रबन्ध में जिन ग्रन्थों का उपयोग किया गया है, उनकी सूची, शब्दकोश तथा शोध से सम्बन्धित विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं की सूची अंत में दी गई है।

यह पुण्य योग ही है कि आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज के परम शिष्य मुनिपुंगव श्री 108 सुधासागर जी महाराज ने प्रस्तुत विषय पर शोध–कार्य करने की प्रेरणा और आशीर्वाद दिया तथा क्षुल्लक श्री गम्भीरसागर जी, क्षुल्लक श्री धैर्यसागर जी ने अनुमोदना की। मुनिश्री ने शोध–प्रबन्ध की संक्षिप्त रूप रेखा को भी देखा और वीरोदय महाकाव्य हस्तलिखित ग्रन्थ को देखने का सुझाव दिया। मुनिश्री के चरणों में कृतज्ञता पूर्वक शत–शत नमन तथा क्षुल्लक–द्वय को करबद्ध इच्छामि।

शोध एवं अनुसंधान के उच्च मानदण्डों के अनुरूप कार्य की प्रायोजना, उसके परीक्षण, उचित निर्देशन तथा वर्तमान रूप में कृति को प्रस्तुत करने में मेरे शोध निर्देशक जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मानविकी संकाय, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के विशिष्ट सम्मानित

प्रो. डॉ. प्रेम सुमन जैन के मार्गदर्शन, पूर्ण सहयोग एवं अपूर्व स्नेह के प्रति जितने शब्दों में आभार व्यक्त करूँ, बहुत कम है तथापि हार्दिक कृतज्ञता निवेदित करती हूँ। साथ ही डॉ. साहब की धर्मपत्नी श्रीमती डॉ. सरोज जैन के वात्सल्यभाव के प्रति तथा परिजनों के सहयोग एवं विभाग के विद्वान डॉ. उदयचन्द जैन, विभागाध्यक्ष डॉ. हुकमचन्द जैन के मार्गदर्शन एवं सहयोग के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ। अपभ्रंश अकादमी के निदेशक प्रज्ञामनीषी डॉ. कमलचन्द सौगाणी, प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द जैन, डॉ. पी. सी. जैन, डॉ विमल कुमार जैन जयपुर, डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन गाजियाबाद, आदि सभी विद्वज्जनों का समय–समय पर मार्ग दर्शन मिलता रहा है, अस्तु इनके प्रति भी आभारी हूँ।

मेरे अनुसंधेय विषय को इस रूप में प्रस्तुत करने में मेरे पति डॉ. सनत कुमार जैन प्रवक्ता श्री दिगम्बर जैन आचार्य संस्कृत महाविद्यालय, जयपुर का आद्यन्त सहयोग प्राप्त हुआ है। इनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। पुत्र निश्चल जैन बी.ई. इलेक्ट्रोनिक्स इन्जीनियर प्रथम वर्ष के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता है। आगे बढ़ने की प्रेरणा और आशीर्वाद से उपकृत मैं अपने पिताश्री अमरनाथ जैन, माता श्री धनवन्ती देवी जैन के प्रति श्रद्धावनत हूँ। इस कार्य में निरन्तर उत्साह दिलाने हेतु बहिन कल्पना एवं श्री अजयकुमार जी का स्नेहभाव स्मरणीय है।

श्री महावीर दिगम्बर जैन बालिका माध्यमिक विद्यालय, जयपुर की प्रधानाध्यापिका श्रीमती इन्दु पाटनी, अध्यक्ष श्री श्रेयांशकुमार गोधा, मंत्री श्री रामचरण शाह के प्रति भी हृदय से आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इस कार्य की मुझे स्वीकृति प्रदान की तथा अपने उन समस्त मित्रगणों को भी आभार देती हूँ, जिन्होंने शोध–कार्य हेतु शुभकामनायें प्रदान की हैं। कम्प्यूटर्स पर कार्य करने वाले प्रदीप लुहाड़िया, उनके सहयोगी उच्छब कुमार जैन को भी धन्यवाद। उन्होंने समय पर इस शोध–प्रबन्ध का टंकण–कार्य सम्पन्न कराया।

निरन्तर सावधानी रखने के पश्चात् भी इतने बड़े कार्य में त्रुटियाँ रह जाना संभव है, जिसके लिए मैं हृदय से क्षमायाचना करती हूँ।

शोधकर्त्री

11 मई 2004 **श्रीमती कामिनी जैन**

सम्पादकीय

वीरोदय महाकाव्य राणोली (सीकर–राजस्थान) के सेठ चतुर्भुज और उनकी अर्धांगिनी घृतवरी देवी के सपूत पं. श्री भूरामल जी शास्त्री की एक विशिष्ट कृति है। पं. श्री भूरामल जी ही बाद में चारित्र पथ पर अग्रसर होकर आचार्य श्री ज्ञानसागर के नाम से एक लोकविश्रुत जैन सन्त हुए। ये महाकवि कालिदास, भारवि, माघ, श्रीहर्ष, आदि प्राचीन कवियों की श्रेष्ठ काव्य–परम्परा को पुनरूज्जीवित करने वाले 20वीं शताब्दी के एक प्रतिभा–सम्पन्न सुप्रसिद्ध यशस्वी महाकाव्यकार/साहित्यकार हैं। इन्होंने इस सदी में भी इन प्राचीन महाकवियों के महाकाव्यों के समतुल्य संस्कृत में उच्चकोटि के महाकाव्य और चरितकाव्यों की रचना की है और हिन्दी भाषा में भी अनेक अमूल्य कृतियों का सृजन एवं पद्यानुवाद किया है तथा अनेक टीकाएं भी लिखी हैं। इस प्रकार इन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी के साहित्य–भंडार को समृद्ध बनाया है। ये सुप्रसिद्ध कृतियाँ इस प्रकार हैं –

संस्कृत भाषा में –

(क) महाकाव्य–जयोदय/वीरोदय/सुदर्शनोदय/भद्रोदय

(ख) चरितकाव्य–मुनिमनोरंजनाशीति दयोदय (चम्पूकाव्य)

(ग) जैनसिद्धान्त–सम्यक्त्वसार शतक।

(घ) धर्मशास्त्र– प्रवचनसार प्रतिरूपक।

हिन्दी भाषा में –

(क) चरितकाव्य – ऋषभावतार/भाग्योदय/विवेकोदय/गुणसुन्दरवृत्तान्त।

(ख) धर्मशास्त्र – कर्तव्यपथ प्रदर्शन/सचित्तविवेचन/तत्त्वार्थसूत्र टीका/मानवधर्म।

(ग) पद्यानुवाद – देवागम स्तोत्र/नियमसार/अष्टपाहुड।

(घ) अन्य कृतियाँ – स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म/जैन विवाह विधि।

प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध का आधार "वीरोदय" महाकाव्य है। यह 22 सर्गों में निबद्ध, शान्त–श्रृँगार–करूणरसों से भरपूर, रस–भाव–गुणालंकारों से विभूषित, अनुप्रास एवं तुकान्त विन्यास से युक्त, सुन्दर आकर्षक ऋतुवर्णनों से मनोहारी, ग्राम–नगर–बाजार–मार्ग–कोट आदि के वैभवपूर्ण वर्णन से युक्त, प्रौढ पाण्डित्य–सम्पन्न एक सफल दुष्प्राप्य महाकाव्य है, जो श्रमणों–श्रमणोपासकों की दिनचर्या का दिग्दर्शन कराते हुए उनके कर्तव्याकर्तव्य का बोध कराता है, सदाचार, सद्विचार, सद्व्यवहार के साथ–साथ धर्म, नैतिकता और राजनीति की भी शिक्षा देता है। जीवन की आध्यात्मिक उन्नति/प्रवृत्ति की भी प्रेरणा पाठकों को देता है।

भले ही यह महाकाव्य धर्मशर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभचरित, मुनिसुव्रत–काव्य तथा नैषधीयचरित काव्यों से प्रभावित हो तथापि इसमें अपनी मौलिकता तथा वैशिष्टय है। इसमें कवि की अपनी अनूठी कल्पनाएँ, हृदयाह्लादकारी उत्प्रेक्षाएँ, प्रभावी बिम्ब–प्रतिबिम्ब और पाण्डित्यपूर्ण रस–छन्द–अलंकारों का संयोजन है। अनुप्रास और तुकान्तविन्यास की छटा ही निराली है, तिस पर देशज एवं तद्भव प्रचलित अप्रचलित शब्दों तथा लोकोक्तियों/कहावतों का प्रयोग भाषा को सुगम तथा अर्थ को चमत्कारी बना देता है। विषय के प्रतिपादन की शैली भी उनकी अपनी है।

महाकाव्य की कसौटी पर खरा उतरने से यह **महाकाव्य** तो सिद्ध है ही, इसमें भ. महावीर के निर्वाण के पश्चात् की प्रवृत्तियों का कालक्रमानुसार प्रामाणिक कथन है तथा राजा, राज्य तथा उनकी राजधानियों के नामों के उल्लेख से यह एक **इतिहासग्रन्थ** भी है। पौराणिक कथाओं के चित्रण/वर्णन से **पुराण** के वैशिष्टय से युक्त होकर भी यह **पुरातात्त्विक प्रवृत्तियों** का भी प्रदर्शक है। गृहस्थ और मुनिधर्मों के स्वरूप के साथ–साथ ब्राह्मण के कर्तव्याकर्तव्यों का विशद विवेचन होने से यह **धर्मशास्त्र** भी है। अनेकान्तवाद, स्याद्वाद, सर्वज्ञता की सिद्धि तथा विभिन्न दार्शनिकों के मतों का खण्डन और जिनमत के मंडन होने से यह **न्यायशास्त्र** की भूमिका भी निभाता है। अनेक शब्दों का संकलन/प्रयोग होने से यह **शब्दशास्त्र** भी है। (वीरोदय महाकाव्य प्रस्तावना – पृ. 2)

इस महाकाव्य के नायक जैनाभिमत 24वें तीर्थंकर भगवान महावीर हैं जो धीरोदात्त, दयावीर और धर्मवीर हैं। जैनधर्म में वीरपूजा की मान्यता है। जनसामान्य की रूचि के संवर्द्धक–पोषक सर्वाधिक प्रभावक व्यक्तित्व के धनी लोककल्याणकारी महापुरूष **वीर** कहलाते हैं। तीर्थंकर महावीर ऐसे ही प्रभावक व्यक्तित्व के धनी, लोककल्याण की भावना से ओतप्रोत, दया की प्रतिमूर्ति, धर्मचक्र प्रवर्तक, लोकोत्तर महापुरूष थे। महाकवि आचार्यश्री ज्ञानसागर जी ने इन्हीं वीरप्रभु के चरित्र को अपने इस महाकाव्य का विषय बनाया है।

पुरूरवा भील की पर्याय से महावीर तक के अनेक भवों का इसमें चित्रण है। सिंह पर्याय से उत्तरोत्तर जीवन की आध्यात्मिक प्रगति को प्रस्तुत कर पशु से परमात्मा बनने का पथ–प्रशस्त किया है। तप और ज्ञान के बल से आत्मोन्नति को दर्शाकर सभी संसारियों को आत्मजागृति कर आत्मोन्नयन की प्रेरणा दी है। ऐसे वीरगाथात्मक चरित्र ही लोकरूचि के विषय बनते हैं। इस महाकाव्य में वीर के उदय– (महावीर की आध्यात्मिक उन्नति) का चित्रण है। अतः यह महाकाव्य अपने नाम की सार्थकता (वीर का उदय = वीरोदय) व्यक्त करता है।

इन्हीं लोकोत्तर महापुरूष श्री वीरप्रभु के चरित्र की समीक्षा हेतु इस **"वीरोदय"** महाकाव्य का चयन विदुषी लेखिका **श्रीमती कामिनी जैन जयपुर** ने किया है। उनका विषय है – **"वीरोदय महाकाव्य एवं भगवान महावीर के चरित्र का समीक्षात्मक अध्ययन।"** उदयपुर विश्वविद्यालय के **प्रो. डॉ. श्री प्रेमसुमन** जैनवाङ्मय के अध्येता मनीषी विद्वान हैं, जिनके कुशल मार्गदर्शन में विदुषी महिला श्रीमती कामिनी जैन ने शोध एवं अनुसंधान के उच्च मानदण्डों के अनुरूप यह शोध–प्रबन्ध लिख कर पी.एच.डी. की उपाधि प्राप्त की है और महिला–समाज के गौरव को बढ़ाया है। श्रीमती जैन एक साहित्यिक रूचि–सम्पन्न विदुषी महिला हैं, जिन्होंने इस शोधप्रबन्ध के पूर्व भी साहित्य सृजन किया है। (1) अविवेक की आँधी (2) समाज का दर्पण (3) चेतना का जागरण (4) संयमवाणी जैसे शिक्षाप्रद प्रेरणादायी प्रभावी एकांकियों की रचना की है

तथा अनेक कविता–कहानियों को लिखकर हिन्दी साहित्य के भण्डार को भरा है। इसके साथ ही अब इस 20वीं सदी के कविकुलगुरू अनेक काव्यों के प्रणेता स्वनामधन्य पं. श्री भूरामल जी शास्त्री (आ. श्री ज्ञानसागर जी) द्वारा रचित इस **वीरोदय महाकाव्य** पर यह शोध प्रबन्ध लिखकर "डाक्टरेट" की उपाधि पायी है। निःसन्देह श्रीमती कामिनी जैन साहित्य–सृजन एवं शोध–खोज की गहरी रूचि सम्पन्न मेधावी महिला हैं। भविष्य में साहित्य जगत को इनसे बहुत आशाएँ–अपेक्षाएँ हैं। इनके उज्जवल भविष्य की हम कामना करते हैं।

इनका यह शोध–प्रबन्ध 6 अध्यायों के 23 परिच्छेदों में विभक्त है। पहले–दूसरें में पांच–पांच, तीसरे में चार और चौथे, पांचवें तथा छठे अध यायों में तीन–तीन परिच्छेद हैं, जिनमें वर्णित विषय को लेखिका ने ग्रन्थारम्भ में **प्राक्कथन** में तथा ग्रान्थान्त के **उपसंहार** में दे दिया है। इसकी सूची भी प्रारम्भ में दी गई है। अतः यहां इसका उल्लेख नहीं किया जा रहा है।

इस शोध प्रबन्ध के अनुशीलन एवं अन्तःपरीक्षण से ज्ञात होता है कि इसके लेखन में विदुषी लेखिका ने अथक परिश्रम किया है। आ. श्री ज्ञानसागर जी के समग्र साहित्य के गहन अनुशीलन के साथ–साथ शताधिक अन्यान्य सन्दर्भ–ग्रन्थों, पत्र–पत्रिकाओं और कोश–ग्रन्थों को देखा–परखा–समझा है, अध्ययन–मनन किया है। ग्रन्थान्त में सन्दर्भ ग्रन्थों पत्र–पत्रिकाओं एवं कोश–ग्रन्थों की सूची दी गई है। इस शोध प्रबन्ध के सन्दर्भों का सत्यापन कर संशोधन कर दिया गया है तथापि अध याय 5 के कुछेक सन्दर्भों (अ. 5 परिच्छेद। सन्दर्भ– 3, 8, 13) का सत्यापन अभी भी अपेक्षित है।

लेखिका के मन्तव्य एवं विचारों को सुरक्षित रखते हुये कुछ स्थानों पर विषय के समायोजन, भाषा के परिमार्जन तथा पुनरावृत्त कतिपय अंशों को हटाने से एवं लीडिंग कम करने, शब्द का आकार छोटा करने से मूल काव्यप्रबन्ध के आकार में लघुता आयी है। कहीं–कहीं सन्दर्भानुसार कुछ अंश जोड़े भी गये हैं।

शब्द संकलन शब्द मीमांसा – आचार्य श्री ज्ञानसागर जी एक अच्छे शब्दशास्त्री और व्याकरणवेत्ता भी थे। यही कारण है कि उन्होंने नये–नये शब्दों का सृजन कर अपने काव्यों में प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त अनेक भाषाओं (हिन्दी / उर्दू / फारसी / अँग्रेजी) के प्रचलित–अप्रचलित देशज तथा तद्भव आदि शब्दों का प्रयोग भी यथास्थान अपनी रचनाओं में किया है। समसामयिक प्रचलित शब्दों / समस्याओं / घटनाओं / राजनेताओं / महापुरूषों / प्राचीन आचार्यों / सुप्रसिद्ध प्राचीन रचनाओं आदि का उल्लेख भी अपनी कृतियों में जहाँ–तहाँ प्रसंगानुसार किया है। अनेक शब्दों के अर्थ भी व्यूत्पत्तिपूर्वक प्रस्तुत किये हैं। लोक प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भी इनके काव्यों में यत्र तत्र अवलोकनीय है। वीरोदय महाकाव्यगत ऐसे कतिपयय शब्दों, लोकाक्तियों आदि का संकलन कर शोध–प्रबन्ध के अन्त में एक परिशिष्ट में दिया गया है।

1. रोटिकां मोटयितुं हि शिक्षते / श्मश्रूं स्वकीयां बलयन् / न कोऽपि कस्यापि वभूव वश्यः।
2. तेलफुलेलादि / मखमलोत्तूलशयनात् / झलंझलावशीभूतः / गल्लकफुल्लका / तूलकुथो।
3. लोपी / निगले / गलालंकरणाय / नौका–मौका / नेक / वार्दल / पुच्छ / खट्टिक / बेरदलम्।
4. सत्याग्रह / असहयोग / वहिष्कार / महात्मा / स्वराज्यप्राप्तये।
5. देवागम / आप्तमीमांसा।
6. समन्तभद्र / पूज्यपाद / प्रभाचन्द्र / अकलंक / नेमिचन्द्र / शुभचन्द्र / चामुण्डराय / नागार्जुन / पाण्डव / भीष्मपितामह / सुदामा।
7. आ. श्री के समग्र साहित्य से ऐसे शब्दों का संकलन / मीमांसा / व्याख्या आदि भी अन्वेषणीय है जो किसी व्याकरणवेत्ता विद्वान द्वारा पृथक् से अनुसन्धेय है।

सूक्तियों का समावेश – आचार्यश्री के साहित्य में यत्रतत्र सूक्तियाँ भी समाविष्ट हैं, जो बड़ी मार्मिक प्रभावी शिक्षाप्रद, मानर्नीय–पालनीय–गृहणीय हैं। वीरोदय महाकाव्य से ऐसी कतिपय सूक्तियों का संकलन कर परिच्छेदों के अन्त में रिक्त स्थानों में इन्हें अर्थ सहित समायोजित कर दिया है ताकि पाठक इनसे भी सत्प्रेरणा लेकर आत्मोन्नयन कर सकें।

परमपूज्य गुरूवर्य मुनिश्री 108 श्री सुधासागर जी महाराज द्वारा सौंपे गये इस उत्तरदायित्व को वहन करने की यद्यपि मुझमें सामर्थ्य नहीं थी। (वैसे भी किसी भी ग्रन्थ का सम्पादन सहज कार्य नहीं होता।) तथापि पूज्य गुरूवर्य के आदेश को शिरोधार्य कर इस दायित्व का निर्वहन किया है और उन्हीं के शुभाशीर्वाद एवं कृपा से इसे पूर्ण किया है। इस दायित्व के निर्वहन में हम कहाँ तक सफल हो सके हैं ? इसका परीक्षण पूज्य गुरूदेव एवं अन्य मनीषियों पर निर्भर है। जो भी ठीक बन पड़ा हो, उसे पूज्य गुरूदेव की कृपा एवं आशीर्वाद का ही प्रतिफल समझिए तथा कमी एवं त्रुटियों में हमारी अज्ञानता एवं प्रमाद को कारण मानिये। तदर्थ हम क्षमाप्रार्थी हैं और प्रबुद्धजनों से उनका परिमार्जन प्रार्थनीय है।

परमपूज्य गुरूवर्य श्री सुधासागर जी महाराज के श्रीचरणों में कोटिशः नमन।

श्री महावीर जयन्ती –

चैत्र शुक्ला, त्रयोदशी। वीर निर्वाण संवत् 2531।

विक्रमसंवत् 2062/दिनांक 22 अप्रैल 2005, शुक्रवार।

अभयकुमार जैन, प्राचार्य (सेवानिवृत्त)

एम.ए., बी.एड., साहित्यरत्न, साहित्याचार्य

जैनदर्शनाचार्य, प्राकृताचार्य

सम्पादक

समर्पण सुमन

विश्ववन्द, जगदुपकारी, भव्य जीवों के हृदय सम्राट, संतशिरोमणि, अध्यात्म रसासिक्त, महान् दार्शनिक, तत्वानुवेषी, दिगम्बराचार्य 108 श्री विद्यासागरजी महाराज के सुयोग्य शिष्य, श्रमण संस्कृति के उन्नायक, साधना पथ के पथिक, तीर्थ क्षेत्रों के जीर्णोद्धारक, सतपथ प्रशस्ता, जैन संस्कृति के परम संरक्षक, प्रखर मेधा सम्पन्न, गुरु आज्ञा में पूर्ण निष्ठावान, तपोमूर्ति, आचार्यश्री ज्ञानसागरजी महाराज के सकल वाङ्मय को संगोष्ठियों व शोधात्मक कार्यों द्वारा जन–जन में समाहित करने वाले आगम प्रभावक, नैतिक व चारित्रिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने वाले, ओजस्वी वक्ता, प्रवचन प्रवीण, आध्यात्मिक संत 108 मुनिश्री सुधासागरजी महाराज की प्रेरणा और आशीर्वाद के फलस्वरूप यह कृति प्रस्तुत हो सकी है।

माँ भारती के तपःपूत परमवन्दीय पूज्य मुनिश्री सुधासागरजी महाराज के करकमलों में विनम्र प्रणतिपूर्वक यह कृति सादर समर्पित–

श्रद्धान्विता

डॉ. कामिनी जैन "चैतन्य"

जयपुर

कृति–निधि

संस्कृति व साहित्य वैदिक युग से प्रभावित होकर, ज्ञान मन्दाकिनी अपनी अबाधगति से बहती हुई जिस प्रकार कवि कालिदास, वाणभट्ट, श्रीहर्ष, भारवि, माघ आदि कवियों को अपने अतुल वैभव से रसासिक्त करती हुई, अपनी कमनीयता को साहित्य धरातल पर उकेरती हुई, सरस, सुबोध व जन–जन के लिए सुग्राहय बनी उसी प्रकार बीसवीं सदी के अग्रगण्य काव्याचार्य, महाकाव्य प्रणेता आचार्य ज्ञानसागरजी महाराज के जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, भद्रोदय व दयोदय चम्पू जैसे महाकाव्यों की ज्ञान ज्योति, नवीनतम प्रकाशपुञ्ज की भाँति आलोकित करने की दिव्यदृष्टि परमपूज्य 108 मुनि पुंगव श्री सुधासागरजी महाराज ने दी; पूज्य मुनिश्री की प्रेरणा व आशीर्वाद से उक्त साहित्य पर विभिन्न विषयों को लेकर शोध–कार्य हुए। विषय की व्यापकता और उपादेयता और महत्व से सम्प्रेरित होकर मैंने वीरोदय महाकाव्य को ही अपनी पीएच.डी. उपाधि हेतु विषय चुना।

"वीरोदय महाकाव्य एवं भगवान महावीर के जीवन चरित का समीक्षात्मक अध्ययन" विषय पर मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर में प्रो. डॉ. प्रेमसुमन जैन के निर्देशन में शोध कार्य की प्रायोजना इस प्रकार तैयार की।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध को छह अध्यायों में विभक्त किया गया है। प्रथम अध्याय में 'प्राकृत संस्कृत एवं अपभ्रंश में चरितकाव्य की परम्परा में वर्णित तीर्थंकर परम्परा और भगवान महावीर के विषय में विशेष विवेचना की गई है। द्वितीय अध्याय में आचार्य ज्ञानसागर और उनके काव्यों की समीक्षा की गई है। तृतीय अध्याय में वीरोदय का स्वरूप तथा भगवान महावीर का समग्र जीवन दर्शन दर्शाया गया है। चतुर्थ अध्याय में वीरोदय का काव्यात्मक मूल्यांकन तथा पंचम अध्याय में वीरोदय महाकाव्य का सांस्कृतिक एवं सामाजिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। छठे अध्याय में वीरोदय महाकाव्य में वर्णित भगवान महावीर के सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अन्त में विषय–वस्तु के आधार पर प्राप्त निष्कर्षो को उपसंहार के अन्तर्गत आंकलन किया गया है।

इस शोध प्रबन्ध की रूपरेखा को मुनिश्री ने देखकर आशीर्वाद दिया। मेरा पुण्ययोग ही था कि शोध–कार्य के लिए पूज्य मुनिश्री सुधासागरजी महाराज का आशीर्वाद मिला तथा संघस्थ क्षु. श्री गम्भीरसागर जी महाराज, क्षु. श्री धैर्यसागर जी महाराज, ब्र. संजय भैया जी ने प्रोत्साहित किया।

पूज्य मुनिश्री के चरणों में विनम्र नमोस्तु एवं क्षुल्लकद्वय को इच्छामि व संजय भैया को जय–जिनेन्द्र निवेदित करती हूँ। प्राकृत विभाग, मानविकी संकाय, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर के विशिष्ट सम्मानित प्रो. प्रेमसुमन जैन के पूर्ण सहयोग एवं स्नेह के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। साथ ही डॉ. सा. की धर्मपत्नी श्रीमती डॉ. सरोज जैन एवं डॉ. उदयचन्द जैन, डॉ. हुकमचन्द जैन, डॉ. कमलचन्द्र सौगाणी, प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द जैन, डॉ. पी.सी. जैन, डॉ. विमलकुमार जैन, डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन आदि विद्वज्जनों का समय–समय पर मार्गदर्शन मिला रहा, अस्तु इनके प्रति आभारी हूँ।

मेरे अनुसंधेय विषय को पूर्ण करने में, मेरे पति डॉ. सनतकुमार जैन प्रवक्ता श्री दिगम्बर जैन आचर्य संस्कृत महाविद्यालय सांगानेर, जयपुर का आद्यन्त सहयोग प्राप्त हुआ, इनके प्रति आभार व्यक्त करती हूँ। पुत्र निश्चल जैन बी.ई. इलेक्ट्रोनिक्स इंजीनियर तृतीय वर्ष के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता। आगे बढ़ने की प्रेरणा और आशीर्वाद से उपकृत मैं अपने पिता श्री अमरनाथ जैन, माता श्रीमती धनवन्ती देवी जैन के प्रति भी श्रद्धावनत हूँ तथा उन सभी विद्वज्जनों के प्रति कृतज्ञ हूँ जिनका शोधकार्य में प्रत्यक्ष व परोक्ष रूप में सहयोग प्राप्त हुआ है। साथ ही शास्त्रकारों, शास्त्रभण्डारों, प्रकाशकों के सहयोग के प्रति आभार व्यक्त करती हूँ।

परमपूज्य मुनिश्री 108 सुधासागरजी महाराज जिन्हें यह ग्रन्थ समर्पित किया गया है, के पूर्ण आशीर्वाद का परिणाम है। "वीरोदय महाकाव्य एव भगवान महावीर के जीवन चरित का समीक्षात्मक अध्ययन" कृति मुनिश्री की कृपा से आपके हाथ में है। उनके ज्ञान, ध्यान और तपोमय जीवन को मेरी श्रद्धा और भक्ति समर्पित है।

श्रद्धान्विता

डॉ. कामिनी जैन "चैतन्य"

जयपुर

विषयानुक्रमणिका

क्रम. सं.	पृष्ठ संख्या
प्रकाशकीय	(i) - (iv)
प्राक्कथन	(v) - (viii)
सम्पादकीय	(ix) - (xiv)
कृति निधि	(xvii) - (xviii)

प्रथम अध्याय 1 - 38

श्रमणधर्म में तीर्थंकर परम्परा और भ. महावीर तथा महावीर चरित–साहित्य का विकास और महत्त्व

परिच्छेद – 1 श्रमण धर्म और तीर्थंकर परम्परा

परिच्छेद – 2 प्राकृत काव्यों में महावीर चरित–परम्परा

परिच्छेद – 3 संस्कृत काव्यों में महावीर चरित–परम्परा

परिच्छेद – 4 अपभ्रंश साहित्य में महावीर चरित–परम्परा

परिच्छेद – 5 महावीर चरित साहित्य का विकास और महावीर चरित का महत्त्व

द्वितीय अध्याय 39 - 90

आचार्यश्री ज्ञानसागर जी और उनके महाकाव्यों की समीक्षा

परिच्छेद – 1 आचार्यश्री ज्ञानसागर का व्यक्तित्व एवं कृतित्व

परिच्छेद – 2 जयोदय महाकाव्य की समीक्षा

परिच्छेद – 3 सुदर्शनोदय महाकाव्य की समीक्षा

परिच्छेद – 4 भद्रोदय महाकाव्य की समीक्षा

परिच्छेद – 5 दयोदय की कथावस्तु की प्राचीनता एवं वैशिष्ट्य तथा अहिंसाव्रत की उपादेयता

तृतीय अध्याय 91 - 180

वीरोदय का स्वरूप

परिच्छेद – 1 (क) वीरोदय महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय

(ख) महावीर के जन्म के पूर्व भारत की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति

(ग) महावीर के पूर्वभवों का वर्णन

(घ) महावीर का समग्र जीवन–दर्शन

परिच्छेद – 2 (क) भ. महावीर के उपदेशों का तात्कालिक राजाओं पर प्रभाव

(ख) गृहस्थधर्म और मुनिधर्म का वर्णन

परिच्छेद – 3 (क) समोशरण की रचना और उसका वैशिष्ट्य

(ख) दिव्यध्वनि का प्रभाव

(ग) सिद्धान्तों की प्ररूपणा

परिच्छेद – 4 (क) सर्वज्ञता की सिद्धि

(ख) भ. महावीर का मोक्ष–गमन

(ग) पौराणिक आख्यानों का दिग्दर्शन

चतुर्थ अध्याय 181 - 244

वीरोदय का काव्यात्मक मूल्यांकन

परिच्छेद – 1 कवि की काव्यात्मकता, काव्य के प्रमुख अंग और वीरोदय में छन्द प्रयोग

परिच्छेद – 2 वीरोदय में अलंकार एवं रस प्रयोग

परिच्छेद – 3 वीरोदय की भाषा शैली तथा अन्य काव्यों से तुलना

पंचम अध्याय 245 - 288

वीरोदय महाकाव्य का सांस्कृतिक एवं सामाजिक विवेचन

परिच्छेद – 1 **सांस्कृतिक एवं सामाजिक चित्रण** – वीरोदय में वर्णित भारतीय संस्कृति/वर्णव्यवस्था/परिवार/समाज/सामाजिक संगठन/नीतिगत व्यवस्था/राजनैतिक व्यवस्था/दण्ड व्यवस्था/आर्थिक व्यवस्था/सांस्कृतिक व्यवस्था/समाज में अनुशासन/सामाजिक रीति–रिवाज/समानता व समता का महत्त्व/मन्त्र एवं

अन्धविश्वास/श्रमणों की ऋद्धियाँ एवं विद्याएँ/गणधर/शकुन/वेशभूषा/रहन–सहन पद्धति

परिच्छेद – 2 धार्मिक अनुष्ठान एवं शिक्षा – वीरोदय में व्रत, उपवास एवं तपों का वर्णन/शिक्षा व शिक्षा–पद्धति/गुरू–शिष्य सम्बन्ध/दया एवं सहिष्णुता का चित्रण

परिच्छेद – 3 कला चित्रण – व्यक्ति चित्र एवं प्रतीक चित्र/चित्रकला–मूर्तिकला–स्थापत्य कला का चित्रण

षष्ठ अध्याय **289 - 326**

भगवान महावीर के सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन

परिच्छेद – 1 धर्म का स्वरूप एवं महत्त्व

परिच्छेद – 2 देव–शास्त्र–गुरू का स्वरूप एवं भक्ति/रत्नत्रय का स्वरूप/निश्चय/व्यवहार मोक्षमार्ग/पुण्य–पाप एवं कर्म सिद्धान्त की विवेचना

परिच्छेद – 3 सदाचार एवं शाकाहार जीवन–शैली – वीरोदय के सन्दर्भ सहित शाकाहार का महत्त्व एवं पुरूषार्थ चतुष्टय का विवेचन

उपसंहार **327 - 332**

परिशिष्ट **333 - 336**

सहायक ग्रन्थसूची **337 - 341**

कोशग्रन्थ सूची एवं पत्र–पत्रिकाओं की सूची **342**

❑❑

अध्याय – 1
श्रमणधर्म में तीर्थंकर परम्परा और भगवान महावीर तथा महावीर चरित साहित्य का विकास और महत्व

परिच्छेद – 1

श्रमण धर्म और तीर्थंकर परम्परा

श्रमणधर्म

जैनधर्म आत्म–दर्शन के रूप में उस समय से प्रतिष्ठित रहा है, जब से आत्म–विजय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ हुआ। वेदत्रयी के परवर्ती साहित्य में जिन और जैनमत के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं। इस काल में आकर लोग इस धर्म को जैनधर्म और इसके पुरस्कर्त्ताओं को 'जिन' नाम से व्यवहृत करने लगे थे, योगवाशिष्ठ[1] श्रीमद्भागवत[2] विष्णुपुराण[3], शाकटायन व्याकरण[4], पद्मपुराण[5] मत्स्यपुराण[6] आदि में जिन, जैनधर्म आदि नामों से उल्लेख मिलता है। प्राचीन साहित्य में जैनधर्म के लिये 'श्रमण'–शब्द का भी प्रयोग मिलता है। दशवैकालिक–सूत्र की 173 टीका में आचार्य हरिभद्रसूरि ने 'श्रमण'–शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है– **'श्राम्यन्तीति श्रमणाः तपस्यन्ते इत्यर्थः'**। अर्थात् जो श्रम करता है, कष्ट सहता है, तप करता है, वह श्रमण है।

श्रीमद्भागवत में श्रमणों की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि जो वातरशन उर्ध्वमन्थी श्रमण मुनि हैं, वे शान्त, निर्मल, सम्पूर्ण परिग्रह से सन्यस्य ब्रह्मपद को प्राप्त करते हैं। **'श्रमणाः दिगम्बराः श्रमणाः वातरशनाः'** "श्रमण" दिगम्बर निर्ग्रन्थ मुनियों को कहा जाता था। भारत में श्रमणों का अस्तित्व अति प्राचीनकाल से पाया जाता है। **डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल** के अनुसार 'श्रमण–परम्परा के कारण ब्राम्हण–धर्म में वानप्रस्थ और सन्यास को प्रश्रय मिला।[7] जैनधर्म में श्रमण और व्रात्य शब्दों के समान

'आर्हत्' शब्द का प्रयोग भी अति प्राचीनकाल से होता आया है। **श्रीमद्भागवत्** में तो 'आर्हत्'–शब्द का प्रयोग कई स्थानों पर हुआ है। एक स्थान पर भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में लिखा है – "तपाग्नि से कर्मों को नष्टकर वे सर्वज्ञ 'अर्हत्' हुए और उन्होंने 'आर्हत्'–मत का प्रचार किया।[8]

मोहनजोदड़ों में कुछ मुहरें ऐसी मिली हैं, जिन पर योग–मुद्रा में योगी–मूर्तियां अंकित हैं। उनके सिर पर त्रिशूल है और चरणों में एक भक्त करबद्ध नमस्कार कर रहा है। उस भक्त के पीछे वृषभ खड़ा है। योगी के इस परिवेश और परिकर को आदि तीर्थंकर भ. वृषभदेव के परिप्रेक्ष्य में जैनशास्त्रों के विवरण से तुलना करने पर उनमें अत्यन्त साम्य दृष्टिगत होता है।

प्रसिद्ध विद्वान **श्री रामधारीसिंह दिनकर**[9] इसी बात की पुष्टि करते हुए लिखते हैं–

'मोहन जोदड़ों की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं, वे जैनधर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के हैं जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे कालान्तर में वह शिव के साथ सम्बन्धित थी। डॉ. एम. एल. शर्मा[10] लिखते हैं– 'मोहनजोदड़ों से प्राप्त मुहर पर जो चित्र अंकित है, वह भगवान ऋषभदेव का है। यह चित्र इस बात का द्योतक है कि आज से पांच हजार वर्ष पूर्व योगसाधना भारत में प्रचलित थी और उसके प्रवर्त्तक जैनधर्म के आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे।

तीर्थंकर–परम्परा

जैनधर्म में मान्य तीर्थंकरों का अस्तित्व वैदिक काल के पूर्व भी विद्यमान था। उपलब्ध पुरातत्व संबंधी तथ्यों के निष्पक्ष विश्लेषण से यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है कि तीर्थंकरों की परंपरा अनादिकालीन है। वैदिक वाङ्मय में वातरशना मुनियों, केशीमुनि और व्रात्य क्षत्रियों के उल्लेख आये हैं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि पुरूषार्थ पर विश्वास करने वाले धर्म के प्रगतिशील व्याख्यता तीर्थंकर प्राग्–ऐतिहासिक काल में भी विद्यमान थे। वैदिक संस्कृति में ही वेदों को सर्वोपरि महत्त्व देकर

मानव–ज्ञान की पूर्ण प्रतिष्ठा नहीं हुई है, अपितु श्रमण–संस्कृति में भी वीतरागी, हितोपदेशी और सर्वज्ञ तीर्थंकर की प्रतिष्ठा कर मानवता को महत्त्व दिया गया है।

तीर्थंकरः व्युत्पत्ति

"तीर्थं" का अर्थ 'पुल' या 'सेतु' है। कितनी ही बड़ी नदी क्यों न हो, सेतु द्वारा निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमता से पार कर सकता है। तीर्थंकरों ने संसार–रूपी सरिता को पार करने के लिये धर्म–शासन रूपी सेतु का निर्माण किया है। 'तीर्थ'–शब्द 'घाट' अर्थ में भी व्यवहृत है। जो घाट के निर्माता हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। सरिता को पार करने के लिये घाट की भी सार्वजनीन उपयोगिता स्पष्ट है।

आगम बतलाता है कि अतीत के अनन्तकाल में अनन्त तीर्थंकर हुये हैं। वर्तमान में ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थंकर हुये हैं और भविष्य में भी चतुर्विंशति तीर्थंकर होंगे। प्रसिद्ध दार्शनिक विद्वान **डॉ. राधाकृष्णन्** का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है, "ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था"। **"यजुर्वेद** में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीनों तीर्थंकरों के नामों का निर्देश है। **भागवत पुराण** भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे। विश्व के प्राचीन वाङ्मय में ऋषभदेव का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उसकी एक ऋचा में आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का उल्लेख आया है।

'ऋषभं मा समानानां सपत्नानां विषासहिम्।
हंतारं शत्रुणां कृधि विराजं गोपितं गवाम्।।"
– ऋग्वेद 10,166,1।

यजुर्वेद और **अथर्ववेद** में भी ऋषभदेव का उल्लेख है। श्रीमद् भागवत में विष्णु के चौबीस अवतारों में एक ऋषभावतार भी स्वीकृत किया गया है, जिससे आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव की ऐतिहासिकता भी सिद्ध होती है।

आचार्यकल्प पंडित टोडरमल जी ने अपने **'मोक्षमार्ग प्रकाशक'** में बताया है कि प्रथम तीर्थंकर ऋषभ, द्वितीय अजित, सप्तम् सुपार्श्व, 22वें अरिष्टनेमि और 24वें महावीर का उल्लेख यजुर्वेद में है। डॉ. विसेन्ट ए. स्मिथ के अनुसार मथुरा संबंधी अन्वेषणों से यह सिद्ध है कि जैन धर्म के तीर्थंकरों का अस्तित्व ई. सन् से पूर्व में भी विद्यमान था। ऋषभादि 24 तीर्थंकरों की मान्यता सुदूर प्राचीनकाल में पूर्णतया प्रचलित थी।[11] उनमें से निम्न तीर्थंकरों के विशेष वर्णन उपलब्ध हैं–

तीर्थंकर नमि

अनासक्ति योग के प्रतीक 21वें तीर्थंकर नमिनाथ हैं। ऋषभदेव के अनंतर नमिनाथ का जीवनवृत्त जैनेत्तर साहित्य में उपलब्ध होता है। नमि मिथिला के राजा थे और उन्हें हिन्दू पुराणों में जनक के पूर्वज के रूप में माना गया है। नमि तीर्थंकर ई. सन् से सहस्रों वर्ष पूर्व हुये हैं।

तीर्थंकर नेमिनाथ

22वें तीर्थंकर **नेमिनाथ** का वर्णन जैनग्रंथों के अलावा ऋग्वेद, महाभारत आदि ग्रंथों में भी पाया जाता है। ये यदुवंशी थे। इनके पिता का नाम समुद्र विजय था। ये कृष्ण के चचेरे भाई थे। नेमिनाथ का समय महाभारत काल है। यह काल ई. पूर्व 1000 के लगभग माना गया है।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ

23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म बनारस के राजा **अश्वसेन** और उनकी रानी **वामादेवी** से हुआ था। इन्होंने तीस वर्ष की अवस्था में गृह त्याग कर सम्मेदशिखर पर तपस्या की थी। यह पर्वत अभी भी पार्श्वनाथ पर्वत के नाम से प्रसिद्ध है। पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान प्राप्त कर 70 वर्षों तक श्रमण–धर्म का प्रचार किया। जैन पुराणों के अनुसार पार्श्वनाथ का निर्वाण तीर्थंकर महावीर के निर्वाण से 250 वर्ष पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व 527+250 त्र 777 ईसा पूर्व में हुआ था। पार्श्वनाथ का श्रमण–परंपरा पर गंभीर प्रभाव है। **डॉ. श्री हीरालाल जैन** ने लिखा है– बौद्ध ग्रंथ **'अंगुत्तरनिकाय'**, **'चत्तुक्कनिपात'**, (बग्ग 5) और उसकी **'अट्ठकथा'** में उल्लेख है कि गौतम बुद्ध का चाचा (वप्प शाक्य) निर्ग्रन्थ श्रावक था।

पार्श्वापत्यों तथा निर्ग्रन्थ श्रावकों के इसप्रकार के और भी अनेक उल्लेख मिलते हैं, जिनसे निर्ग्रन्थ धर्म की सत्ता बुद्ध से पूर्व भलीभाँति सिद्ध हो जाती है।[12]

तीर्थंकर महावीर

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के 250 वर्ष पश्चात् प्रगतिशील परंपरा के संस्थापक 24वें तीर्थंकर महावीर हुये हैं। तीर्थंकरों की यह परंपरा वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य का अन्वेषण करने वाली एक प्रमुख परंपरा रही है। महावीर धर्म–प्रवर्त्तक ही नहीं, बल्कि महान लोकनायक, धर्मनायक, क्रांतिकारी सुधारक, सच्चे पथ प्रदर्शक और विश्व बंधुत्व के प्रतीक थे। इस प्रकार इस युग की तीर्थंकर–परम्परा की अंतिम कड़ी भगवान महावीर हैं। महावीर ने जन–जन को तो उन्नत किया ही, साथ ही उन्होंने साधना का ऐसा मार्ग प्रशस्ति किया जिस मार्ग पर चलकर सभी व्यक्ति सुख और शांति प्राप्त कर सकते है।[13]

कुण्डलपुर के राजा सिद्धार्थ की रानी त्रिशला ने चैत्र शुक्ल त्रयोदशी को एक तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया सर्वगुण सम्पन्न बालक की वरीयता को परख सिद्धार्थ व त्रिशला ने अत्यधिक आह्लादित हो समृद्धि के सूचक वर्द्धमान नाम से अलंकृत किया। वर्धमान का लालन–पालन राजपुत्रोचित रूप से होने लगा। उनकी छवि जहां सबका मन मोह लेती थी, वहीं असाधारण प्रतिभा से भी लोग प्रभावित होते थे। वर्द्धमान को कलाचार्य के पास विद्याध्ययन हेतु भेजा गया, किन्तु वे तो सभी कलाओं के ज्ञाता थे।

वर्द्धमान जब लगभग 8 वर्ष के थे तब वे अपने साथियों के साथ प्रमद–वन में क्रीडा करने ाये। यह खेल वृक्ष को लक्ष्य करके खेला जा रहा था। जब वे अपने साथियों के साथ खेल रहे थे, तभी इन्द्र द्वारा ेरित संगम देव उनकी परीक्षा करने आया। सब लड़के तो फुफकारते हुये सर्प को देखकर भाग गये, किन्तु वर्द्धमान जरा भी विचलित नहीं हुये और अपने साथियों के भय का दूर करने के लिये सर्प को पकड़कर दूर हटा दिया। वर्द्धमान के पराक्रम व साहस को देखकर उस संगम देव ने उन्हें

'वीर' नाम से अलंकृत किया। मदोन्मत हाथी को वश में करने के कारण 'अतिवीर' तथा समींचीन बुद्धि के कारण 'सन्मति' और कर्म–शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण वे महावीर भी कहलाये।

बालक वर्द्धमान में यौवन के साथ–साथ अध्यात्म के बीजरूपी सत्य, अहिंसा, अस्तेय, के अंकुर भी प्रारंभ से ही प्रादुर्भूत होने लगे थे। राजा सिद्धार्थ व रानी त्रिशला महावीर के विवाह के स्वप्न संजोये थे; परन्तु उनकी प्रवृत्ति भोगों की ओर नहीं थी। वे प्रायः एकान्त में बैठकर संसार के स्वरूप पर गहन विचार किया करते और आत्म चिन्तन में लीन हो जाते थे। अतः उनकी चिन्तन धारा ने उन्हें भोगों के प्रति उदासीन बना दिया।

30 वर्ष के यौवन काल में **महावीर** ने दीक्षा ग्रहण की। एक दिन वे आत्म चिन्तन में निमग्न थे। उन्होंने अवधि ज्ञान से अपने पूर्वभवों को देखा और विचार किया कि अब मुझे आत्म–कल्याण का मार्ग खोजना है और आत्मसाधना द्वारा आत्मसिद्धि का लक्ष्य प्राप्त करना है। बारह वर्षों तक कठोर तप करते रहे। अन्त में जृम्भिक ग्राम के बाहर ऋजुकूला नदी के तट पर मनोरम वन में शालवृक्ष के नीचे एक शिला पर प्रतिमायोग से ध्यानारूढ़ हो गये। उनका सम्पूर्ण उपयोग आत्मा में केन्द्रित हो गया और वैशाख शुक्ल दशमी को पावन अपरान्ह समय में फाल्गुनी नक्षत्र में केवलज्ञान को प्राप्त किया। चारों जाति के देव और इन्द्रों ने श्रद्धा–भक्ति–पूर्वक भगवान की स्तुति की और केवलज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाया। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुवेर ने समवशरण की रचना की। भगवान महावीर लोकात्तर महापुरूष थे। उनके व्यक्तित्व और देशना का प्रभाव निर्धन से लेकर राजमहलों तक समान रूप से पड़ा। भ. महावीर की अहिंसा और जीवन–सिद्धान्तों से प्रभावित होकर वैदिक ब्राम्हणों को यज्ञादि का रूप बदलना पड़ा। इस प्रकार लोक–जीवन पर भगवान महावीर का आलौकिक प्रभाव पड़ा। सारा देश महावीर के जय–घोषों से गूँज उठा।

सन्दर्भ –

1. योगवाशिष्ठ, अ.–15, श्लोक–8।
2. श्रीमद्भागवत, 5/5।
3. विष्णुपुराण, 2/1।
4. शाकटायन–अनादि सूत्र 289 पाद–3।
5. पद्मपुराण (व्यंकटेश प्रेस), पृ. 13।
6. मत्स्यपुराण, अ.–24, श्लोक–54–55।
7. प्राक्कथन, जैन साहित्य का इतिहास, पृ.–13।
8. श्रीमद्भागवत, 5/6।
9. ले. बलभद्र जैन, जैनधर्म का प्रा. इतिहास, भाग–1, पृ.–12।
10. भारत में संस्कृति एवं धर्म, पृ.–20।
11. द. जैनस्तूप–मथुरा, प्रस्तावना, पृ.–6।
12. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, सन् 1962, पृ.–21।
13. तीर्थंकर महावीर और उनकी देशना, पृ.–21।

परिच्छेद–2

प्राकृत काव्यों में वर्णित चरित–परम्परा

प्राकृत–साहित्य का प्रादुर्भाव धार्मिक क्रान्ति से हुआ है। अतः आगम सम्बन्धी मान्यताओं का प्राप्त होना और तत्सम्बन्धी साहित्य का प्रचुर रूप में लिखा जाना स्वाभाविक है। इस साहित्य में लौकिक–साहित्य के बीज–सूत्र वर्तमान है, जिनके आधार पर प्रबन्धात्मक काव्य एवं कथा–साहित्य के विकास की परम्परा स्थापित की जा सकती है।

बीज–सूत्रों के आधार पर चरित–काव्यों का प्रणयन कवियों ने किया है। संस्कृत के चरित–काव्यों का मूल स्रोत जिसप्रकार वेद हैं उसी प्रकार प्राकृत के चरित–काव्यों का मूल स्रोत आगम–साहित्य है। वस्तुतः चरित–काव्य प्रबन्ध काव्य की ही एक रूप–योजना है जहाँ पात्र पौराणिक–ऐतिहासिक हैं और वे कालक्रम के तिथिगत एवं तथ्यगत व्योरों से भी पुष्ट हैं।

साहित्य–विधाओं के विकास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि कथा--वर्णन एवं आचार–विषयक मान्यताओं के अनन्तर ही चरित–काव्य का सृजन आरम्भ हुआ है। चरित–काव्य का मूल, आगम और पुराणों में है। प्राकृत चरितों की कथावस्तु राम, कृष्ण, तीर्थंकर या अन्य महापुरूषों के जीवन–तथ्यों को लेकर निबद्ध की गयी है। **'तिलोयपण्णत्ती'** में चरित–काव्यों के प्रचुर उपकरण वर्तमान हैं। कल्पसूत्र एवं जिनभद्र–क्षमाश्रमण के विशेषावश्यक–भाष्य में चरित काव्यों के अर्ध–विकसित रूप उपलब्ध हैं।

विमलसूरि का **पउमचरियं, वर्द्धमानसूसरि** का **आदिनाथचरित, सोमप्रभ** का सुमतिनाथ चरित, **देवसूरि** का **पद्मप्रभस्वामी चरित, यशोदेव का चन्द्रप्रभचरित, अजितसिंह का श्रेयांसनाथ चरित, नेमिचन्द्र का अनन्तनाथचरित, देवचन्द्र का शान्तिनाथचरित, जिनेश्वर का**

मल्लिनाथ चरित, श्रीचन्द्र का मुनिसुव्रतचरित एवं नेमिचन्द्र का रयणचूड़ारायचरित प्रसिद्ध चरितकाव्य हैं। चरित–काव्य की यह परम्परा संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में भी वर्तमान हैं। प्राकृत में कुछ ऐसे भी चरित–काव्य हैं, जिनके नायक न तो पौराणिक पुरूष हैं और न ऐतिहासिक या अर्धऐतिहासिक ही। आख्यानों में अलंकरण से तत्त्वों का समावेश कर चरित–काव्यों को पूर्ण सरस बनाया गया है। यहाँ कुछ चरित–काव्यों का अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।[1]

तिलोयपण्णत्ती में महावीरचरित

दिगम्बर मान्यता के अनुसार महावीर के जीवन–सूत्र 'तिलोयपण्णत्ती' में हैं। वहाँ पर इतना ही लिखा गया है– तीर्थंकर वर्धमान कुण्डनपुर में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए। मार्गशीर्ष कृष्णा दशमी के दिन अपराह्न में उत्तरानक्षत्र में रहते नाथवन में तृतीय उपवास के साथ महावृतों को ग्रहण किया। यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है। **यथा –**

मग्गसिर–बहुल–दसमी–अवरण्हे, उत्तरासु णाथ–वणे।
तदिय – खमणम्मि गहिदं, महव्वदं वड्ढमाणेण।।

त्रिलोय. प. भा. 2/4/674

पउमचरियं

संस्कृत–साहित्य में जो स्थान **बाल्मीकि रामायण** का है, प्राकृत में वही स्थान **पउमचरियं** का है। इसके रचयिता **विमलसूरि** नाम के जैनाचार्य है। ये आचार्य राहु के प्रशिष्य, विजय के शिष्य और नाइलकुल के वंशज थे। प्रशस्ति में इनका समय ई. सन् प्रथम शती है, पर ग्रन्थ के अन्तः परीक्षण से इसका रचना काल ई. सन् 3–4 शती प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में महाराष्ट्री प्राकृत का परिमार्जित रूप विद्यमान है।[2]

विषय–वस्तु

पउमचरियं विमलसूरिकृत है। अयोध्या नगरी के अधिपति महाराज दशरथ की अपराजिता और सुमित्रा दो रानियाँ थीं। "सीता" के निमित्त

से रावण के वध होने की भविष्य वाणी सुनकर विभीषण आपको मारने आ रहा है।'' नारद द्वारा यह सूचना प्राप्त कर दशरथ राजधानी छोड़कर चले गये। स्वयंवर में दशरथ द्वारा कैकेयी का वरण करने पर अन्य राजाओं ने रूष्ट होकर उन पर आक्रमण कर दिया। कैकेयी द्वारा सहायता करने पर दशरथ ने कैकेयी को वरदान दिया।

अपराजिता के गर्भ से एक पुत्र हुआ। जिसका मुख पद्म जैसा सुन्दर होने से **'पद्म'** नाम रखा गया। इन्हीं का दूसरा नाम **''राम''** है। एक बार राम (पद्म) अर्ध बर्बरों के आक्रमण से जनक की रक्षा करते हैं, जनक प्रसन्न होकर अपनी औरस पुत्री सीता का विवाह राम के साथ कर देते हैं। कैकेयी भरत को गृहस्थ बनाने की कामना से दशरथ से राज्याभिषेक की याचना करती है। राम स्वयं अपनी इच्छा से सीता सहित वन को चले जाते हैं। जब राम दण्डकारण्य में पहुँचते हैं तो लक्ष्मण को एक दिन तलवार की प्राप्ति होती है। वे शक्ति–परीक्षण हेतु उससे झुरमुट को काटते हैं तभी असावधानी से चन्द्रनखा के बेटे शंबुक की हत्या हो जाती है। रावण की बहिन चन्द्रनखा अपने पुत्र की खोज में वहाँ आती है। तब इन दोनों भाईयों (राम एवं लक्ष्मण) में से किसी एक को अपना पति बनने की उनसे याचना करती है। इधर रावण अपनी बहिन की रक्षा हेतु आता है और सीता पर मुग्ध हो उसका हरण कर लेता है।

अन्त में राम रावण पर चढ़ाई कर देते हैं। सीता की अग्नि–परीक्षा होती है, जिसमें वह निष्कलंक सिद्ध होती है और उसी समय वह साध्वी बन जाती है। लक्ष्मण की अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर राम शोकाविभूत हो दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तथा कठोर तप करके निर्वाण प्राप्त करते हैं।

सुरसुन्दरीचरियं

यह एक प्रेमाख्यानक चरित महाकाव्य है। इसमें 16 परिच्छेद या सर्ग हैं और प्रत्येक में 250 पद्य हैं। इस महत्त्वपूर्ण चरितकाव्य के रचयिता **धनेश्वरसूरि** हैं।[3]

कथावस्तु –

नायिका के चरित का विकास दिखलाने के लिये कवि द्वारा

मूलकथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का गुम्फन किया जाना कवि की घटना–परिकलन के कौशल का द्योतक है। अवान्तर कथाओं के अतिरिक्त अधिकारी का कथानक बहुत संक्षिप्त और सरल है। **धनदेव** सेठ एक दिव्य मणि की सहायता से चित्रवेग नामक विद्याधर को नागों के पास से छुड़ाता है। दीर्घकालीन विरह के पश्चात् चित्रवेग का विवाह उसकी प्रियतमा के साथ हो जाता है। वह सुरसन्दरी को अपने प्रेम, विरह और मिलन की कथा सुनाता है। सुरसुन्दरी का विवाह भी मकरकेतु के साथ सम्पन्न होता है। अन्त में वे दोनों दीक्षा लेते हैं।

काव्य का नामकरण सुरसुन्दरी नाम की नायिका के नाम पर हुआ। समस्त कथावस्तु नायिका के चारों ओर घूमती है। इसमें सन्देह नहीं है कि कवि ने नायिका का रूप, अमृत, पद्म, सुवर्ण, कल्पलता एवं मन्दार–पुष्पों से संभाला है। वास्तव में यह नायिका कवि की अद्भुत मानस–सृष्टि है। इसमें नायिका के जीवन के दोनों पहलुओं को उपस्थित किया गया है।

वस्तु–वर्णनों में भीषण अटवी, मदन–महोत्सव, वर्षा–ऋतु, वसन्त, सूर्योदय, सूर्यास्त, पुत्र–जन्मोत्सव, विवाह, युद्ध, नायिका के रूप सौन्दर्य, उद्यान–क्रीड़ा आदि का समावेश है। वर्णनों को सरस बनाने के लिये लाटानुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का भी उचित प्रयोग किया है।

सुपासनाहचरियं

सुपासनाहचरियं चरितकाव्य के रचयिता **लक्ष्मण गणि** हैं। इस ग्रन्थ की रचना धंधुकनगर में आरम्भ की गई थी, परन्तु इसकी समाप्ति कुमारपाल के राज्य में मण्डलपुरी में की गई । लक्ष्मण गणि ने विक्रम संवत् 1199 में माघ शुक्ला दशमी गुरूवार के दिन इसको समाप्त किया।[4]

इस चरितकाव्य के नायक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ हैं। लगभग आठ हजार गाथाओं में इस ग्रन्थ की समाप्ति की गई है। समस्त काव्य तीन भागों में विभक्त हैं– पूर्वभव प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है और शेष प्रस्तावों में उनके वर्तमान जीवन का वर्णन है।

सिरिविजयचंद केवलिचरियं

इस चरितकाव्य के रचयिता श्री **चन्दप्रभ महत्तर** हैं। ये **अभयदेवसूरि** के शिष्य थे। इस चरिकाव्य की रचना वि. सं. 1127 में हुई। महाराष्ट्री प्राकृत में इस ग्रन्थ की रचना की गई है। यत्र–तत्र अर्धमागधी का भी प्रभाव है। इस काव्य में कुल 1063 गाथाएँ हैं।[5] इस काव्य का उद्देश्य जिनपूजा का माहात्म्य प्रगट करना है।

महावीरचरियं (पद्यबद्ध)

प्राकृत में महावीरचरियं के नाम से दो चरितकाव्य उपलब्ध होते हैं। इस चरितकाव्य के रचयिता चन्द्रकुल के बृहद्गच्छीय उद्योतनसूरि के प्रशिष्य और आम्रदेवसूरि के शिष्य **नेमिचन्द्र सूरि** हैं। आचार्य पद प्राप्त करने के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। इस चरित–ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् 1141 में हुई है। इसमें भगवान महावीर के पूर्वभव दिये हैं, साथ ही आवश्यक–चूर्णि में आए हुये जीवन के भी सभी प्रसंग इसमें दिये गये हैं। लेखक ने चरित–ग्रन्थ को रोचक बनाने का पूर्ण प्रयास किया है। कथावस्तु की सजीवता के लिये वातावरण का मार्मिक चित्रण किया है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की परिस्थितियों में राग–द्वेष की अनुभूतियाँ किस प्रकार घटित होती हैं, इसका विवरण बहुत ही सटीक रूप में प्रस्तुत किया गया है। मिथ्यात्व और सम्यक्त्व की अभिव्यंजना भी पात्रों के क्रिया–कलापों द्वारा अत्यन्त सुन्दर हुई है।[6]

महावीरचरियं चरितकाव्य में मनोरंजन के जितने भी तत्त्व हैं, उनसे कहीं अधिक मानसिक तृप्ति के साधन भी विद्यमान हैं। मारीचि अहंकार से जीवन के आधारभूत विवेक और सम्यक्त्व की उपेक्षा करता है। फलतः उसे अनेक बार जन्म ग्रहण करना पड़ता है, वह अपने संसार की सीमा बढ़ाता है। चरित–ग्रंथ होते हुये भी लेखक ने मर्मस्थलों की सम्यक् योजना की है। समग्र ग्रन्थ पद्य–बद्ध है। भाषा सरल व प्रभावपूर्ण है।[7]

सुदंसणाचरियं

'सुदंसणाचरियं' चरितकाव्य की रचना देवेन्द्रसूरि ने की है। इनके

गुरू का नाम जगच्चंद्रसूरि है। देवेन्द्रसूरि को गूर्जर राजा की अनुमति से वस्तुपाल मंत्री के समक्ष अर्वुदगिरि (आबू) पर सूरिपद प्रदान किया था। इनका समय लगभग ई. सन् 1270 का है। इसमें चार हजार पद हैं, जो आठ अधिकार और सोलह उद्देश्यों में विभक्त हैं। इस चरितकाव्य का नाम नायिका के नाम पर रखा गया है। इस काव्य की नायिका सुदर्शना विदुषी और रूप–माधुर्य से युक्त है। कवि ने इसमें जीवन के कई तथ्यों का स्फोटन किया है। जीवन की तीन विडम्बनाओं का कथन करते हुये कहा गया है[8] –

तक्कविहूणो विज्जो लक्खणहीणो य पंडिओ लोए।
भावविहूणो धम्मो तिण्ण वि गरूई विडम्बणया।।

तर्क हीन विद्या, लक्षण–हीन (व्याकरण–शास्त्र हीन) पंडित और भावविहीन धर्म ये तीन जीवन की महान बिडम्बनाएँ समझनी चाहिये। इस ग्रन्थ की भाषा अपभ्रंश और संस्कृत से प्रभावित है। बीच–बीच में संस्कृत के श्लोक भी पाये जाते हैं।

कुम्मापुत्तचरियं

कुम्मापुत्तचरियं काव्य में राजा महेन्द्रसिंह और रानी कूर्मा के पुत्र धर्मदेव के पूर्व जन्म एवं वर्तमान जन्म की कथावस्तु वर्णित है। इसके रचयिता अनन्तहंस हैं, जिनका समय 16वीं शती माना जाता है। इनके गुरू का नाम जिनमाणिक्य कहा गया है। ये तपागच्छीय आचार्य हेमविमल की परन्परा में हुए हैं। इनकी दो गुजराती रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। इस ग्रंथ में 198 पद्य हैं। इस चरित–काव्य में दान, शील, तप और भाव–शुद्धि की महत्ता वर्णित है। शैली और भाषा दोनों प्रौढ़ हैं।[9]

महावीरचरियं (गद्य–पद्यमय)

महावीरचरियं **गुणचन्द्रसूरि** द्वारा रचित है। ये **प्रसन्नचन्द्रसूरि** के शिष्य थे। इन्होंने सम्वत् 1139 में इसकी रचना की। इस चरित–काव्य में आठ सर्ग (प्रस्ताव) हैं। प्रारम्भ के चार सर्गों में भगवान महावीर के पूर्वभवों का वर्णन है और बाद में चार सर्गों में उनके वर्तमान भव का वर्णन

है। काव्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ एक सफल रचना है। बाणभट्ट, माघ और भारवि के संस्कृत काव्यों का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। महाराष्ट्री प्राकृत के अतिरिक्त बीच–बीच में अपभ्रंश और संस्कृत के पद्य भी पाये जाते हैं। देशी शब्दों के स्थान पर तद्भव और तत्सम शब्दों के प्रयोग अधिक मात्रा में हैं। छन्दों में विविधता है।[10]

अन्य चरित काव्य

अन्य चरित–काव्यों में सोमप्रभसूरि का 9000 गाथा–प्रमाण सुमतिनाहचरियं, वर्धमानसूरि के आदिनाहचरियं और मनोरमाचरियं, देवेन्द्रसूरि का कण्हचरियं एवं जिनेश्वरसूरि का चंदप्पहचरियं। इसमें 40 गाथाएँ हैं और कण्हचरियं (कृष्णचरितं) में 1163 गाथाएँ हैं। इन चरित–काव्यों में नायक के चरित का क्रमिक विकास दिखलाया गया है।

सूक्तियाँ –

1. **आत्मा यथा स्वस्य तथा परस्य** – (वीरोदय सर्ग. 17 श्लोक 6) जैसा आत्मा अपनी समझते हो वैसी ही दूसरे की भी समझना चाहिये।
2. **अन्यस्य दोषे स्विदवाग्विसर्गः** – (वीरोदय सर्ग. 18, श्लोक 38) दूसरों के दोष मत कहो। यदि कहने का अवसर भी आवे तो भी मौन धारण करो।
3. **उन्मार्गगामी निपतेदनच्छे** – (वीरोदय सर्ग. 18 श्लोक 42) जो सन्मार्गगामी बनेगा वह उन्नति के पद को प्राप्त होगा। किन्तु जो इसके विपरीत उन्मार्गगामी बनेगा वह संसार के दुरन्त गर्त में गिरेगा।

सन्दर्भ –

1. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 308.312।
2. डॉ. हर्मन जेकोबी द्वारा भावनगर से प्रकाशित, सन् 1914 ई.
3. मुनिराज राजविजय जी द्वारा सम्पादित, जैन विविध साहित्य शास्त्रमाला, सन् 1913।
4. सुपासनाहचरियं प्रशस्ति, गा. 15–16।

5. श्री शुभशंकर मुनि, प्राप्तिनाथ केशवलाल प्रेमचंद कंसारा (खंभात), वि. सं. 2001।
6. आत्मानंद सभा, भावनगर द्वारा प्रकाशित।
7. ले. नेमिचन्द्र शास्त्री, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, तारा पब्लिकेशन, वाराणसी।
8. आत्मवल्लभ ग्रन्थ सीरिज वलाद (अहमदाबाद) से सन् 1932 में प्रकाशित।
9. के. वी. अभ्यंकर गुजरात कालेज, अहमदाबाद सन् 1933।
10. देवचन्द्र लालभाई ग्रन्थमाला।

परिच्छेद–3

संस्कृत काव्यों में महावीरचरित–परम्परा

संस्कृत–साहित्य में चरित–काव्यों की एक लम्बी परम्परा है। चरितकाव्यों में पुण्यशाली महापुरूषों का चरित वर्णित होता है। सामान्यतः संस्कृत–साहित्य में दो तरह के चरित–काव्य उपलब्ध होते हैं, 1. जिन चरितकाव्यों का कथानक पुराणों से ग्रहण किया गया है, ऐसे **पौराणिक चरितकाव्य**। 2. जिन चरित काव्यों का कथानक किसी ऐतिहासिक घटना या महापुरूष को लेकर लिखा गया है ऐसे **ऐतिहासिक चरितकाव्य**। चरितनामान्त महाकाव्यों पर विचार करते हुये **डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री** ने लिखा है कि – 'चरितनामान्त' महाकाव्यों से हमारा तात्पर्य उस प्रकार के महाकाव्यों से है, जिनमें किसी तीर्थंकर या पुण्य–पुरूष का आख्यान निबद्ध हो, साथ ही वस्तु–व्यापारों का नियोजन काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार संगठित हुआ हो। अवान्तर कथाओं और घटनाओं के वैविध्य के साथ अलौकिक और अप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश अधिक न हो। दर्शन और आचार–शास्त्र इस श्रेणी के काव्यों में अवश्य समन्वित रहते हैं। कथावस्तु व्यापक, मर्मस्पर्शी स्थलों से युक्त और भावपूर्ण होती है।[1]

जैनपरम्परा में संस्कृत में जो ग्रंथ–रचनाएँ हुईं, वे प्रारम्भ में तो दार्शनिक ही थीं। दर्शन एवं उपदेश ग्रन्थों के लिये संस्कृत का प्रारम्भिक प्रयोग हुआ। जैनपरम्परा में सबसे पहले संस्कृत लेखक आचार्य उमास्वामि माने जाते हैं। आचार्य उमास्वामि के पश्चात् संस्कृत लेखन का एक प्रवाह चला। अनेक आचार्यों ने दर्शन, तर्क, न्याय, ज्योतिष आदि के साथ चरित–काव्यों के लिये भी संस्कृत को अपनाया और पुराण एवं चरित–ग्रंथ संस्कृत में लिखे। जैन कवियों ने भी अपनी सम्प्रदाय–परम्परा से प्राप्त सिद्धान्तों की मान्यताओं के अनुरूप रामायण और महाभारत के आश्रय से अनेक काव्यों की रचना की।

आचार्य रविषेण (7वीं शताब्दी) का पद्मचरित संस्कृत भाषा में निबद्ध आद्य जैनचरित–काव्य है। जैनकवि ईसा की सप्तम शताब्दी से निरन्तर चरित–काव्यों की रचना करने में संलग्न रहे हैं। कुछ चरितकाव्यों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ प्रस्तुत है –

1. रविषेण : पद्मचरित

रविषेण ने पद्मचरित की रचना वीरनिर्वाण के साढ़े 1203 वर्ष बाद (ई. सन् 677) में पूर्ण की थी। इस बात का उल्लेख ग्रन्थ में ही किया गया है।[2]

"द्विशताभ्याधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्ध–चतुर्थवर्ष–युक्ते।
जिनभास्कर–वर्धमान–सिद्धेश्चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्।।"

बाह्य प्रमाणों के आधार पर भी इनका यही समय सिद्ध होता है; क्योंकि **उद्योतनसूरि** और **आचार्य जिनसेन** ने इसका उल्लेख किया है। इन दोनों का ही समय आठवीं शताब्दी है।

2. जटासिंहनन्दिः वरांगचरित

जैन चरित–काव्यों में संस्कृत के आद्य रचयिता का गौरव जटासिंहनादि (जटाचार्य) को ही प्राप्त है। यद्यपि इससे पूर्व पद्मचरित की रचना हो चुकी थी, पर उसमें पौराणिक तत्त्व अधिक थे।[3]

3. गुणभद्रः जिनदत्तचरित

गुणभद्र आचार्य जिनसेन के शिष्य थे। दशरथ भी गुणभद्र के गुरू थे। **डॉ. गुलाबचन्द चौधरी** ने जिनदत्त–चरित को आचार्य जिनसेन के शिष्य गुणभद्र की रचना न मानकर किसी पश्चात्वर्ती भट्टारक गुणभद्र की रचना माना है।[4] दशम शताब्दी के एक शिलालेख में गुणभद्र का उल्लेख किया गया है। अतः इनका काल ई. सन् को 9वीं शताब्दी का अन्त मानना चाहिये।

4. वीरनन्दिः चन्द्रप्रभचरित

वीरनन्दि नन्दिसंघ के देशीगण के आचार्य थे। इनके गुरू का नाम अभयनन्दि और गुरू के गुरू का नाम गुणनन्दि था।[5] चन्द्रप्रभचरित

में जैनों के अष्टम तीर्थंकर चन्द्रप्रभ का चरित निबद्ध है। जैन संस्कृत चरितकाव्यों में यह उत्कृष्ट महाकाव्य है। इसमें 18 सर्ग और 1697 पद्य हैं।

5. महासेनः प्रद्युम्नचरित

महासेन लाटवर्गट (लाडवागड) संघ के आचार्य थे। ये चारूकीर्ति के शिष्य तथा राजा भोजराज के पिता सिन्धुराज के महामात्य पप्पट के गुरू थे। प्रद्युम्नचरित में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न का जीवन–चरित्र वर्णित है।[6] यह चतुर्दश–सर्गात्मक महाकाव्य है।

6. असग कवि : वर्धमानचरित

महाकवि असग ने शक सं. 910 (988ई.) में वर्धमान–चरित की रचना की थी। अतएव कवि का समय ईसा की दसवीं शताब्दी है।[7] वर्धमान–चरित को महावीरचरित या सन्मतिचरित भी कहा जाता है। इसका कथानक गुणभद्र के उत्तरपुराण के 74वें पर्व से लिया गया है। यह अष्टादश सर्गात्मक महाकाव्य है। जो तीन हजार श्लोक–प्रमाण है। **भगवद्गुणभद्राचार्य** के पश्चात् भ. महावीर का चरित–चित्रण करने वालों में असगकवि का स्थान प्रथम है। प्रशस्ति के अन्तिम श्लोक के अन्तिम चरण से ज्ञात होता है कि उन्होंने आठ ग्रन्थों की रचना की है। इस चरितकाव्य के पढ़ने–सुनने का फल इस प्रकार है–

वर्धमानचरितं यः प्रव्याख्याति श्रृणोति च।
तस्येहपरलोकस्य सौरव्यं संजायते तराम्।।

— भक्ति श्लोक 26

विषय–वस्तु

असग कवि ने महावीर के पूर्व–भवों का वर्णन पुरूरवा भील से प्रारम्भ न करके इकतीसवें नन्दनकुमार के भव से किया है। नन्दनकुमार के पिता जगत से विरक्त होकर जिनदीक्षा ग्रहण करने के लिये उद्यत होते हैं और पुत्र का राज्याभिषेक कर गृहत्याग की बात उससे कहते हैं, तब वह कहता है कि जिस कारण से आप संसार को बुरा जानकर उसका

त्याग कर रहे हैं, उसे मैं भी नहीं लेना चाहता और आपके साथ ही मैं भी संयम धारण करूँगा।

असग कवि ने भ. महावीर के पाँचों ही कल्याणकों का वर्णन यद्यपि बहुत ही संक्षेप में दिगम्बर परम्परा के अनुसार ही किया है, तथापि एक दो घटनाओं के वर्णन पर श्वेताम्बर परम्परा का भी प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने भी उन्हीं तेंतीस भवों का वर्णन किया है, जिनका वर्णन उत्तरप ुराणकार आदि अन्य दिगम्बर आचार्यों ने किया है।

वर्धमानचरित में कुल 19 अध्याय हैं। **प्रथम** अध्याय में सर्व तीर्थंकरों को प्रथक्–प्रथक् श्लोकों में नमस्कार कर त्रिकालदर्शी तीर्थंकरों और विदेहस्थ तीर्थंकरों को भी नमस्कार कर गौतम गणधर से लगाकर सभी अंगपूर्वधारियों को उनके नामोल्लेख पूर्वक नमस्कार किया है। **दूसरे** अध्याय में भ. महावीर के पूर्व–भवों में पुरूरवा भील से लेकर विश्वनन्दी तक के भवों का वर्णन है। इसमें देवों का जन्म होने पर वे क्या–क्या विचार और कार्य करते हैं, वह विस्तार के साथ बताया गया है। **तीसरे** अध्याय में भ. महावीर के बीसवें भव तक का वर्णन है। जहाँ पर कि त्रिपृष्ठ नारायण का जीव सातवें नरक का नारकी बनकर महान दुःखों को सहता है। **चौथे** अध्याय में भ. महावीर के हरिषेण वाले सताईसवें भव तक का वर्णन है। इसमें तेईसवें भव वाले मृग–भक्षण करते हुये सिंह को सम्बोधन करके चारण ऋद्धिधारी मुनियों के द्वारा दिया गया उपदेश बहुत ही प्रेरक व उद्‌बोधक है। मुनि के दिये गये धर्मोपदेश को सिंह हृदय में धारण करता है और मिथ्यात्व को महान अनर्थकारी जानकर उसका परित्याग करता है। **यथा–**

मिथ्यात्वेन समं पापं न भूतं न भविष्यति।
न विद्यते त्रिलोकेऽपि विश्वानर्थनिबन्धनम्।।

पांचवें अध्याय में भ. महावीर के नन्द नामक इकतीसवें भव तक का वर्णन है। इसमें भगवान के उन्तीसवें भव वाले प्रियमित्र चक्रवर्ती की विभूति का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। **छठे** अध्याय में भगवान के उपान्त्य भव तक का वर्णन किया गया है। भगवान का जीव इकतीसवें

भव में दर्शन–विशुद्धि आदि षोडशकारण भावनाओं का चिन्तवन करके तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करता है। **सातवें** अध्याय में भ. महावीर के गर्भावतार का वर्णन है। **आठवें** अध्याय में दिक्कुमारिका देवियों द्वारा भगवान की माता की विविध प्रकारों से की गई सेवा–सुश्रुषा का और उनके द्वारा पूँछे गये अनेकों शास्त्रीय प्रश्नों के उत्तरों का बहुत ही सुन्दर और विस्तृत वर्णन है।

नवें अध्याय में भगवान के अभिषेक का वर्णन है। भगवान के अभिषेक के समय इन्द्र के आदेश से सर्व दिग्पाल अपनी–अपनी दिशा में बैठते हैं। तब क्षीरसागर के जल से भरे हुए 1008 कलशों से इन्द्र अपनी विक्रिया–निर्मित 1008 भुजाओं से भगवान के सिर पर जलधारा छोड़ता है। यहाँ पर सकलकीर्ति ने गन्ध, चन्दन एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों से युक्त जल–भरे कलशों से भगवान का अभिषेक कराया है। **यथा–**

पुनः श्रीतीर्थकर्तारमभ्य–सिञ्चच्छताध्वरः।
गन्धाम्बुचन्दनाद्यैश्च विभूत्याऽमा महोत्सवैः।। 29।।
सुगन्धित–दृव्य–सन्मिश्रसुगन्ध–जल–पूरितैः।
गन्धोदक–महाकुम्भैर्मणि–काञ्चन–निर्मितैः।। 30।।

दशवें अध्याय में भगवान की बाल–क्रीड़ा का सुन्दर वर्णन है। जब महावीर कुमारावस्था को प्राप्त हुये, तो उनके जन्म–जात मति, श्रुत और अवधिज्ञान सहज में ही उत्कर्ष को प्राप्त हो गये। **ग्यारहवें** अध्याय में बारह भावनाओं का विशद वर्णन है। इनके चिन्तवन से महावीर का वैराग्य और भी दृढ़तर हो गया था। **बारहवें** अध्याय में महावीर के संसार, देह और भोगों से विरक्त होने की बात को जानते ही लौकान्तिक देव आये और स्तवन–नमस्कार करके भगवान के वैराग्य का समर्थन कर अपने स्थान को चले गये। तभी घण्टा आदि के बजने से भगवान को विरक्त जानकर सभी सुर और असुर अपने–अपने वाहनों पर चढ़कर कुण्डनपुर आये और भगवान के दीक्षा–कल्याणक महोत्सव करने के लिये आवश्यक तैयारी करने लगे। **तेरहवें** अध्याय में भगवान की तपस्या का, उनकी प्रथम पारणा का, ग्रामानुग्राम विहार का और सदाकाल जागरूक

रहने का बड़ा ही मार्मिक एवं विस्तृत वर्णन है। **चौदहवें** अध्याय में भगवान के ज्ञानकल्याणक का ठीक वैसा ही वर्णन किया गया है, जैसा कि पुराणों में प्रत्येक तीर्थंकर का पाया जाता है। किन्तु सकलकीर्ति ने कुछ नवीन बातों का भी यहाँ उल्लेख किया है।

भगवान के कल्याणक को मनाने जाते समय इन्द्र के आदेश से बलाहक देव ने जम्बूद्वीप–प्रमाण एक लाख योजन विस्तार वाला विमान बनाया ऐसे विमान का विस्तृत वर्णन प्राकृत जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति और संस्कृत **त्रिषष्ठिश्लाकापुरूषचरित** में मिलता है। इस पर बैठकर इन्द्र भगवान के जन्म कल्याणकादि करने आता है

यथा –

आदिशत्पालकं नाम वासवोऽप्याभियोगिकम्।
असम्भाव्य प्रतिमानं विमानं क्रियतामिति।।353।।

त्रिषष्टि.श्ला.पु.च.सर्ग–2।

पन्द्रहवें अध्याय में सभी देव–देवियाँ, मनुष्य और तिर्यञ्च समवशरण के मध्यवर्ती 12 कोठों में यथास्थान बैठे। इन्द्र ने भी भगवान की पूजा–अर्चना कर स्तुति की और अपने स्थान पर जा बैठा। सभी लोग भगवान का उपदेश सुनने को उत्सुक बैठे थे। फिर भी दिव्य ध्वनि प्रकट नहीं हुयी। धीरे–धीरे तीन पहर बीत गये तब इन्द्र चिन्तित हुआ। अविधज्ञान से उसने जाना कि गणधर के अभाव में भगवान की दिव्य–ध्वनि नहीं हो रही है। तब वह वृद्ध विप्र का रूप बनाकर गौतम के पास गया और वही प्रसिद्ध **"त्रैकाल्यं–द्रव्यषटकं"** वाला श्लोक कहकर अर्थ पूँछा। **सत्रहवें** अध्याय में गौतम द्वारा पूँछे गये पुण्य–पाप, विपाक संबंधी अनेकों प्रश्नों का उत्तर दिया गया है जो कि मनन करने योग्य है। **अठारहवें** अध्याय में भगवान के द्वारा उपदिष्ट गृहस्थधर्म, मुनिधर्म, लोक–विभाग, काल–विभाग, आदि का वर्णन है। **उन्नीसवें** अध्याय में सौधर्मेन्द्र ने भगवान की अर्थ–गम्भीर और विस्तृत स्तुति करके भव्य लोगों के उद्धारार्थ विहार करने का प्रस्ताव किया और भव्यों के पुण्य से प्रेरित भगवान का सर्व आर्य–देशों में विहार हुआ। अंत में भगवान पावानगरी के उद्यान में पहुँचे और योग निरोध

करके अघाति–कर्मों का क्षय करके मुक्ति को प्राप्त हुये। इस प्रकार असग कवि ने वर्धमान चरित्र में भ. महावीर के चरित्र का विस्तृत विवेचन किया है।

7. वादिराज : पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित

वादिराज ने पार्श्वनाथचरित की रचना शक सं. 947 (1025) ई. में की थी। यह द्वादश सर्गात्मक महाकाव्य है। यशोधरचरित में राजा यशोधर की कथा वर्णित है।

8. मल्लिषेणः नागकुमारचरित

मल्लिषेण जिनसेन के शिष्य और कनकसेन के प्रशिष्य थे। मल्लिषेण ने अपने महापुराण की समाप्ति शक सं. 969 (1047) ई. में की थी।[9] नागकुमारचरित पांच सर्गात्मक काव्य है। इसमें श्रुतपंचमी का माहात्म्य प्रकट करने के लिये नागकुमार का चरित निबद्ध किया गया है।

9. हेमचन्द्र : त्रिषष्टिशलाका पुरूषचरित, कुमारपालचरित

त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित में जैनधर्म–मान्य त्रेसठ शलाका पुरूषों का चरित वर्णित है। यह 10 पर्वों में विभक्त है। अन्तिम पर्व सबसे विशाल है, जिसमें तीर्थंकर महावीर का जीवन–चरित्र वर्णित है। वास्तव में इसे काव्य न कहकर पुराण कहा जाना चाहिये। अनेक चरित्र–काव्यों का उपजीव्य होने से उसे चरितकाव्यों में स्थान दिया गया है।

कुमारपालचरित एक ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें कुल 18 सर्ग हैं, जिनमें 10 संस्कृत भाषा में तथा 8 प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं।

10. नेमिचन्द्रः धर्मनाथचरित

धर्मनाथचरित के रचयिता नेमिचन्द्र हैं, जिन्होंने वि. सं. 1213 में प्राकृत में अनन्तनाहचरियं की रचना की थी।[10]

11. गुणभद्रमुनिः धन्यकुमारचरित

गुणभद्रमुनि चन्देल–नरेश परमादि के शासनकाल में हुए हैं। इनका समय ईसा की बारहवीं शताब्दी माना जाता हैं। धन्यकुमारचरित

सात सर्गात्मक काव्य है। धन्यकुमार भ. महावीर के समकालीन राजगृह के श्रेष्ठिपुत्र थे।[11]

12. मुनिरत्नसूरिः अममस्वामिचरित

मुनिरत्नसुरिः ने **अममस्वामिचरित** की रचना वि. सं. 1252 में की थी। अतः इनका समय बारहवीं शताब्दी का अन्त मानना चाहिये। अममस्वामिचरित 20 सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें भावी तीर्थंकर अमम का चरित निबद्ध है।

13. देवप्रभसूरिः पाण्डवचरित, मृगावतीचरित

देवप्रभसूरि मलधारी गच्छ के थे। इनका रचनाकाल 12वीं और 13वीं शताब्दी का सन्धिकाल माना जाता है। पाण्डवचरित 18 सर्गात्मक महाकाव्य है। मृगावतीचरित में वत्सराज उदयन की माता मृगावती का चरित्र वर्णित हुआ है। तेरहवीं शताब्दी में अनेक प्रभावी कवियों ने अनेक पुण्य–पुरूषों का चरित काव्यों में गुम्फित किया है।

14. जिनपाल उपाध्यायः सनतकुमारचरित

जिनपाल उपाध्याय चन्द्रकुल की प्रवरव्रज शाखा के जिनपतिसूरि के शिष्य थे। इन्होंने 1205 ई. में षट्स्थानवृत्ति की रचना की थी। अतएव इनका रचनाकाल तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ मानना चाहिये। सनतकुमारचरित में चतुर्थ चक्रवर्ती सनतकुमार का चरित 24 सर्गों में निबद्ध है।

15. माणिक्यचन्द्रसूरिः पार्श्वनाथचरित

माणिक्यचन्द्रसूरि राजगच्छीय नेमिचन्द्र के प्रशिष्य और सागरचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने पार्श्वचरित की रचना वि. सं. 1276 (1229 ई.) में की थी। यह दश सर्गात्मक महाकाव्य है।

16. उदयनप्रभसूरिः संघपतिचरित

महामात्य वस्तुपाल ने गिरनार की यात्रा के लिये एक संघ निकाला था। वस्तुपाल उसके संरक्षक या संघपति थे। इसी को आधार मानकर कवि ने इसका नाम संघपति–चरित रखा है।

17. अमरसूरिः चतुर्विंशतिजिनेद्रचरित, अम्बडचरित

चतुर्विंशति जिनेन्द्रचरित 24 अध्यायों तथा 1802 पद्यों में लिखा गया है। इसमें चौबीसों तीर्थंकरों के संक्षिप्त जीवन–चरित्र दिये गये हैं।

18. पूर्णचन्द्रसूरिः धन्यशालिभद्रचरित (अतिमुक्तकचरित)

पूर्णभद्रसूरि का समय वि. सं. 1285 (1228ई.) और स्थान जैसलमेर बतलाया गया है। धन्यशालि भद्र–चरित में कुमार अतिमुक्तक का वर्णन है।

19. वर्धमानसूरिः वासुपूज्यचरित

वासुपूज्य–चरित की रचना वि. सं. 1299 (1282ई.) में अणहिल्लपुर में हुई थी। इसके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दी के अर्हद्दासकृत मुनिसुव्रचरित, अजितप्रभसूरि का शान्तिचरित, लक्ष्मीतिलकमणिकृत प्रत्येकबुद्धचरित, जिनप्रभसूरि का श्रेणिकचरित, विक्रमकृत नेमिचरित भी उपलब्ध होते हैं।

20. वर्धमान भट्टारकः वरांगचरित

वरांगचरित त्रयोदश सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें श्रीकृष्ण और नेमिनाथ के समकालीन धीरोदात्त नायक वरांगकुमार का चरित्र गुम्फित है।

21. पद्मनन्दिः वर्धमानचरित

यह 300 पद्यात्मक काव्य है। इसमें भ. महावीर का संक्षिप्त जीवनचरित निबद्ध है।

22. भट्टारक सकलकीर्तिः वीर वर्धमानचरित

वीर वर्धमानचरित की रचना भट्टारक सकलकीर्ति ने की है। यह 19 सर्गों में निबद्ध है। **प्रथम** अधिकार में कवि ने चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की है तथा वक्ता और श्रोताओं का वर्णन किया है। साथ ही भ. महावीर के पुरूरवा भील से लेकर चौदह प्रधान भवों और मिथ्यात्व के महान दुष्फल का वर्णन किया है। **तृतीय** अधिकार में त्रिपृष्ठ नारायण तक के चार गणनीय भवों का तथा नरक के दुःखों का विस्तृतं वर्णन है। **सप्तम्**

अधिकार में कुण्डनपुर–वर्णन, त्रिशला देवी के स्वप्नों का वर्णन, देवियों द्वारा प्रियकारिणी माता की सेवा करना, सौधर्मेन्द्र द्वारा 1008 कलशों से बालक का अभिषेक करना, जन्म के दश अतिशयों के साथ भगवान की संसार से विरक्ति का भी चित्रण कवि ने बड़ी रोचकता से किया है। वैराग्य को बढ़ाने वाली अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं के चिन्तन के अतिरिक्त कठोर तपश्चरण का वर्णन कर सकलकीर्ति ने समवशरण का भी विस्तृत विवेचन किया है। रत्नत्रय धर्म का उपदेश, श्रावक–मुनि–धर्म के विवेचन द्वारा जहाँ कवि ने दार्शनिक एवं धार्मिक विषयों का समावेश किया है वहीं भगवान को केवलज्ञान होने का तथा इन्द्रादिकों द्वारा निर्वाण कल्याणक मनाये जाने का भी उल्लेख किया है।

23. विद्यानन्दिः सुदर्शनचरित

डॉ. गुलाबचंद चौधरी ने इनका कार्यकाल वि. सं. 1489.1538 (1432–1489ई.) माना है। सुदर्शनचरित की रचना गंधारपुरी में वि. सं. 1513 में हुई थी।[12]

24. ज्ञानसागरः विमलचरित

विमलनाथचरित 5 सर्गात्मक गद्य काव्य हैं। इसमें तीर्थंकर विमलनाथ का वर्णन है।

25. रत्नकीर्तिः भद्रबाहुचरित

संस्कृत साहित्य में रत्नकीर्ति नाम के अनेक आचार्य हुए हैं। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इनका समय वि. की 16वीं शती का उत्तरार्ध माना है।

26. कवि राजमल्लः जम्बूस्वामीचरित

जम्बूस्वामीचरित त्रयोदश सर्गात्मक काव्य है। अनुष्टुप् छन्द में रचित होने पर भी काव्य रमणीय है।

27. रत्नचन्द्रमणिः प्रद्युम्नचरित

प्रद्युम्नचरित सोलह सर्गात्मक महाकाव्य है। इसमें श्रीकृष्ण, सत्यभामा, रूक्मणि आदि का भी चरित्र–चित्रण हुआ है।

28. ज्ञानविमलसूरिः श्रीपालचरित

श्रीपालचरित की रचना संस्कृत गद्य में वि. सं. 1745 (1688ई.) में की थी।

29. रूपचन्द्रगणिः गौतमचरित

गौतमचरित ग्यारह सर्गात्मक काव्य है। इसमें जैनसंघ का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है।

30. रूपविजयगणिः पृथ्वीचन्द्रचरित

रूपविजयगणि तपागच्छीय संविग्न शाखा के पद्मविजयगणि के शिष्य थे। इन्होंने पृथिवी–चन्द्र–चरित की रचना वि. सं. 1882 (1825ई.) में की थी।

31. भूरामल शास्त्री (आचार्य ज्ञानसागर) समुद्रदत्त चरित[13] महावीरचरित[14] (वीरोदयकाव्य)

श्री भूरामल जी शास्त्री ही मुनिदीक्षा के बाद आचार्य ज्ञानसागर महाराज कहलाये। आपका जन्म राजस्थान में जयपुर के समीपवर्ती राणौली ग्राम में सेठ चतुर्भज जी के घर वि. सं. 1948 (1891ई.) में हुआ था। आपने वि. सं. 2004 में ब्रह्मचर्य प्रतिमा, 2012 में क्षुल्लक दीक्षा और सं. 2014 में आचार्य शिवसागर जी महाराज से खानियां (जयपुर) में मुनिदीक्षा धारण की थी। इनके द्वारा लिखी गई समुद्रदत्तचरित, वीरोदय (महावीर–चरित) सुदर्शनोदय, दयोदय आदि अनेक रचनायें उपलब्ध हैं। **समुद्रदत्तचरित** 9 सर्गात्मक काव्य है। इसमें कुल 345 पद्य हैं। अन्त में 4 प्रशस्ति पद्य हैं, जिनमें उनके ग्रन्थों का उल्लेख है। **महावीरचरित** (वीरोदय) 22 सर्गात्मक महाकाव्य है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगलाचारण के रूप में श्री वीर प्रभु की स्तुति की गई है। 22वें सर्ग में महावीर के बाद जैनसंघ में भेद का उल्लेख करते हुए कवि ने जैनधर्म के उत्तरोत्तर ह्रास पर चिन्ता व्यक्त की है। इस प्रकार सातवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक के चरित–नामान्त काव्यों को यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

वीरोदय महाकाव्य में वर्णित विषय वस्तु सर्गबद्धता, रस, छन्द, अलंकार आदि का सुव्यवस्थित वर्णन काव्य–शास्त्रियों की दृष्टि से

महाकाव्य के रूप में प्रतिष्ठापित है। युग प्रवर्त्तक प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की तरह ही अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के जीवन–चरित पर यह काव्य आधारित है। इसके कथानक का मूलाधार महापुराण है। इस काव्य के नायक भगवान महावीर में नायक के सभी गुण विद्यमान है। वे परम धार्मिक, अद्भुत सौन्दर्यशाली, सांसारिक राग से दूर, दुखियों का कल्याण करने वाले हैं।

महाकवि ज्ञानसागर ने इस महाकाव्य में विविध स्थलों और वृत्तान्तों का यथास्थान वर्णन किया है। एक ओर कुण्डनपुर का वैभवपूर्ण वर्णन एक समृद्ध नगर की झांकी प्रस्तुत करता है, तो दूसरी ओर समुद्र–वर्णन के साथ हिमालय, विजयार्द्ध और सुमेरू पर्वतों का प्रासंगिक उल्लेख किया है। वीरोदय का सर्वाधिक मनोहारी दृश्य उसका ऋतुवर्णन है। वीरोदय में तीन संवाद भी विशेष हैं। (अ) रानी प्रियकारिणी और राजा सिद्धार्थ का संवाद। (ब) रानी प्रियकारिणी और देवी–संवाद। (स) राजा सिद्धार्थ और वर्धमान–संवाद।

भारतीय साहित्य में भगवान महावीर की चरित–परम्परा का आश्रय लेकर कवियों तथा आचार्यों ने विभिन्न भाषाओं में चरित–काव्य लिखे हैं। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश में लिखे गये चरित–काव्यों की परम्परा का मूल आधार भगवान महावीर का जीवन–चरित है।

काव्यात्मक दृष्टि से कवि ने वीरोदय महाकाव्य में श्रृँगाररस, अद्भुतरस, वात्सल्यभाव और भक्ति का यथास्थान वर्णन किया है, किन्तु अंगीरस का स्थान शान्तरस को ही प्राप्त है। शेष रस एवं भाव इस रस के अंग ही हैं। इसमें सांस्कृतिक एवं सामाजिक विवेचन, वर्ण–व्यवस्था, परिवार–व्यवस्था, अनुशासन के साथ जनतान्त्रिक पद्धति का विश्लेषण तथा व्रत, उपवास, शिक्षा व सहिष्णुता का भी महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

काव्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि भगवान महावीर ने बाह्य योद्धाओं से युद्ध नहीं किया बल्कि आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर मोक्षलक्ष्मी का वरण किया है। इस प्रकार वीरोदय में नायक का ही अभ्युदय (पूर्ण उत्कर्ष) दिखलाया है। यही महाकाव्य का आदर्श है। इसी से महाकाव्य के नाम "वीरोदय" की सार्थकता भी सिद्ध होती है।

संस्कृत के प्रमुख महावीरचरित

दशवीं शताब्दी से लेकर बीसवीं शताब्दी तक जो संस्कृत के प्रमुख महावीर चरित रचे गये वे निम्नप्रकार हैं–

(1) महाकवि असग द्वारा विरचित वर्धमानचरित।

(2) हेमचन्द्रकृत त्रिषष्टिश्लाका पुरूषचरित।

(3) पदमनन्दिकृत वर्धमानचरित।

(4) भट्टारक सकलकीर्ति द्वारा रचित वीरवर्धमानचरित।

(5) आचार्य ज्ञानसागर–कृत वीरोदय महाकाव्य।

सन्दर्भ –

1. संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृ. 18–19।
2. पद्मपुराण, 123/182।
3. भारतवर्षीय दिगम्बर जैनसंघ मथुरा से 1963 ई. में सानुवाद प्रकाशित।
4. जैन साहित्य का बहद् इतिहास, भाग 6, पृ. 62।
5. द्र. जिनरत्नकोश, पृ. – 135।
6. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई से 1917 ई. में प्रकाशित।
7. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग–4, पृ.–11–12।
8. श्री वर्धमानचरित, अ.–15।
9. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, भाग3, पृ. 170 से उद्धत।
10. द्र. वही, पृ.–104।
11. आमेर शास्त्र–भण्डार जयपुर में इसकी हस्तलिखित प्रति है।
12. भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1970 ई. में प्रकाशित।
13. दि. जैन जैसवाल समाज अजमेर, वी.नि.सं.2449 में प्रकाशित।
14. मुनि ज्ञानसागर, जैन ग्रन्थमाला, 1968 ई. में प्रकाशित है।

परिच्छेद–4

अपभ्रंश–साहित्य में महावीरचरित–परम्परा

अपभ्रंश साहित्य में इतिहास में भाषा एवं सांस्कृतिक दृष्टि से छठी शताब्दी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है। छठी शताब्दी के पूर्व का युग अपभ्रंश का आदिकाल रहा है तथा परवर्ती काल भाषा तथा साहित्य का संक्रमण काल रहा। लोक–साहित्य की कई विशेषतायें अपभ्रंश साहित्य में परलक्षित होती हैं।

अपभ्रंश–साहित्य में पौराणिक महाकाव्य, चरितकाव्य, कथाकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य, खण्डकाव्य, गीतकाव्य आदि काव्य–विधाएँ लक्षित होती हैं। तीर्थंकर महावीर और उनके अनुयायी श्रमणों (साधुओं) में दृष्टान्त तथा निदर्शन रूप में कथा कहने की प्रवृत्ति अत्यन्त व्यापक थी। भ. महावीर की पावन जीवन–कथा भी अपभ्रंश साहित्य में निबद्ध हुई है। अपभ्रंश के अनेक विद्वान मनीषियों ने भ. महावीर के जीवनचरित से सम्बन्धित काव्यों की सर्जना की है। दिगम्बर विद्वान महाकवि पुष्पदंत का **'तिसिहि–महापुरिस गुणालंकारू'** एक महत्त्वपूर्ण रचना है। अपभ्रंश भाषा का सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक प्राचीन काव्य **'स्वयंभूकृत पउमचरिउ'** माना जाता है। जयमितहल्लकृत **'वड्ढमाण–कव्वु'** नाम का ग्रन्थ भी प्राप्त होता है, जिसमें 11 संधियां हैं तथा भ. महावीर के जीवन पर प्रकाश डाला गया है। अपभ्रंश–साहित्य में कुछ निम्न रचनायें प्राप्त होती हैं।

'वड्ढमाण कहा'

यह नरसेन की सुन्दर कृति है, जो विक्रम सं. 1512 के लगभग लिखी गई है। आचार्य श्री अभयदेव रचित अपभ्रंश भाषा के महावीर–चरित का भी उल्लेख जैनग्रन्थावली में है।

रईधू विरचित महावीरचरित

"महावीर चरित" ग्रन्थ के रचयिता महाकवि रईधू हैं। इन्होंने

अपभ्रंश भाषा में इस की रचना की है। इनका समय विक्रम की पन्द्रहवीं शताब्दी है। महावीर की कथा प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर ही है फिर भी उनके विशिष्ट व्यक्तित्व का प्रभाव इस रचना में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। कुछ विशिष्ट स्थलों के उद्धहरण इस प्रकार हैं – भ. ऋषभदेव के द्वारा अपने अन्तिम तीर्थंकर होने की बात सुनकर मारीचि विचारता है –

घत्ता –णिसुणिवि जिणवुत्तउ मुणिवि णिरूत्तउ, संतुट्ठउ मरीइ समणी।
जिण–भणिओ ण वियलइ, कहमिव ण चलइ, हं होसमि तित्थय जणी।।

– महावीरचरित पत्र 17।

रईधू ने त्रिपृष्ठ के भव का वर्णन करते समय युद्ध का और उसके नरक में पहुँचने पर वहाँ के दुःखों का बहुत विस्तार से वर्णन किया है। मृग–घात करते समय सिंह को देखकर चारण मुनि–युगल उसे सम्बोधन करते हुए कहते हैं –

जग्गु जग्गु रे केत्तउ सोवहि, तउ पुण्णे मुणि आयउ जोवहिं।
एक्क जि कोड़ाकोड़ी सायर, गयउ भ्रमेत कालु जि भायर।।

– महावीरचरित्र पत्र 25।

अर्थात् हे भाई, जाग–जाग। कितने समय तक और सोवेगा ? पूरा एक कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण काल तुझे परिभ्रमण करते हुये हो गया। आज तेरे पुण्य से यह मुनि–युगल आये हैं, सो देखो और आत्महित में लगो। भ. महावीर का जीव स्वर्ग से अवतरित होकर संसार के स्वरूप का विचार करते हुये वैराग्य–भावों की वृद्धि के साथ जब त्रिशलादेवी के गर्भ में आया, इस[illegible] ही मार्मिक चित्रण किया है।

[illegible] के समय सौधर्म इन्द्र दिग्पालों को पाण्डुक शिला के सर्व ओर प्रदक्षिणा क्रम से अपनी–अपनी दिशा में बैठा कर कहता है–

णिय णिय दिस रक्खहु सावहाण, मा को वि विसउ सुरू मज्झणण।

रईधू ने जन्माभिषेक के समय सुमेरू के कम्पित होने का उल्लेख किया है। साथ ही अभिषेक से पूर्व कलशों में भरे जल को इन्द्र के द्वारा

मंत्र बोलकर पवित्र किये जाने का भी वर्णन किया है। भगवान के श्री वर्धमान, सन्मति, महावीर आदि नामों के रखे जाने का वर्णन पूर्व परम्परा के ही अनुसार है। महावीर जब कुमारकाल को पार कर युवावस्था से सम्पन्न हो जाते हैं, तब उनके पिता विचार करते हैं कि –

अज्जवि विज्ञय आलि ण पयासइ, अज्ज सकामालाव ण भासइ।
अज्जजि तिय तूणे ण उ मिज्जइ, अज्ज अणंय कणिहिण दलिजइ
णांरि–कहा–रसि मणु णउ ढ़ोवइ, णउ सवियारउ कहव पलोवइ।।

– महावीरचरित पत्र 41ए।

महावीर को वैराग्य होने के अवसर पर रईधू ने बारह भावनाओं का सुन्दर वर्णन किया है। गौतम के दीक्षित होते ही भगवान की दिव्य ध्वनि प्रकट हुई। इस प्रसंग पर षट्–द्रव्य और सप्त तत्त्वों का तथा श्रावक और मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन किया है। अन्त में भगवान के निर्वाण कल्याणक का वर्णन करके गौतम के पूर्व–भव एवं भद्रबाहु स्वामी का चरित भी लिखा है।

सिरहरु–रचित वडढ्माणचरिउ

'वड्ढमाणचरिउ' के रचयिता कवि श्रीधर हैं। अपभ्रंश भाषा में रचित इसकी कथावस्तु का मूल स्रोत दिगम्बर परम्परा रही है, तथापि श्वेताम्बर महावीर–चरितों का भी इस पर प्रभाव पड़ा है। जैसे त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में सिंह को मारने की घटना। बालक महावीर के जन्म होने के दिन से ही सिद्धार्थ के घर लक्ष्मी दिन–दिन बढ़ने लगी, जिससे उसका नाम वर्धमान रखा गया आदि।

कवि ने वडढ्माणचरिउ में 10 सन्धियों में वर्धमान के चरित का सांगोपांग वर्णन किया है । वडढ्माणचरिउ की मूल कथा वस्तुतः 9वीं सन्धि से प्रारम्भ होती है तथा 10वीं सन्धि में उन्हें निर्वाण प्राप्त हो जाता है। बाकी की आठ सन्धियों में नायक के भवान्तरों का वर्णन किया गया है।

जयमित्तहल्ल विरचित, वर्धमान काव्य

जयमित्तहल्ल कवि ने अपभ्रंश भाषा में वर्धमानकाव्य की रचना की है। यह चरित दिगम्बर परम्परानुसार ही है फिर भी कुछ नवीनीकरण प्राप्त होता है। दिगम्बर साहित्य में भगवान के केवलज्ञान होने पर 66 दिन तक दिव्य– ध्वनि नहीं खिरने का तो उल्लेख है, पर उस समय उनके विहार का उल्लेख नहीं है। वर्धमान काव्य कवित्व की दृष्टि से बहुत उत्तम है। कवि ने जन्माभिषेक के समय मेरू–कम्पन की घटना का वर्णन रोचक शैली में इस प्रकार किया है –

लइवि करि कलसु सोहम्म तियसाहिणा, पेक्खि जिणदेहु संदेहु किउ णियमणा।
हिमगिरिंदत्थ सरसरिसु गंभीरओ, गंगमुह पमुह सुपवाह बहुणीरओ।।
खिवमि किम कुंभु गयदंतु कहि लब्भई, सूर बिंबुव्व आवरिउ णह अब्भई।
सक्कु संकंतु तयणाणि संकघिओ, कणयगिरि सिहरू चरणंगुलचप्पिओ।।

जैसे ही सौधर्मेन्द्र कलशों को लेकर अभिषेक करने के लिये उद्यत हुआ, त्यों ही उसे मन में शंका हुई कि भगवान तो बिल्कुल बालक हैं। वे इतने विशाल कलशों के जल के प्रवाह को मस्तक पर कैसे सह सकेंगे ? तभी तीन ज्ञानधारी भगवान ने इन्द्र की शंका के समाधानार्थ चरण की एक अंगुली से सुमेरू को दबा दिया, जिससे शिलायें गिरने लगीं, वनों में निर्द्वन्द बैठे गज चिंघाड़ उठे, सिंह गर्जना करने लगे और सारे देवगण भय से व्याकुल होकर इधर–उधर देखने लगे। सारा जगत क्षोभ को प्राप्त हो गया। तब इन्द्र को अपनी भूल ज्ञात हुई और अपनी निन्दा करता हुआ तथा भगवान की जय–जयकार कर क्षमा माँगने लगा कि हे अनंतवीर्य! सुख के भण्डार! मुझे क्षमा करो, तुम्हारे बल का प्रमाण कौन जान सकता है ?

कवि ने इस बात का उल्लेख किया है कि 66 दिन तक दिव्यध्वनि नहीं खिरने पर भी भगवान भूतल पर विहार करते रहे। **यथा** –

णिग्गंथाइय समउ भरंतह, केवलि किरणहो धर विहंरत।
गय छासट्ठि दिणंतर जामहि, अमराहिउमणि चिंतई तामहि।।

इय सामग्गि सयल जिण णाहहो, पंचमणाणुग्गम गयवाहहो।
किं कारणु णउ वाणि पयासई, जीवाइय तच्चाइण भासई ।।पत्र 838।।

अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने पर निर्ग्रन्थ मुनि आदि के साथ धरातल पर विहार करते हुये छियासठ दिन बीत जाने पर भी जब भगवान की दिव्यध्वनि प्रकट नहीं हुई, तब इन्द्र के मन में चिन्ता हुई कि दिव्य–ध्वनि प्रगट नहीं होने का क्या कारण है ? अपभ्रंश के चरित–काव्यों में पौराणिक महापुरूषों, त्रेसठ श्लाका पुरूषों का जीवन–चरित वर्णित है। महापुरूषों का जीवनचरित्र अतिलौकिक तथा धार्मिक–तत्त्वों से अनुरंजित है। साधारणतः चरितकाव्य चार सन्धियों से लेकर बीस–बाईस सन्धियों तक में निबद्ध हैं। पूर्व भवान्तरों तथा अन्य अवान्तर घटनाओं से प्रायः सभी चरितकाव्यों का कलेवर बृद्धिंगत हुआ है फिर भी चरितकाव्य पौराणिक–काव्यों की अपेक्षा आकार में छोटे होते हैं। बारह तेरह सन्धियों से लेकर लगभग सवा सौ सन्धियों तक के पुराणकाव्य उपलब्ध होते हैं।

परिच्छेद–5

महावीरचरित साहित्य का विकास

जैन काव्य–साहित्य की कतिपय कृतियाँ ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से पाँचवीं शताब्दी तक उल्लेख रूप में मिलती हैं। पाँचवी से दसवीं शताब्दी तक सर्वांगपूर्ण विकसित आकार–ग्रन्थों के रूप में ऐसी विशाल रचनायें मिलती है, जिन्हें हम प्रतिनिधि रचनायें कहते हैं। भाषा की दृष्टि से जैनकाव्य–साहित्य नाना भाषाओं में सृजित हुआ है। कवियों ने एक ओर प्रांजल, प्रौढ़, उदात्त संस्कृत में तो दूसरी ओर सर्वबोध संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं नाना जनपदीय भाषाओं (तमिल, कन्नड़, मराठी, गुजराती, राजस्थानी, हिन्दी) में विशाल काव्य–साहित्य की रचना की है।

जैन–काव्य–साहित्य में ऋषभादि 24 तीर्थंकरों के समुदित तथा पृथक्–पृथक् अनेक नूतन चरित, भरत, सनतकुमार, ब्रह्मदत्त, राम, कृष्ण, पाण्डव, नल आदि चक्रवर्तियों एवं नरेशों के विविध प्रकार के आख्यान, नाना प्रकार के साधु–साध्वियों, राजा–रानियों, श्रमणों, सेठ–सेठानियों, धनिकों, दरिद्रों, चोर और जुआड़ियों, पुण्यात्मा–पापात्माओं एवं नाना प्रकार के मानवों को उद्देश्य करके लिखे गये कथा–ग्रन्थ हैं।

आधुनिक साहित्य में वर्णित महावीर चरित

प्राचीन युग में भगवान महावीर पर प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत तथा राजस्थानी एवं अन्य प्रांतीय भाषाओं में अनेकानेक ग्रन्थ लिखे गये। उनमें वर्तमान में हिन्दी, गुजराती व आंग्लभाषा में शोधप्रधान व जनसाधारण के उपयोगी बहुत से ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं, जो निम्न प्रकार हैं –

श्री महावीरस्वामी चरित्र[1]

महावीरस्वामी चरित का प्रथम संस्करण 1925 में प्रकाशित हुआ था। लेखक ने **त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित** का मुख्य आधार लिया है।

साथ ही राजा श्रेणिक, उनके पुत्र व रानियों का परिचय देने के लिये अन्तकृद्दशांग, अनुत्तरोपपातिक, ज्ञातृधर्मकथा आदि का भी उपयोग किया है।

श्री कुमुदचन्द्रकृत महावीर–रास

श्री कुमुदचन्द्र ने अपने महावीररास की रचना राजस्थानी हिन्दी में की है। कथावस्तु प्रायः सकलकीर्ति के वर्धमान–चरित पर आधारित है। महावीररास की विशेषतायें निम्न प्रकार है–

1. भगवान का जीव जब विश्वनन्दी के भव में था, तब मुनिपद में रहते हुये भी विशाखनन्दी को मारने का निदान किया था। उस स्थल पर कवि ने निदान के दोषों का बहुत वर्णन किया है। 2. भगवान महावीर का जीव इकतीसवें नन्दभव में जब षोडश–कारण भावनाओं को भाता है तब उनका भी बहुत विस्तृत एवं सुन्दर वर्णन कवि ने किया है। 3. श्री ह्री आदि षट्कुमारिका देवियों के कार्य का वर्णन इस प्रकार किया है–

आहे श्री देवी शोभा करि, लज्जा भरि ह्री नाम कुमारि।
आहे धृति देवी संतोष बोलि, जस कीर्ति सुरनारि।।
आहे बुद्धि देवी आपी बहु बुद्धि, रिद्ध–सिद्धी लक्ष्मीचंग।
आहे देवी तणु ण्हवु नियोग, शुभोपयोग प्रसंग।। 71।।

4. कुमारिका देवियों द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भी माता के द्वारा अनुपम ढंग से प्रस्तुत किये गये हैं। 5. जन्माभिषेक के समय पाण्डुकशिला पर भगवान को विराजमान करने आदि का वर्णन कवि ने ठीक वैसे ही किया है जैसे आज पंचामृताभिषेक के समय किया जाता है। 6. सौधर्म इन्द्र के सिवाय अन्य देवों के द्वारा भी भगवान के अभिषेक का वर्णन कवि ने किया है। जैसे –

अवर देव असंख्य निज शक्ति लेइ कुंभ।
जथा जोगि जल धार देई, देव बहु रंभ।।

7. वीर भगवान के आठ वर्ष का होने पर क्षायिक सम्यक्त्व और आठ मूलगुणों के धारण करने का उल्लेख कवि ने किया है। 8. भगवान

के दीक्षार्थ चले जाने पर त्रिशला माता के करूण विलाप का भी वर्णन किया गया है। 9. जिस स्थान पर भगवान ने दीक्षा ली उस स्थान पर इन्द्राणी द्वारा पहिले से ही साँथिया पूर देने का भीं उल्लेख कवि ने किया है।

कवि नवलशाहकृत वर्धमानपुराण

श्री सकलकीर्ति के संस्कृत वर्धमान–चरित के आधार पर कवि नवलशाह ने छन्दोबद्ध हिन्दी भाषा में वर्धमान–पुराण की रचना की है। यह रचना, दोहा, चौपाई, सोरठा, गीता, जोगीरासा, सवैयाा आदि अनेक छंदों नें की गई है। जो पढ़ने में रोचक और मनोहर है। यह वि. सं. 1825 के चैत सुदी 15 को पूर्ण हुई है।

भगवान महावीर के चरित का महत्त्व

मानवता के उद्धारक, युग निर्माता तथा पांच महाव्रतों के सम्बल से समाज को संवारने वाले चौबीसवें तीर्थंकर भ. महावीर के चरित्र की महत्ता से जैनसाहित्य समलंकृत है। उन्होंने लोकमंगल की भावना से जो कुछ कहा, गणधरों ने उसे सूत्रबद्ध कर' विशाल वाङ्मय की थाती के रूप में हमें प्रदान किया है।

महावीर के साहस, पौरूष और प्रतिभा से सब लोग बेहद प्रभावित हुये। अल्पावस्था में वर्द्धमान ने जो कर दिखाया वह अन्यत्र सम्भव नहीं। इसी अवस्था में सत्य, अहिंसा, अस्तेय आदि के अंकुर भी उनके अन्तस् में उभरने लगे थे। कल्पसूत्र के अनुसार महावीर दीक्षित होकर 12 वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्मोह–भाव से साधना में निमग्न रहे।

आचारांग सूत्र में महावीर की अद्वितीय कठोरतम साधना का चित्रण किया गया है। आचार्य भद्रबाहु ने कहा है कि महावीर की साधना सभी तीर्थंकरों में कठोरतम थी। यही कारण है कि जैनधर्म में तीर्थंकर महावीर का स्थान सर्वोपरि है।

संसार–सागर से समाज को उबारने के लिये महावीर अपने वैभवपूर्ण जीवन को त्याग कर कठोरतम साधना करके केवली, सर्वज्ञ,

अर्हन्त व तीर्थंकर की गरिमा से मण्डित हुये। प्रत्येक प्राणी के कल्याण हेतु उन्होंने असहनीय कष्ट उठाया किन्तु मानवता की मर्यादा पर आंच नहीं आने दी। उन्होनें सम्पूर्ण संसार के लिये हितकारी धर्म का उपदेश दिया।

सव्वजगस्स हिदकरो धम्मो तित्थंकरेहिं अक्खादो।

वस्तुतः तीर्थंकर महावीर के चरित में एक महामानव के सभी गुण विद्यमान थे। वे स्वयंबुद्ध और निर्भीक साधक थे। अहिंसा ही उनका साधना –सूत्र था। उनके मन में न कुण्ठाओं को स्थान था और न तनावों को। यही कारण था कि इन्द्रभूति गौतम जैसे तलस्पर्शी ज्ञानी पण्डित भी महावीर के दर्शनमात्र से प्रभावित हुए और उनके शिष्य बने। ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना और अहिंसक अनुष्ठान ने महावीर को पुरूषोत्तम बना दिया था। श्रेष्ठ पुरूषोचित सभी गुणों का समवाय उनमें था। निस्सन्देह वे विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी, तत्त्वोपदेशक और जननेता थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नहीं थी, उन्होंने सर्वतोमुखी क्रान्ति का शंखनाद किया। पारम्परिक खण्डन–मण्डन में निरत दार्शनिकों को अनेकान्तवाद का महामन्त्र प्रदान किया। सद्गुणों की अवमानना करने वाले जन्मगत जातिवाद पर कठोर प्रहार कर गुण–कर्माधार पर जातिव्यवस्था का निरूपण किया।

महावीर कथा

महावीर कथा के लेखक गोपालदास जीवाभाई पटेल हैं। इसमें महावीर के पूर्व भव, जन्म से लेकर निर्वाण तक की घटनायें तथा उनके उपदेशों पर प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ उपयोगी व पठनीय है।[2]

वैशाली के राजकुमार तीर्थंकर वर्द्धमान महावीर

इसके लेखक डॉ. नेमिचन्द्र जैन है। इन्होनें चित्ताकर्षक भाषा में महावीर के व्यक्तित्व और कृतित्व पर अच्छा प्रकाश डाला है।

भगवान महावीर

इसके लेखक श्री कामताप्रसाद जैन हैं। इन्होंने दिगम्बर ग्रन्थों के आधार पर शोधपरक दृष्टि से महावीर के जीवन का चित्रण किया है।

वर्द्धमान (महाकाव्य)

अनूप कवि द्वारा हिन्दी भाषा में लिखा यह प्रथम महाकाव्य है। ये दिगम्बर परम्परा से प्रभावित हैं।

जैनधर्म का मौलिक इतिहास

इसके लेखक आचार्यश्री हस्तीमल महाराज हैं। इसमें इन्होंने मुनिश्री कल्याणविजय जी के "श्रमण भगवान महावीर" का विशेष रूप से अनुशरण किया है।

विश्वज्योति महावीर

विश्वज्योति महावीर, श्री उपाध्याय अमर–मुनि की अनुपम कृति है। इसमें जीवन, चरित–प्रधान नहीं, विचार–प्रधान है।

सन्दर्भ –

1. मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, कोठीपोल, बड़ोदरा।
2. गुजरात विद्यपीठ, नवजीवन कार्यालय, अहमदाबाद।

अध्याय – 2

आचार्यश्री ज्ञानसागर और उनके महाकाव्यों की समीक्षा

परिच्छेद–1

आचार्यश्री ज्ञानसागर का व्यक्तित्व

वीरोदय महाकाव्य जैसे अन्य अनेक साहित्यिक व दार्शनिक ग्रन्थों के प्रणेता पण्डित श्री भूरामल शास्त्री ने वि. सं. 1948 में राजस्थान के शेखावटी क्षेत्र की गौरवशाली पुण्य–धरा राणोली ग्राम में जन्म लेकर खण्डेलवाल जैन कुलोत्पन्ना छाबड़ा गोत्रिय सेठ सुखदेव जी पितामह के नाम को समुन्नत किया। इनके दो पुत्र चतुर्भुज व डेढ़राज जी हुए। चतुर्भज का विवाह घृतदेवी से हुआ था। काव्यों के सर्गान्त में आचार्यश्री ने अपने माता–पिता कुल का नाम, तो उद्धृत किया है, परन्तु जन्म–तिथि उपलब्ध नहीं हो सकी है।

श्रीमान् श्रेष्ठि–चतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं।
वाणीभूषण–वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।।[1]

सन् 1891 में एक सामान्य परन्तु धार्मिक परिवार में चतुर्भुज जी तथा घृतवरी देवी ने दो जुड़वाँ पुत्रों को जन्म दिया। किन्तु जन्म के कुछ ही समय बाद जीवन के लक्षण न मिलने से दोनों शिशुओं को मृत मान लिया गया। लेकिन थोड़ी ही देर में एक शिशु में जीवन्त होने के लक्षण प्राप्त हुये, पर दूसरा बालक मृत्यु को प्राप्त हो गया। जीवित बालक का नाम भूरामल रखा गया। स्वनामधन्य वे आचार्यश्री 108 ज्ञानसागर के नाम से विख्यात हुये।[2] छगनलाल एवं भूरामल के अतिरिक्त घृतदेवी के, गंगाप्रसाद, गौरीशंकर और देवीदत्त ये तीन पुत्र और हुए।[3]

शिक्षा–दीक्षा

बाल्यकाल से ही भूरामल की अध्ययन के प्रति रूचि थी। सर्वप्रथम कुचामन के श्री पं. जिनेश्वरदास जी ने राणोली ग्राम में ही इन्हें धार्मिक और लौकिक शिक्षा दी। पर उनकी उच्च शिक्षा का प्रबन्ध गांव में न हो सका। इसी बीच इस परिवार पर एक महा–विपत्ति आ गई। जब छगनलाल की आयु 12 वर्ष और भूरामल जी की 10 वर्ष थी तभी उनके पिता चतुर्भुज की वि. सं. (सन् 1092 ई.) में मृत्यु हो गई। पिता की मृत्यु हो जाने से बालक भूरामल की पारिवारिक अर्थ–व्यवस्था बिगड़ गई। फलतः भूरामल के अध्ययन में बाधा उपस्थित हो गई।[4] भूरामल के लघुभ्राता देवीदत्त का जन्म पिता की मृत्यु के बाद हुआ। परिवार के भरण–पोषण के लिये बाल्यावस्था में ही भूरामल के बड़े भाई छगनलान को घर से निकलना पड़ा। आजीविका की खोज में वे गया (बिहार) जी पहुँचे और एक जैन व्यापारी की दुकान में नौकरी कर ली। शिक्षा–प्राप्ति के साधनों के अभाव में दुःखी होकर भूरामल भी बड़े भाई छगनलाल के पास गयाजी गए और वे भी वहाँ किसी सेठ की दुकान में काम खोजने लगे। एक वर्ष के इस विपन्नता के अंधकार में आशा की किरण स्वरूप स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी के छात्रों का वहाँ आना हुआ। पढ़ने की तीव्र लालसा के साथ 15 वर्ष की अल्प आयु में ही भूरामल बनारस चले गये। वहाँ स्याद्वाद महाविद्यालय में संस्कृत व जैनसिद्धान्तों का अध्ययन कर ज्ञान प्राप्त किया और क्वीन्स कॉलेज काशी से शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण की।[5]

भूरामल जी मानना था कि मात्र परीक्षा पास करने से नहीं अपितु सभी ग्रन्थों का आद्योपांत अध्ययन कर उन्हें आत्मसात् करने से ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है। अर्थोपार्जन हेतु उन्होंने कुछ दिन बनारस की सड़कों, हाटों में गमछे भी बेचे, मगर उन्होंने वाराणसी का स्नातक बन कर ही चैन लिया। भूरामल की अध्ययन के प्रति लगनशीलता एवं परिश्रम देख स्याद्वाद महाविद्यालय के अधिष्ठाता प्रसन्न होकर भूरामल जी से गमछे बेचने का काम छोड़ने को कहते तो वे मुस्कुराकर कह देते कि आप ही ने तो सिखलाया है– "सुखार्थी चेत् कुतो विद्या, विद्यार्थी चेत् कुतो

सुखम्'' (सुखार्थी के लिये विद्या कहाँ है, और विद्यार्थी के लिये सुख कहाँ) उनका यह उत्तर सुनकर सब स्तब्ध रह जाते और मन ही मन उनके स्वाभिमान की प्रशंसा करते।[6]

गुरूजन व मित्र

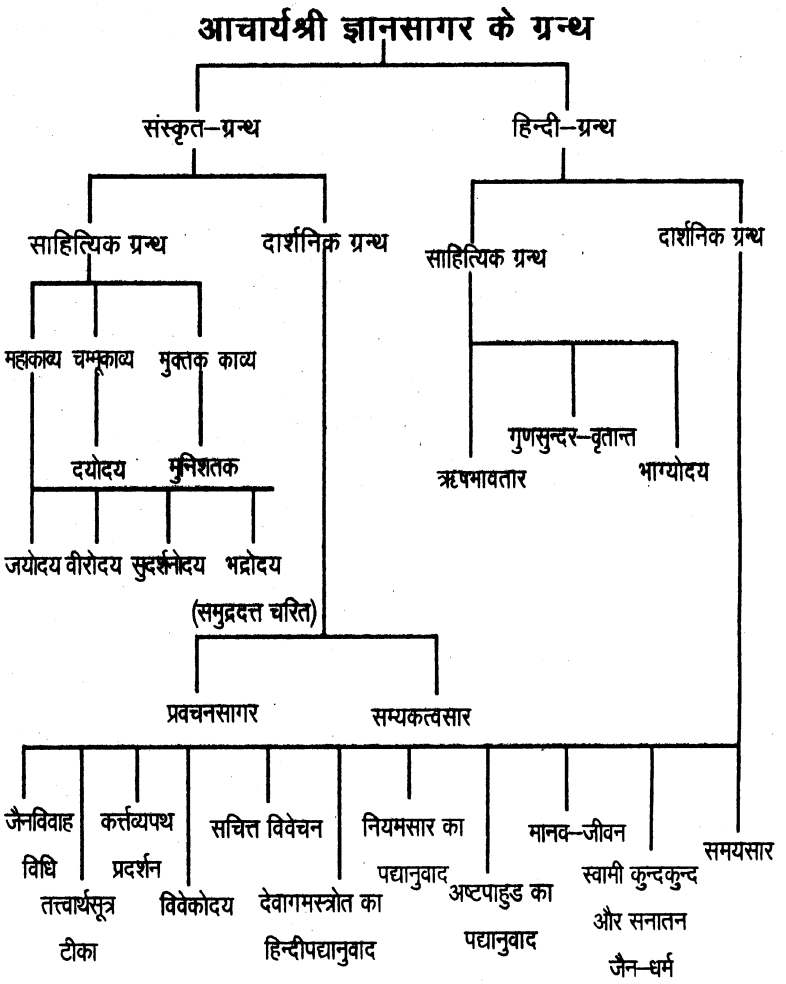
विद्यार्थी भूरामल को सर्वप्रथम धार्मिक व लौकिक शिक्षा देने वाले गुरूवर श्री जिनेश्वरदास थे और धर्मशास्त्र के अध्यापक पं. उमरावसिंह जी थे जो कालान्तर में ब्रह्मचारी ज्ञानानन्द जी के नाम से प्रसिद्ध हुए।[7] आचार्यश्री ने अपने ग्रन्थों के मंगलाचरण में गुरूवन्दना में इन्हीं को स्मरण किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थों में कहीं भी मित्रों का उल्लेख नहीं किया। महाविद्यालय में इनके सहपाठी पं. बंशीधर जी, पं. गोविन्दराय जी और पण्डित तुलसीराम जी थे।

कार्यक्षेत्र

अध्ययन के बाद ये अपने ग्राम (राणोली) लौटे। उनके सामने कार्यक्षेत्र को चुनने की समस्या थी। एक ओर तो अध्ययन–अध्यापन के प्रति रूचि और दूसरी ओर परिवार की शोचनीय परिस्थिति। इन दोनों कार्यों के अतिरिक्त स्वाध्याय में उनका अधिकांश समय व्यतीत होता था। कर्मकांड में उनका विश्वास नहीं था।

साहित्य साधना

अध्यापन के साथ–साथ भूरामल जी साहित्य–साधना में लगे रहे। उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में लगभग 20 ग्रन्थ लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं –



इसप्रकार पं. भूरामल जी शास्त्री ने अपनी युवावस्था व्यतीत की। जब उनकी आयु 51 वर्ष की हुई तब विक्रम संवत् 2004 (सन् 1947ई.) में आत्म–कल्याण की प्रबल भावना से बाल–ब्रह्मचारी होते हुए भी आचार्य वीरसागर जी महाराज की आज्ञा से आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को घर का त्याग कर अजमेर नगर, केसरगंज में सप्तम ब्रह्मचर्य प्रतिमा अंगीकार कर ली[8] और इसी समय प्रकाशित हुए सिद्धान्त ग्रन्थ, श्रीधवल, जयधवल, महाबन्ध का गम्भीर स्वाध्याय किया। धीरे–धीरे मन में वैराग्यभाव बढ़ने पर वि. सं. 2012 (सन्1955ई.) में मनसुरपुर (रेनवाल) में वीरसागर महाराज के

समीप क्षुल्लक–दीक्षा ले ली। क्षुल्लक बनने के बाद भूरामल जी ऐलक दशा में भी कुछ समय रहे। ब्रह्मचारी भूरामल से क्रमशः बढ़ते हुये वे मुनिश्री ज्ञानसागर बने। विक्रम सं. 2016 (सन् 1959ई.) में इन्होंने जयपुर में आचार्यश्री शिवसागर जी महाराज से सर्व परिग्रह त्यागकर दि. मुनिदीक्षा ले ली। उनका नाम मुनिश्री ज्ञानसागर रखा गया। साथ ही उन्हें संघ का उपाध्याय भी बना दिया गया। बाद में वे आचार्य पद पर भी प्रतिष्ठित हुए।

धीरे–धीरे महाकवि आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज का शरीर क्षीणता को प्राप्त होने लगा। अपने शिष्यों में उन्हें मुनिश्री 108 विद्यासागर जी ही सर्व श्रेष्ठ लगे। अतः वे दिनांक 22 नवम्बर सन् 1972 ई. (मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया वि. सं. 2020) को अपना आचार्य पद अपने शिष्य मुनिश्री 108 विद्यासागर जी को सौंपकर पूर्ण रूपेण वैराग्य, तपश्चरण एवं सल्लेखना में सन्नद्ध हो गये।

सल्लेखना पूज्य विद्यासागर जी महाराज के निर्देशन में चलने लगी। साईटिका से पीड़ित रूग्ण शरीर वाले तपस्वी के कष्टों का आचार्यश्री विद्यासागर जी महाराज बहुत ध्यान रखते थे। वैय्यावृत्ति का यह कार्य नौ माह तक चला। आचार्यश्री ने पहले अन्न त्यागा, फिर छांछ त्यागी, फिर 28 मई 1973 को चारों प्रकार के आहारों का त्याग कर दिया। अन्त में ज्येष्ठ कृष्णा 15 विक्रम संवत् 2023 शुक्रवार (दिनांक 7 जून, 1973) को दिन में 10 बजकर 20 मिनट पर नसीराबाद नगर में समाधिकरण कर वे आत्मतत्त्व में विलीन हो गये।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कवि भूरामल शास्त्री को अगाध पाण्डित्य प्राप्त था। उनका, व्याकरण, दर्शन, काव्य, संगीत आदि पर समान अधिकार था। भारतीय संस्कृति के प्रति उनमें अपार श्रद्धा थी। उनके काव्यों में भारतीयता का कोई पक्ष अछूता नहीं रहा। वास्तव में त्याग–तपस्या, उदारता, साहित्य–सर्जना आदि गुणों की साक्षात् मूर्ति महाकवि आचार्य मुनिश्री ज्ञानसागर जी महाराज एवं उनके कार्य स्तुत्य, अनुकरणीय एवं उल्लेखनीय हैं।

सन्दर्भ –

1. ज. म. 1/114।
2. श्री ज्ञानसागर जी महाराज का संक्षिप्त परिचय, मुनि संघ व्यवस्था समिति, नसीराबाद।
3. वही पृ. सं. 2।
4. पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, दयोदय चम्पू प्रस्तावना पृ. सं. 5।
5. पं. लालबहादुर शास्त्री, जैनगजट।
6. ले. सुरेश सरल, विद्याधर से विद्यासागर पृ. 87।
7. वीरोदय, प्रथम सर्ग, श्लोक सं. 6, पृ. सं. 2।
8. गौरलाल जैन, बाहुवली–सन्देश, पृ. सं. 33।

परिच्छेद–2

जयोदय महाकाव्य की समीक्षा

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध (वि. संवत् 1994 तथा सन् 1937 ई.) में राजस्थान वीरभूमि के सपूत बाल ब्रह्मचारी वाणी–भूषण श्री भूरामल शास्त्री खण्डेलवाल ने अद्वितीय **'जयोदय महाकाव्य'** की रचना करके पूर्ववर्ती दो शताब्दियों की शुष्क काव्यधारा को पुनः प्रवाहित किया। इसमें जिनसेन प्रथम द्वारा प्रणीत महापुराण में पल्लवित ऋषभदेव–भरतकालीन जयकुमार एवं सुलोचना के पौराणिक कथानक को पुष्पित किया गया है। यह महाकाव्य 28 सर्गों में निबद्ध है। इसका नामान्तर **'सुलोचना स्वयंवर महाकाव्य'** भी है। जयकुमार एवं सुलोचना की कथा प्रतिपादक अन्य रचनाएँ भी हैं। जैसे –

(1) महासेनकृत•सुलोचना कथा (वि. सं. 800) (2) गुणभद्रकृत महापुराण के अन्तिम पाँच पर्व (वि.सं. 900) (3) हस्तिमल्लकृत विक्रान्त कौरव अथवा सुलोचना नाटक (वि. सं. 1250)। (4) वादिचन्द्र भट्टारककृत सुलोचनाचरित (वि. सं. 1671)। (5) ब्र. कामराज–प्रणीत जयकुमारचरित (वि. सं. 1710) तथा (6) ब्र. प्रभुराज विरचित जयकुमारचरित।[1]

जयोदय महाकाव्य साहित्य–जगत में 20वीं शताब्दी का सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य तो है ही, साथ ही जैनदर्शन में 14 वीं शताब्दी के बाद का प्रथम महाकाव्य भी है। इसमें 3047 पद्य और 28 सर्ग हैं। इस का प्रकृति–चित्रण माघ के काव्यों की तुलना करने के लिये प्रेरित करता है। इस महाकाव्य रूपी सागर की तलहटी साहित्य है, तो दर्शन उसके किनारे और रस अलंकार आदि की छटा अपार जल–राशि के रूप में दृष्टिगोचर होती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह एवं ब्रह्मचर्य आदि आचरणपरक अनेक सूत्ररूपी रत्नों का भण्डार इस जयोदय महाकाव्य–रूपी सिन्धु में भरा पड़ा है तथा यह महाकाव्य रस, अलंकार एवं छन्द की त्रिवेणी से पवित्रता को

प्राप्त है। यह साहित्य, दर्शन एवं आध्यात्मिक शैली में देश की ज्वलंत समस्याओं का निराकरण भी करता है। इस युग के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र प्रथम चक्रवर्ती भरत के सेनापति जयकुमार के चारित्रिक जीवन की सरस कथा का आश्रय लेकर इस काव्य की रचना हुई है। इसमें श्रृँगाररस और शान्तरस की समानान्तर प्रवाहमान धारा पाठकों को अपूर्व रस से सिक्त करती है। जयकुमार और सुलोचना की प्रणय–कथा का प्रस्तुत वर्णन नैषधीय चरित एवं कालिदास के काव्यों का स्मरण दिलाता है।

जयोदय महाकाव्य की कथावस्तु ऐतिहासिक है। जयकुमार हस्तिनापुर–नरेश हैं। इनकी पत्नी, सुलोचना के चरित्र का आधार लेकर जैन–कवियों ने कथा, काव्य, नाटक आदि की रचनाएँ की हैं। जयोदय महाकाव्य अलंकारों की मंजूषा, चक्रबन्धों की वापिका, सूक्तियों और उपदेशों की सुरम्य वाटिका है। काव्य–क्षेत्र के अन्धकार युग को गौरव प्रदान करने वाला यह गौरवमय महाकाव्य है। प्रकृति–निरीक्षण में महाकवि की सूक्ष्मेक्षिका–शक्ति को उसकी कल्पना–शक्ति ने पूर्णतः परिपुष्ट किया है। इस महाकाव्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

कथावस्तु

प्राचीनकाल में हस्तिनापुर में जयकुमार राजा राज्य करता था। वह कीर्तिमान, श्रीमान्, विद्वान, बुद्धिमान, सौन्दर्यवान, भाग्यवान एवं अत्यन्त प्रतापवान था। एक दिन उसके नगर के उद्यान में किसी तपस्वी का आगमन हुआ। उनके आगमन का समाचार सुनकर राजा जयकुमार भी उनके दर्शन के लिये गया। मुनि के दर्शनों से वह अत्यधिक हर्षित हुआ। फिर उनकी स्तुति की और नम्रतापूर्वक कर्त्तव्य–पथ–प्रदर्शन हेतु निवेदन किया। **(प्रथमसर्ग)**

मुनिराज ने जयकुमार को गृहस्थधर्म के साथ–साथ राजा के कर्त्तव्यों का भी उपदेश दिया। मुनि के वचनों को सुनकर जयकुमार का शरीर रोमांचित और अन्तःकरण निर्मल हो गया। फिर भक्तिपूर्वक सिर झुकाकर उन्हें प्रणाम कर वह बाहर आया। जयकुमार के साथ एक सर्पिणी

ने भी मुनिराज का उपदेश सुना था। जयकुमार ने बाहर आकर देखा कि वह सर्पिणी किसी अन्य सर्प के साथ रमण कर रही है। यह देखकर हाथ के कमल से जयकुमार ने उस सर्पिणी को पीटा। सर्पिणी देवी के रूप में उत्पन्न हुई। उसने अपने पति नागकुमार से जयकुमार के विरूद्ध वचन कहे। वह मूर्ख स्त्री के कथन का विश्वास कर जयकुमार को मारने हस्तिनापुर गया। हस्तिनापुर में जाकर जब उसने देखा–सुना कि जयकुमार अपनी स्त्रियों को वह सारी घटना सुनाते हुये स्त्रियों के कौटिल्य की निन्दा कर रहा है, तब घटना की वास्तविकता का ज्ञान होने पर उसने अपनी स्त्री की निन्दा की और जयकुमार के सामने आकर अपना सारा वृत्तान्त सत्य–सत्य कहा और जयकुमार के प्रति मन में भक्ति को धारण करके चला गया। **(द्वितीय सर्ग)**

एक दिन जयकुमार राजसभा में बैठा था। वहाँ काशी–नरेश का दूत आया। उसने कहा कि काशी नगरी के राजा की आज्ञा से मैं आपकी सेवा में आया हूँ। उनकी एक पुत्री है– सुलोचना, जो अद्‌भुत रूप और गुणों की स्वामिनी है। उसका विवाह वे स्वयंवर–विधि से करना चाहते हैं। अतः सुलोचना–स्वयंवर में शामिल होने हेतु आप भी काशी की यात्रा करें। यह संदेश कहकर दूत चुप हो गया। उन्होंने अपने वक्ष–स्थल का हार उपहार में दूत को दे दिया। तत्पश्चात् अपनी सेना सजाकर जयकुमार काशी की ओर चल पड़े। काशी में काशी–नरेश ने उनका बड़ा स्वागत किया। **(तृतीय सर्ग)**

सुलोचना–स्वयंवर–समारोह का समाचार अयोध्या–नरेश भरत के पास भी पहुँचा। भरत ने यह समाचार अपने पुत्र अर्ककीर्ति को सुनाया। अर्ककीर्ति ने वहाँ जाने की इच्छा प्रकट कर पिता से अनुमति माँगी। उनके सुमति नाम के मंत्री ने कहा कि वहाँ बिना बुलाये नहीं जाना चाहिये। किन्तु दुर्मति नाम के मंत्री ने जाने के सम्बन्ध में अपनी सहमति प्रकट की। इतने में ही काशी–नरेश ने वहाँ पहुँचकर समारोह में उपस्थित होने का निमन्त्रण दिया। अपने सभासदों से विचार–विमर्श के बाद अर्ककीर्ति भी स्वयंवर–समारोह में भाग लेने काशी पहुँच गया। **(चतुर्थ सर्ग)**

स्वयंवर समारोह में अनेक देशों के कुलीन राजकुमार भी कन्या–वरण करने इस स्वयंवर में पहुँचे थे। काशी–नरेश ने उन सबका स्वागत किया। जैसे ही जयकुमार सभा–मण्डप में पहुँचा, सभी उपस्थित जनों का मन उसे देखकर प्रतिद्वन्दिता से परिपूर्ण हो गया। राजा के यहाँ उपस्थित देव (जो पहले काशी–नरेश का भाई था) ने सुलोचना को सभामण्डप में चलने का आदेश दिया। कचुंकी द्वारा निर्दिष्ट मार्ग से सुलोचना सखियों के साथ जिनन्द्रदेव का पूजन कर सभा–मण्डप में पहुँची। **(पंचम सर्ग)**

सुलोचना सभाभवन में विद्या नाम की परिचारिका के साथ कचुंकी के द्वारा बताये मार्ग पर चलने लगी। विद्या देवी ने सुलोचना को आकाशचारी विद्याधरों और भूमिचारी राजाओं को दिखाकर सर्वप्रथम सुनमि और विनमि का परिचय दिया। विद्याधर राजाओं में सुलोचना की रूचि न देखकर उसने पृथ्वी के राजाओं का परिचय कराया। उसने क्रमशः भरत के पुत्र अर्ककीर्ति तथा कलिंग, काँची, काबुल, अंग, वंग, सिन्धु, काश्मीर, कर्णाटक, मालव, कैराव आदि देशों से आये राजाओं के गुणों का विस्तार से वर्णन किया। सुलोचना जब जयकुमार के पास पहुँची तो विद्यादेवी ने सुलोचना का मन जयकुमार के अनुकूल पाकर, विस्तार–पूर्वक उनके गुणों का वर्णन किया। विद्यादेवी से प्रेरित होकर उसने जयकुमार के गले में जयमाला डाल दी। उसी समय हर्ष–पूर्वक नगाड़े जोर–जोर से बजने लगे। जयकुमार का मुख कांन्तियुक्त हो गया, पर अन्य राजाओं के मुखमण्डल म्लान हो गये। **(षष्ठ सर्ग)**

अर्ककीर्ति के सेवक दुर्मर्षण को यह स्वयंवर–समारोह काशी–नरेश की पूर्व नियोजित योजना लगा। उसने अर्ककीर्ति से कहा कि चक्रवर्ती के पुत्र आप को छोड़कर सुलोचना ने जयकुमार का वरण किया है। जयकुमार जैसे तो आपके कितने ही सेवक होंगे। फिर कुल की उपेक्षा भी ठीक नहीं। दुर्मर्षण के वचनों से उत्तेजित अर्ककीर्ति ने युद्ध के माध्यम से जयकुमार को नीचा दिखाने की ठान ली, परन्तु अनवद्यमति नाम के मंत्री ने समझाया कि काशी–नरेश (अकम्पन) और जयकुमार हमारे अधीनस्थ राजा हैं, जयकुमार की सहायता से भरत ने दिग्विजय करके चक्रवर्ती

सम्राट–पद पाया है। इसलिये वे तुम्हारे पिता के स्नेह–भाजन हैं। अकम्पन तो आपके पिता के भी पूज्य हैं। उनसे युद्ध करना गुरूद्रोह होगा। किन्तु अर्ककीर्ति पर अनवद्यमति के वचनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अर्ककीर्ति के क्रोध का समाचार महाराज अकम्पन ने सुना तो मंत्रियों से सलाह करके एक दूत अर्ककीर्ति के पास भेजा। किन्तु दूत के वचन सुनकर भी अर्ककीर्ति युद्ध से विरत नहीं हुआ। तब अकम्पन अत्यधिक चिन्तित हुए। महाराज अकम्पन को चिन्तित देखकर जयकुमार ने उन्हें धीरज बँधाया और सुलोचना की रक्षा करने के लिये कहा। तत्पश्चात् जयकुमार अर्ककीर्ति से युद्ध के लिये सन्नद्ध हो गये। यह देखकर अकम्पन भी अपने हेमाङ्गद आदि पुत्रों सहित युद्ध के लिये चल पड़े। श्रीधर, सुकेतु, देवकीर्ति इत्यादि राजाओं ने भी जयकुमार का साथ दिया। जयकुमार और अर्ककीर्ति की सेनाएँ युद्ध क्षेत्र में आमने–सामने आकर खड़ी हो गईं। अर्ककीर्ति ने चक्रव्यूह की रचना की और जयकुमार ने मकरव्यूह की रचना की। **(सप्तम सर्ग)**

दोनों सेनायें परस्पर युद्ध के लिये ललकारने लगीं। युद्ध का नगाड़ा बजा दिया गया। गजारोही, रथारोही और अश्वारोही परस्पर युद्ध करने लगे। जयकुमार तथा उसके अन्य भाईयों ने एवं हेमाङ्गद आदि काशी–नरेश के पुत्रों ने प्रतिपक्षियों का डटकर सामना किया। इसी बीच रतिप्रभदेव ने आकर जयकुमार को नागपाश और अर्द्धचन्द्र नाम का वाण दिया। जयकुमार ने इस दोनों से अर्ककीर्ति को बाँध लिया। जयकुमार विजयी हुये। काशी–नरेश अकम्पन ने सुलोचना को जयकुमार के विजयी होने की सूचना दी। पश्चात् सबने जिनेन्द्र देव की पूजा की। **(अष्टम सर्ग)**

जयकुमार के विजयी होने पर राजा अकम्पन ने विचार किया कि अपनी दूसरी पुत्री अक्षमाला का विवाह अर्ककीर्ति से कर दिया जावे। उन्होंने अर्ककीर्ति को कोई दण्ड नहीं दिया और विनम्रता पूर्वक अक्षमाला को स्वीकार करने को कहा। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि जयकुमार अपराजेय है। उसका कोई अपराध भी नहीं है। जयकुमार ने भी अककीर्ति से प्रीतियुक्त विनम्र वचन कहे। काशी–नरेश के प्रयत्न से जयकुमार और

अर्ककीर्ति की पुनः सन्धि हो गई। तत्पश्चात् काशी–नरेश (अकम्पन) ने सुमुख नामक दूत को भरत के पास भेजा। सुमुख ने काशी नगरी का वृत्तान्त बड़ी नम्रतापूर्वक सम्राट भरत से कहा और काशी–नरेश की ओर से क्षमा–याचना की। सम्राट भरत ने राजा अकम्पन और जयकुमार के प्रति प्रशांसात्मक वचन कहे। सम्राट भरत के वचनों से सन्तुष्ट होकर दूत ने उनकी वन्दना की और काशी आकर अयोध्या में हुई वार्ता को काशी–नरेश के सम्मुख प्रस्तुत किया। **(नवम् सर्ग)**

जयकुमार के विवाह की तैयारी हुई और जयकुमार को बारात के साथ नगर में आने के लिये आमंत्रित किया गया। जयकुमार बारात के साथ जब नगर में प्रवेश करते हैं तो प्रजाजन बारात की शोभा देखकर हर्षित होते हैं। जयकुमार और सुलोचना को मंडप में लाया जाता है। दोनों एक दूसरे को देखकर प्रमुदित होते हैं। **(दशमसर्ग)**

ग्यारहवें सर्ग में 100 श्लोकों में सुलोचना के रूप–सौन्दर्य का वर्णन करते हुये श्रृँगार–रस की अद्वितीय ढंग से उपस्थापना की गई है। इसमें जयकुमार द्वारा सुलोचना के रूप–सौन्दर्य का सरसता–पूर्ण वर्णन किया गया है। **(एकादश सर्ग)**

जयकुमार और सुलोचना का विवाह सम्पन्न हुआ। वर–बधू ने जिनपूजन की। उपस्थित अनेक प्रजाजनों के बीच गुरूजनों ने वर–बधू को शुभार्शीवाद दिया, महिलाओं ने सौभाग्य गीत गाये। दासियों एवं स्त्रियों ने हास–परिहास के साथ बारातियों को भोजन कराया। काशी–नरेश ने जयकुमार एवं वर–पक्ष के अभ्यागतों का अत्यधिक सत्कार किया। **(द्वादश सर्ग)**

विवाह के पश्चात् जयकुमार ने काशी–नरेश से अपने नगर जाने की आज्ञा ली। सुलोचना के माता–पिता ने अश्रुपूर्ण नेत्रों से सुलोचना एवं जयकुमार को विदा किया। दोनों उन्हें छोड़ने समीपस्थ तालाब तक गये। सुलोचना के भाई भी सुलोचना के साथ थे। सारथी ने मार्ग में स्थित वन और गंगानदी के वर्णन से जयकुमार का मनोरंजन किया। जयकुमार ने उसी के तट पर सेना सहित पड़ाव डाला। **(त्रयोदश सर्ग)**

जयकुमार सुलोचना एवं उनके अन्य साथियों ने वहाँ पर बहुत समय तक वनक्रीडा एवं मधुर आलाप से अपना मनोरंजन किया। **(चतुर्दश सर्ग)** सूर्य के अस्त होने पर क्रमशः सन्ध्या का आगमन हुआ। रात्रि का अन्धकार चारों ओर फैला और चन्द्रमा का उदय हुआ। यहाँ स्त्रियों के हाव–भाव का सरस वर्णन है। **(पंचदश सर्ग)** रात्रि के में स्त्री–पुरुषों ने परस्पर हास–विलास करते हुये मद्य–पान किया। मद्यपान से उनकी चेष्टायें विकृत हो गईं, नेत्र लाल हो गये। स्त्री–पुरूष में परस्पर मान, अभिमान और प्रेम का व्यवहार होने लगा। यहाँ सखियों की आलंकारिक प्रणय–कथा का सरस वर्णन है। **(षोडश सर्ग)** सभी युगल एकान्त स्थानों मे चले गये। जयकुमार सुलोचना एवं अन्य सभी पुरूषों ने सुरत क्रीड़ायें की। अर्द्धरात्रि में सभी ने निद्रा–देवी की गोद में विश्राम किया। इसमें श्रृँगार बर्णन है। **(सप्तदश सर्ग)** शुभ प्रभात हुआ। नक्षत्र विलीन हो गये। चन्द्रमा अस्त हो गया। भुवन–भास्कर का उदय हुआ। लोग निद्रा–रहित होकर अपने–अपने काम में लग गये। यहाँ प्रभातवर्णन में कवि की काव्य–प्रतिभा का परिचय मिलता है। **(अष्टादश सर्ग)** प्रातःकाल जयकुमार ने स्नानादि क्रियायें की। जिनेन्द्रदेव की पूजा कर श्रद्धापूर्वक स्तुति की। यहाँ ऋद्धिमंत्रों का उल्लेख है। **(एकोनविंश सर्ग)**

इसके बाद जयकुमार ने सम्राट भरत से भेंट करने की इच्छा से अयोध्या की ओर प्रस्थान किया। वहाँ पहुँचकर सभा–भवन के सिंहासन पर बैठे सम्राट को उसने प्रणाम किया। भरत के वात्सल्यपूर्ण वचनों से आश्वस्त होकर जयकुमार ने क्षमा–याचना पूर्वक सुलोचना–स्वयंवर का सारा वृत्तान्त कहा। उसे सुनकर सम्राट ने अपने पुत्र अर्ककीर्ति को ही दोषी ठहराया। उन्होंने अक्षमाला और अर्ककीर्ति के विवाह पर काशी–नरेश अकम्पन के प्रति प्रशंसात्मक वचन भी कहे। सम्राट से सत्कृत होकर जयकुमार, हाथी पर सवार होकर अपनी सेना की ओर चल पड़ा। मार्ग में गंगानदी में प्रवेश करते ही जयकुमार के हाथी पर व्यन्तर द्वारा उपसर्ग हुआ। जल की ऊँची–ऊँची तरंगे उठने लगीं। गंगा में एकाएक उठे तूफान से जयकुमार कुछ व्याकुल हुये। पति को संकट में देख सुलोचना ने

महामंत्र की आराधना की तो गंगादेवी ने आकर इस उपसर्ग को दूर किया और सुलोचना की दिव्य वस्त्राभूषणों से पूजा की। जयकुमार द्वारा पूँछे जाने पर गंगादेवी ने अपना परिचय दिया और पूर्वभव में सुलोचना द्वारा किये गये उपकार की घटना सुनायी। जयकुमार घटना सुनकर प्रसन्न हुए। उन्होंने गंगादेवी द्वारा उपसर्ग दूर कर दिये जाने का आभार माना और उसे विदा किया। **(विंशति सर्ग)**

जयकुमार की आज्ञा लेकर सैनिक हस्तिनापुर को प्रस्थित हुये। जयकुमार ने भी रथ पर आरूढ़ होकर सुलोचना के साथ प्रस्थान किया। मार्ग–स्थित दृश्यों के वर्णन से सुलोचना का मनोरंजन करते हुये वे एक वन में पहुँचे। भीलों के मुखिया जयकुमार के लिये भेंट में गजमुक्ता, फल पुष्पादि लाए। भीलों की पुत्री के सौन्दर्य को देखकर जयकुमार प्रसन्न हुये। सुलोचना भी गोपों की वस्ती देखकर प्रसन्न हुई। गोप–गोपियों ने दही, दूध और आदर से जयकुमार एवं सुलोचना को प्रसन्न किया। जयकुमार ने कुशल वार्ता पूँछने के पश्चात् प्रेमपूर्वक उन सभी से विदा ली। हस्तिनापुर पहुँचने पर जयकुमार और सुलोचना का मन्त्रियों ने स्वागत किया। प्रजा वर्ग ने भी अपने राजा का सम्मान किया। नगर की स्त्रियों ने नव–वधू सुलोचना का सौन्दर्य देखकर हर्ष का अनुभव किया। जयकुमार ने सुलोचना के मस्तक पर पट्ट बांधकर उसे 'प्रधानमहिषी' घोषित किया। राजकुमार के इस व्यवहार की हेमाङ्गद आदि ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की। जयकुमार ने हास–परिहास सहित उनके साथ बहुत समय व्यतीत किया। रत्न, आभूषण इत्यादि देकर उन्हें विदा किया। जयकुमार को प्रणाम करके वे सब हस्तिनापुर से काशी पहुँचे। वहाँ पिता को प्रणाम कर उन्हें अपनी बहिन–बहनोई का सारा वृत्तान्त सुनाया। पुत्री के सुख–समृद्धि से परिपूर्ण वृत्तान्त को जानकर काशी–नरेश अकम्पन प्रसन्न हुए और आत्म–कल्याण के मार्ग की ओर अग्रसर हुए। **(एकविंशति सर्ग)**

92 श्लोकों में निबद्ध 22वें सर्ग में जयकुमार और सुलोचना के दाम्पत्य–प्रेम का वर्णन है। यहाँ का चमत्कार पूर्ण ऋतुवर्णन भी उल्लेखनीय है। इसमें जयकुमार के प्रजापालन तथा सुलोचना के गृह–कार्य की

कुशलता का भी अच्छा वर्णन है। इनके भोग–विलास और सुखी जीवन का भी उल्लेख है। **(द्वाविंशति सर्ग)**

राज्य–कार्य छोटे भाई विजय को देकर जयकुमार ने अपना ध्यान प्रजा के हित–चिन्तन में लगाया। एक दिन जयकुमार सुलोचना के साथ महल की छत पर बैठे थे। आकाश में एक विमान को देखकर प्रभावती नाम की पूर्वजन्म की प्रिया का स्मरण करके वे मूर्छित हो गये। सुलोचना ने भी सामने एक कपोत–युगल को देखा, तो वह भी अपने पूर्व–जन्म के प्रेमी रतिवर का स्मरण करके मूर्छित हो गई। उपचार से दोनों की मूर्छा समाप्त हुई, किन्तु वहाँ उपस्थित स्त्रियों ने सुलोचना के चरित पर सन्देह किया। जयकुमार के पूछने पर सुलोचना ने अपने पूर्वजन्मों का वृत्तान्त सुनाया।

सुलोचना के पूर्व–जन्म

विदेह देश में पुण्डरीकिणी नगरी में कुबेरप्रिय सेठ अपनी स्त्री के साथ रहता था। उसके वहाँ रतिवर नामक कबूतर और रतिषेणा नाम की कबूतरी भी रहती थी। एक दिन सेठ के यहाँ दो मुनिवर आये। उनके दर्शनों से कपोत–युगल को अपने पूर्व–जन्मों की याद आ गई। फलस्वरूप उन्होंने ब्रह्मचर्य–व्रत ले लिया। व्रत के फलस्वरूप दोनों अगले जन्म में भी हिरण्यवर्मा और प्रभावती के रूप में पति–पत्नी बने। इस पर्याय में भी इन्हें पूर्वभव के स्मरण से वैराग्य हुआ और वे दीक्षित होकर मुनि तथा आर्यिका बने। एक दिन तपश्चरण करते समय उनके पूर्व जन्म के वैरी विद्युच्चोर ने क्रोध में आकर इन्हें जला दिया। तप के प्रभाव से वे दोनों अगले जन्म में देव हुए। एक दिन घूमते हुये वे दोनों देव एक सरोवर के समीप पहुँचे। वहाँ तपस्यारत भीम नामक मुनिराज से उन्हें ज्ञात हुआ कि जब वह देव (हिरण्यवर्मा) सुकान्त के रूप में जन्मा था, तब वे भवदेव नाम के शत्रु थे। कपोत के जन्म के समय वे बिलाव के रूप में उनके शत्रु बने थे और हिरण्यवर्मा के जन्म के समय में विद्युच्चोर भी वे ही थे। इस समय वे भीम के रूप में उत्पन्न हुये हैं। सुलोचना ने स्पष्ट कर दिया कि जयकुमार ही सुकान्त, रतिवर, कबूतर, हिरण्यवर्मा और स्वर्ग के देव के रूप में उत्पन्न हुए थे। सुलोचना से अपने पूर्वजन्मों को सुनकर जयकुमार बहुत प्रसन्न हुए।

इस समय उन दोनों को दिव्यज्ञान की प्राप्ति भी हो गई। **(त्रयोविंशति सर्ग)**

दिव्यज्ञान की सहायता से जयकुमार और सुलोचना तीर्थयात्रा के लिये गए। सुमेरू, उदयांचल आदि में विहार करते हुये वे हिमालय पर पहुँचे। वहाँ एक मन्दिर में जाकर विधिपूर्वक जिनन्द्रदेव की पूजा अर्चना की। तत्पश्चात् पर्वत पर विहार करते हुए वे दोनों एक दूसरे से कुछ दूर हो गये। इसी समय सौधर्मेन्द्र की सभा में जयकुमार के शील की प्रशंसा की जा रही थी, जिसे सुनकर रविप्रभ देव ने अपनी पत्नी काँचना को जयकुमार के शील की परीक्षा लेने के लिये भेजा। उसने वहाँ आकर अपनी मन–गढ़न्त कहानी जयकुमार को सुनायी और भिन्न–भिन्न प्रकार की काम–चेष्टाओं से विचलित करना चाहा, परन्तु जयकुमार के हृदय पर उसके वचनों और चेष्टाओं का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। उलटे उसने उसके व्यवहार की निन्दा की और उसे स्त्रियों के सद्आचरण की शिक्षा दी। पर जयकुमार के उदासीन वचनों को सुनकर राक्षसी का रूप धारण कर वह जयकुमार को उठाकर जाने लगी तब सुलोचना ने वहाँ पहुँचकर उसकी बड़ी भर्त्सना की। सुलोचना के शील के माहात्म्य से उसने जयकुमार को छोड़ दिया। उसने असलीरूप में प्रकट होकर जयकुमार की प्रशंसा की और चली गई। अपनी पत्नी से जयकुमार के निष्काम भाव को जानकर रविप्रभ देव ने भी आकर जयकुमार की पूजा की। इस प्रकार तीर्थों में विहार करके जयकुमार अपने नगर में लौट आये और सुलोचना के साथ सुखपूर्वक रहने लगे। **(चतुर्विंशति सर्ग)**

सांसारिक भोग–विलासों की निःसारता को देखकर जयकुमार के मन में एक दिन वैराग्यभाव जागा और वस्तुतत्त्व का चिन्तन करते हुए वन जाने की इच्छा की। **(पंचविंशति सर्ग)** अपने पुत्र अनन्तवीर्य का राज्याभिषेक कर वे वन की ओर चल पड़े। हस्तिनापुर की प्रजा ने हर्ष और विषाद–इन दो विरोधी भावों का, साथ–साथ अनुभव किया। वन में जयकुमार भगवान ऋषभदेव के पास गय। उनकी भक्तिपूर्वक स्तुति की और कल्याण–मार्ग के विषय में पूँछा। **(षड्विंशति सर्ग)** भगवान ऋषभदेव ने जयकुमार को धर्म का स्वरूप बतलाया। जिसे सुनकर वे

दृढता पूर्वक आत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर हो गये। **(सप्तविंशति सर्ग)** जयकुमार सर्व बाह्य परिग्रह छोड़कर मुनि हो गये और घोर तपश्चरण करने लगे। वे भ. ऋषभदेव के गणधर बने। अन्त में मोक्ष प्राप्त किया। सुलोचना ने भी ब्राह्मी आर्यिका के समक्ष दीक्षा ले ली और साधना कर अन्त में अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हो गई।

यहाँ पर पूर्व कवियों का स्मरण करते हुये इस महाकाव्य की समाप्ति की गई है। **(अष्टाविंशति सर्ग)**

जयोदय महाकाव्य के कथानक की ऐतिहासिकता

भरत चक्रवर्ती के समकालीन जयकुमार का आख्यान आदिपुराण में मिलता है। यहाँ इसका वर्णन मर्यादित है। अतः इस महाकाव्य के कथानक को पौराणिक या ऐतिहासिक कहा जा सकता है।

ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा में पद्मगुप्त परिमलकृत 'नव साहसाङ्कचरित'/विल्हण का 'विक्रमांक देवचरित'/तथा कल्हण की 'राजतरंगिणी आदि काव्य आते हैं। जैनाचार्य हेमचन्द्र (1089–1173 ई.) का कुमारपालचरित/विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में हुए सोमेश्वर का सुरथोत्सव और कीर्तिकौमुदी/अरिसिंहकृत 'सुकृत संकीर्तन/और बालसूरि का बसन्त विलास' –ये जयोदय महाकाव्य की ऐतिहासिकता के आधार हैं। 'नयचन्द्रसूरि रचित हमीर महाकाव्य'/काश्मीरी कवि जयानक का' पृथ्वीराज विजय/और वाक्पति राज का 'गडबहो'/प्राकृत में निबद्ध ऐतिहासिक काव्यों में अपनी विशिष्टता के कारण नितांत प्रख्यात हैं।[2] देवप्रभ सूरि का 'पाण्डवचरित/कृष्णानन्द का 'सहृदयानन्द'/वामन भट्टवाण का 'नलाभ्युदय'/वस्तुवाल रचित 'नरनारायणानन्द',/साकल्यमल्ल रचित 'उदारराघव'/सोमेश्वर कवि का 'सुरथोत्सव'/गोविन्द मरवी का 'हरिवंश–सारचरित'/वेंकटेश्वर का 'रामचन्द्रोदय' एवं 'रघुवीर चरित' नामक महाकाव्य भी इसी परम्परा में आते हैं।

जयोदय महाकाव्य पर महावीर–चरित–परम्परा का प्रभाव

जयोदय महाकाव्य पर महावीर–चरित–परम्परा का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। भगवान महावीर के समय से विक्रम की 20वीं शताब्दी

के अन्त तक लगभग 2500 वर्षों के दीर्घकाल में जैन मनीषियों ने प्राकृत, संस्कृत के जिन विपुल वाङ्मय का निर्माण किया, उसे प्रमुख तीन भागों में बाँटा है, पहला आगमिक, दूसरा अनुआगमिक, तीसरा आगमेतर।

सूक्तियाँ –

1. **कर्तव्यमन्चेत् सततं प्रसन्नः** – (वीरो. सर्ग. 17 श्लोक 10) सदा प्रसन्न रहकर अपना कर्तव्य पालन करना चाहिये।
2. **गुणभूमिर्हि भवेद्विनीतता** – (वीरो. सर्ग. 7 श्लोक 5) विनीतता अर्थात् सज्जनों के गुणों के प्रति आदर भाव प्रगट करना ही समस्त गुणों का आधार है।
3. **गुणं सदैवानुसरेदरोषम्** – (वीरो. सर्ग 17 श्लोक 9) दूसरों के गुणों का ईर्ष्या रोष आदि से रहित होकर अनुसरण करना चाहिए।
4. **तुल्यावस्था न सर्वेषां, किन्तु सर्वेऽपि भागिनः** – (वीरो.सर्ग. 17 श्लोक 41) कर्म के उदय से जीव की दशा कभी एक–सी नहीं रह पाती, हमेंशा परिवर्तन होता रहता है।
5. **गतं न शोच्यं विदुषा समस्तु गन्तव्यमेवाऽऽश्रयणीयवस्तु** – (वीरो. सर्ग 14 श्लोक 34) विद्वान को बीत गई बात का शोक नहीं करना चाहिये और अपने गन्तव्य मार्ग पर ही आगे बढ़ना चाहिये।
6. **कस्मै भवेत्कः सुखदुःख कर्ता, स्वकर्मणोंऽगी परिपाकभर्ता** – (वीरो. सर्ग. 16 श्लोक 10) कौन किसके लिये सुख या दुःख देता है ? प्रत्येक प्राणी अपने–अपने किये कर्मों के परिपाक को भोगता है।

सन्दर्भ –

1. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन, पृ. 18–36।
2. जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक, अध्ययन, पृ. 50।

परिच्छेद–3

सुदर्शनोदय की समीक्षा

आचार्य ज्ञानसागर विरचित सुदर्शनोदय महाकाव्य में चौबीस कामदेवों में से अन्तिम कामदेव सेठ सुदर्शन के जीवनचरित्र को प्रस्तुत कर एक गृहस्थ के सदाचार, शील एवं एकपत्नीव्रत की अलौकिक महिमा को दर्शाया गया है।

सुदर्शन–चरित की परम्परा

नयनन्दि ने अपने 'सुदंसणचरिउ' में तथा सकलकीर्ति ने अपने सुदर्शनचरित में उन्हें स्पष्ट रूप से चौबीसवाँ कामदेव और वर्द्धमान तीर्थंकर के समय में होने वाले दश अन्तःकृतकेवलियों में से पाँचवाँ अन्तःकृत्केवली माना है।

तत्त्वार्थवार्तिक और धवलाटीका में भी सुदर्शन को अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर का पाँचवाँ अन्तःकृत्केवली माना है।[1] हरिषेण ने सुभग ग्वाले के द्वारा मुनिराज की शीत–बाधा को अग्नि जलाकर दूर करने का कोई वर्णन नहीं किया। नयनन्दि और सकलकीर्ति ने उसका उल्लेख किया है।[2] रामायण में राम, सीता के वियोग में शोकाकुल दिखाई देते हैं, महाभारत में पाण्डव और कौरवों की कलह एवं मारकाट दिखाई देती है, किन्तु सुदर्शन सेठ के इस चरित में ऐसा एक भी दोष नहीं दिखलाई देता, यह सर्वथा निर्दोष चरित है। इस महाकाव्य में धीरोदात्त नायक की एक ऐसी कौतूहल–जनक कथावस्तु कवि ने चुनी है कि वह इस काव्य के आद्योपान्त पढ़ने की उत्सुकता को शान्त नहीं करती, प्रत्युत उत्तरोत्तर प्रतिसर्ग वह उसे बढ़ाती ही जाती है। प्रसन्न एवं गम्भीर वैदर्भी रीति से प्रवहमान इस सरस्वती सरिता के प्रवाह में सहृदय पाठकों के मनरूपी मीन विलासपूर्वक निवर्तन करने लगते हैं। अनुप्रास, श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा और

विरोधाभास आदि अलंकार इसे विशेष रूप से उज्ज्वल और विभूषित करते हैं।

काव्य–नायक सुदर्शन के शीलव्रत की महिमा के कारण शूली भी सिंहासन में बदल जाती है। यह महाकाव्य रूढ़िक परम्पराओं से हटकर दार्शनिक साहित्य विधा से ओत–प्रोत होकर भक्ति–संगीत की अलौकिक छटा प्रस्तुत करता है। राग की आग में बैठे हुये काव्यनायक को वीतरागता के आनन्द का अनुभव कराया है। यह काव्य जहाँ साहित्यिक सौन्दर्य के कारण साहित्यकारों को और दार्शनिकता के कारण दार्शनिकों को अपनी बुद्धि को परिश्रम करने की प्रेरणा देता है, वहीं पर यह गृहस्थ एवं साधु की आचार–संहिता पर भी प्रकाश डालता है। यह 9 सर्गों में विभक्त है और इसमें कुल 542 पद्य हैं। इसमें चरित–काव्य के लक्षण पाये जाते हैं। कवि का उद्देश्य कवित्व–शक्ति का प्रदर्शन न होकर मुनि–सुदर्शन के श्रेष्ठ और निष्कलुष चरित का सरल भाषा में प्रतिपादन करना है। पूरा ग्रन्थ शान्तरस की धारा में प्रवाहित हुआ है। बीच–बीच में मनोहारी अर्थ–गाम्भीर्य को लिये हुये सुभाषितों का प्रयोग भी हुआ है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है –

कथावस्तु

भारतवर्ष में अङ्ग नामक एक देश प्राचीन समय में अपने अतुलित वैभव के कारण लोक–विश्रुत था। इसी देश की चम्पापुरी नगरी में ढाई हजार वर्ष पूर्व भ. महावीर के समय तेजस्वी, परम प्रतापी, प्रजावत्सल धात्रीवाहन नामक राजा का शासन था। उसकी अत्यन्त रूपवती किन्तु कुटिल स्वभाववाली अभयमती नाम की रानी थी। **(प्रथम सर्ग)** चम्पापुरी में विचारशील, दानी, निरभिमानी, सम्पत्तिशाली, कलावान, निर्दोष एवं वैश्यों में सर्वश्रेष्ठ वृषभदास नामक एक सेठ भी रहता था। उसकी पत्नी जिनमति, सुन्दरी, सुकोमल, अतिथि–सत्कार– परायणा, सदाचारिणी और मृदुभाषिणी थी। एक समय जिनमति ने रात्रि के अन्तिम प्रहार में महापुरूषोत्पत्ति–सूचक स्वप्न देखे। प्रातःकाल उसने स्वप्नों का अभिप्राय जानने के लिये पति के पास जाकर निवेदन किया कि आज प्रथम स्वप्न में मैनें सुमेरू पर्वत, द्वितीय

में कल्पवृक्ष, तृतीय में सागर, चतुर्थ में निर्धूम अग्नि, और पंचम स्वप्न में आकाश में घूमते हुये विमान को देखा है। सेठानी की बात सुनकर सेठ ने कहा कि तुमने जिन स्वप्नों को देखा है उनका अभिप्राय कोई भी साधारण मनुष्य नहीं जान सकता। अतएव उनका ठीक–ठीक अभिप्राय जानने के लिये हम योगिराज के पास चलें।

तत्पश्चात् वे दोनों ही जैनमन्दिर में पूजन कर योगिराज के दर्शन के लिये गये। मुनिराज के पास जाकर उन दोनों ने उन्हें प्रणाम किया। सेठ ने मुनिराज से निवेदन किया कि मेरी पत्नी जिनमति ने रात्रि में सुमेरू पर्वत, कल्पवृक्ष, सागर, निर्धूम–अग्नि और आकाशचारी विमान– इन पाँच को स्वप्नों में देखा है। हम इनका फल जानने आपके पास आये हैं। कृपया आप हमें इनका अभिप्राय समझा दीजिये। मुनिराज बोले कि तुम्हारी पत्नी द्वारा देखे स्वप्नों का तात्पर्य है कि वह योग्य पुत्र को जन्म देगी। स्वप्न में देखे गये सुमेरू, कल्पवृक्ष, सागर, निर्धूमअग्नि और विमान से क्रमशः तुम्हारे पुत्र का धैर्य, दानशीलता, रत्नबहुलता, कर्मों का नाश और देवों की प्रिय–पात्रता सूचित होती है। मुनिराज की वाणी सुनकर दोनों अति प्रसन्न हुये और घर वापिस आये। यथासमय जिनमति ने गर्भ धारण किया, जिससे उसका सौन्दर्य भी प्रतिदिन बढ़ने लगा। सेठ वृषभदास पत्नी को गर्भवती जानकर बहुत प्रसन्न हुए और यत्नपूर्वक उसका संरक्षण करने लगे। **(द्वितीय सर्ग)**

समय आने पर एक दिन शुभ मुहूर्त में जिनमति ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया। पुत्रोत्पत्ति का समाचार पाकर वृषभदास अत्यन्त हर्षित हुए। उन्होंने जिनेन्द्रदेव की पूजन कर अत्यधिक दान दिया। घर में वृद्ध महिलाओं ने मंगलदीप प्रज्ज्वलित किये। वृषभदास ने प्रसूति कक्ष में पहुँचकर पत्नी और पुत्र पर गन्धोदक छिड़का। जिनदर्शन के फलस्वरूप पुत्र–प्राप्ति को स्वीकार करके सेठ ने पुत्र का नाम भी सुदर्शन रखा। बालक अपनी मनोहर चेष्टाओं से घर के सभी लोगों को हर्षित करने लगा। शैशवावस्था समाप्त होने पर कुमार सुदर्शन को विद्याध्ययन के लिये गुरू के पास भेजा गया। शीघ्र ही माँ शारदा के अनुग्रह से वह सभी विद्याओं में पारंगत हो गया।

धीरे–धीरे युवा सुदर्शन का सौन्दर्य प्रतिदिन बढ़ने लगा। एक दिन सागरदत्त वैश्य की पुत्री मनोरमा और सुदर्शन ने जिनमन्दिर में पूजन करते समय एक दूसरे को देखा। तभी से दोनों परस्पर प्रेम करने लगे। धीरे–धीरे यह वृत्तान्त सेठ वृषभदास के कानों में भी पड़ा। सेठ वृषभदास सुदर्शन के विषय में चिन्ता कर ही रहे थे कि वहाँ मनोरमा के पिता सेठ सागरदत्त आ पहुँचे। उसने वहाँ आने का अपना प्रयोजन बताया कि वह सुदर्शन के साथ अपनी पुत्री मनोरमा का विवाह करना चाहता है। वृषभदास ने हर्षित मन से विवाह की स्वीकृति दे दी और एक दिन शुभ–बेला में सुदर्शन और मनोरमा का विवाह भी हो गया। **(तृतीय सर्ग)**

एक बार उस नगर के उपवन में एक मुनिराज आये। चम्पापुरी के नर–नारी उनके दर्शनों को गये। सेठ वृषभदास भी सपरिवार वहाँ गया और मुनिराज को प्रणाम कर उनसे धर्म का स्वरूप पूँछा। मुनिराज ने आशीर्वाद देकर धर्म और अधर्म का स्वरूप और भेद समझाये जिसे सुनकर सेठ वृषभदास का सारा मोह समाप्त हो गया और वे सब कुछ त्याग कर मुनि बन गये। मुनिराज की वाणी और पिता के आचरण से प्रभावित सुदर्शन ने भी मुनिराज के समक्ष मुनि बनने की इच्छा प्रकट की और निवेदन किया कि मेरे हृदय में अपनी पत्नी मनोरमा के लिये अतिशय प्रीति है, जो मुझे मुनि बनने में बाधक है। अतः आप इससे भी मुक्त होने का उपाय बतायें।

तब मुनिराज ने कहा कि हे सुदर्शन ! तुम दोनों में इस अतिशय प्रेम का कारण तुम दोनों के पूर्वकालीन संस्कार हैं। पहले जन्म में तुम और मनोरमा, भील–भीलनी थे। वह भील अगले जन्म में कुत्ता हुआ। एक जिनालय में मरने से वही कुत्ता एक ग्वाले के यहाँ पुत्र–रूप में जन्मा। एक बार उस ग्वाले के पुत्र ने एक सरोवर में एक सहस्रदल कमल तोड़ा। उसी समय आकाश–वाणी हुई कि इस कमल का उपयोग तुम मत करो, तुम इसे ले जाकर किसी महान पुरूष को भेंट कर दो।" यह सुनकर वह बालक कमल भेंट करने इन्हीं सेठ वृषभदास के पास आया। किन्तु इन्होंने वह कमल राजा को समर्पित करना चाहा और वे उस बालक के साथ राजा

के पास पहुँचे। पर सम्पूर्ण सन्दर्भ जानने के बाद राजा ने भी वह कमल जिन भगवान की सेवा में समर्पित करना चाहा और सबको लेकर वे जिनमन्दिर पहुँचे। वहाँ पहुँचकर राजा ने वह कमल–पुष्प ग्वाल–बाल के हाथों से ही भगवान जिनेन्द्र की सेवा में समर्पित करा दिया। इस घटना से प्रभावित होकर सेठ वृषभदास ने उस ग्वाल–बाल को अपने घर का सेवक बना लिया। एक दिन वह गोपबालक जगल में सूखी लकड़ियाँ काटकर घर लौट रहा था। सर्दी का समय था। हिमपात हो रहा था। मार्ग में उसने एक वृक्ष के नीचे समाधिस्थ साधु के दर्शन किये। उनकी दशा को देखकर उसने सोचा कि निश्चय ही इन्हें शीत सता रहा होगा। अतः उसने सामने आग जला दी स्वयं भी बैठ गया। वह सारी रात आग जलाता हुआ वहीं बैठा रहा। प्रातःकाल होने पर साधु की समाधि भंग हुई। उन्होनें बालक को देखा और प्रसन्न होकर **'नमोऽर्हते'** मंत्र का उपदेश दिया तथा यह भी आदेश दिया कि वह प्रत्येक कार्य के पूर्व इस मंत्र का स्मरण कर लिया करे। बालक साधु को प्रणाम कर घर लौट आया और उनकी आज्ञानुसार जीवनयापन करने लगा।

एक दिन जंगल में भैंसों के चराते समय एक भैंस सरोवर में घुस गई। उसे निकालने के लिये वह मंत्र–स्मरण पूर्वक सरोवर में कूदा। वहाँ लकड़ी की नोक की चोट से उसकी मृत्यु हो गई पर उस महामंत्र के प्रभाव से वही बालक सेठ वृषभदास के घर तुम्हारे रूप में उत्पन्न हुआ है। वह भीलिनी भी मरकर भैंस हुई। तत्पश्चात् धोबिन बनी। वह धोबिन आर्यिकाओं के संसर्ग से हिंसा एवं सर्वपरिग्रह का त्याग करके क्षुल्लिका बन गई। अपने निर्मल स्वभाव, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण वह पुनः तुम्हारी पत्नी हुई है। अतः इस समय तुम दोनों धर्मानुकूल आचरण करते हुये सुखपूर्वक अपना जीवन बिताओ।'' यह सुनकर सुदर्शन और मनोरमा दोनों ही मुनिराज द्वारा बताये गये नियमों का पालन करते हुये सुखपूर्वक जीवन–यापन करने लगे। **(चतुर्थ सर्ग)**

एक दिन जिनदेव की पूजन कर लौटते समय तेजस्वी सुदर्शन को देखकर कपिला ब्राह्मणी उस पर मोहित हो गई। छल से उसे बुलाने के

लिये उसने अपनी दासी को सुदर्शन के पास भेजा। दासी ने सुदर्शन के पास जाकर कहा कि हे महापुरूष ! तुम यहाँ निश्चिन्त हो, लेकिन तुम्हारा मित्र अस्वस्थ हो रहा है।" दासी की बात सुनते ही मित्र को देखने की इच्छा से सुदर्शन दासी के साथ कपिला ब्राह्मणी के घर उस कक्ष में गया जहाँ कपिला ब्राह्मणी लेटी थी। सुदर्शन के कुशल समाचार पूँछने पर कपिला ने रति चेष्टायुक्त मधुरवाणी में स्वागत करते हुये उसका हाथ पकड़ लिया। सुदर्शन अपने पुरूष–मित्र के स्थान पर एक रतिकामा स्त्री को देखकर बहुत घबराया। किन्तु उसने अपने को नपुंसक बताकर कपिला ब्राह्मणी से पीछा छुड़ाया और शीघ्रता से घर लौट आया। **(पंचम सर्ग)**

एक बार ऋतुराज वसन्त के आगमन पर चम्पापुरी के सभी निवासी वन–विहार हेतु एक उद्यान को गये। उद्यान में रानी अभयमती भी पहुँची। उसी समय सुदर्शन की पत्नी मनोरमा भी अपने पुत्र को लेकर उद्यान में आई। उसे देखकर वहाँ पर आई हुई कपिला ब्राह्मणी ने रानी से उसका परिचय पूँछा। रानी से सुदर्शन को पुत्रवान जानकर कपिला ने कहा कि सुदर्शन तो नपुंसक है, वह पुत्र उसका कैसे हो सकता है ? पर जब रानी को कपिला की बात का विश्वास नहीं हुआ तो उसने अपने साथ घटित पूर्ण वृत्तान्त रानी को कह सुनाया, जिसे सुनकर रानी ने कहा कि कपिला, सुदर्शन ने झूठ कहकर तुझे धोखा दिया है। इस पर कपिला ने रानी को ही चुनौती दे दी कि वही सुदर्शन को अपने वश में कर दिखाये।

कपिला की चुनौती ने रानी के मन में भी सुदर्शन के प्रति कामभाव जाग्रत कर दिया। वह निरन्तर सुदर्शन की याद कर दुबली होने लगी। रानी की दशा देखकर दासी ने इसका कारण पूँछा तो रानी ने अपनी मनोव्यथा का सही–सही कारण उसे बता दिया। दासी ने पर–पुरूष से दूर रहने के लिये रानी को बहुत समझाया पर रानी के ऊपर उसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। रानी ने उसे डाँटते हुए कहा– "तूं उपदेश बन्द कर और सुदर्शन को यहाँ लाने का प्रबन्ध कर।" रानी की ऐसी हठ–पूर्ण बातों को सुनकर दासी ने अपनी स्वामिनी की मनोभिलाषा पूर्ण करने में ही अपना भला समझा। इस समय स्वामिनी की आज्ञा का पालन करना ही उचित

है। उसने मन में विचार किया कि सुदर्शन अष्टमी और चतुर्दशी की रात्रि में शमशान में प्रतिमायोग में ध्यानशील होते हैं। अतः इस अवस्था में उन्हें पूजा हेतु मिट्टी के पुतले के बहाने रनिवास में लाया जा सकता है। **(षष्ठ सर्ग)**

उस दासी ने मानवाकार मिट्टी का एक पुतला बनवाया। रात्रि में उसे वस्त्र से अच्छी तरह ढककर पीठ पर लाद कर अन्तःपुर में प्रवेश करने का ज्यों ही प्रयत्न किया, त्यों ही द्वारपाल ने उसे बीच में ही रोक दिया। तब दासी ने द्वारपाल से निवेदन किया कि रानी अभयमती एक व्रत कर रही हैं, जिसमें उन्हें मनुष्य के पुतले को पूजना है। यह पुतला मैं उसी उद्देश्य से भीतर ले जा रही हूँ। अतः मुझे जाने दो। द्वारपाल ने दासी की एक न सुनी और अन्दर आती हुई दासी को धक्का देकर जैसे ही बाहर किया, तो पीठ पर रखा 'पुतला' गिरकर टूट गया तो दासी ने जोर–जोर से रोना और द्वारपाल को अपशब्द कहना प्रारम्भ कर दिया। द्वारपाल ने रानी के भय के कारण क्षमा याचना करते हुए उसे अन्दर जाने की अनुमति दे दी। इसप्रकार द्वारपाल की ओर से निश्चिन्त होकर चतुरा दासी राजमहल में प्रतिदिन पुतले लाने लगी।

एक दिन कृष्ण–पक्ष की चतुदर्शी की रात्रि में सुदर्शन शमशान में ध्यानावस्था में बैठा था। दासी ने वहाँ पहुँचकर पहले तो सुदर्शन को रानी के सहवास हेतु प्रेरित एवं उत्तेजित किया, पर जब सुदर्शन की ओर से कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई, तो उसने उन्हें उसी ध्यान–दशा में अपनी पीठ पर लाद कर रोज की भांति अन्तःपुर में ले जाकर रानी के पलंग पर बैठा दिया। सुदर्शन को अपने समीप पाकर रानी बहुत प्रसन्न हुई। उसने वचनों से सुदर्शन को उत्तेजित करने का बहुत प्रयत्न किया। अनेक कामचेष्टायें कीं; जिससे सुदर्शन का ध्यान तो टूटा पर वैराग्य भावना और भी अधिक दृढ़ हो गई। फलस्वरूप उनके ऊपर रानी की काम–चेष्टाओं का कुछ भी असर नहीं हुआ।

अपनी चेष्टाओं को निष्फल देखकर निराश रानी ने दासी से कहा कि "इसे बाहर कर दो"। पर दासी ने समझाया कि इस प्रकार उसे बाहर

ले जाने में भेद खुल जाने का भय है। अतः इसके परित्याग के लिये **'त्रियाचरित'** का प्रयोग करना उचित होगा। यह सुनकर रानी जोर–जोर से चिल्लाकर कहने लगी कि "द्वारपाल दौड़ो, जल्दी आओ, कोई दुष्ट यहाँ घुस आया है और मुझे सताना चाहता है।" **(सप्तम सर्ग)**

सुदर्शन की यह घटना जब नगरवासियों के कानों में पड़ी तो, लोग तरह–तरह की बातें करने लगे। कुछ लोग कहने लगे कि यह तो बड़ी रहस्यमय घटना है। शमशान में स्थित सुदर्शन अन्तःपुर में कैसे प्रविष्ट हुआ? कुछ ने कहा कि सुदर्शन ऐन्द्रजालिक है तथा कुछ ने कहा कि यह राजा का षडयन्त्र प्रतीत होता है। राजा द्वारा चाण्डाल को सुदर्शन का वध करने का आदेश हुआ और उसे चाण्डाल के यहाँ पहुँचा दिया गया। पर चाण्डाल ने जैसे ही तलवार का प्रहार किया, वैसे ही वह तलवार हार बनकर सुदर्शन के गले में सुशोभित होने लगी। यह वृत्तान्त जब राजा को ज्ञात हुआ, तो वह स्वयं ही सुदर्शन को मारने के लिये उद्यत हुआ लेकिन जैसे ही उसने मारने के लिये तलवार ली, वैसे ही आकाशवाणी हुई कि – "यह अपनी स्त्री मनोरमा से ही परम सन्तुष्ट , जितेन्द्रिय तथा सब प्रकार से निर्दोष है। दोषी तो तुम्हारे ही घर का है। अतएव उचित प्रकार से दोषी का निरीक्षण करो।"

इस आकाशवाणी को सुनते ही राजा का सम्पूर्ण मोह नष्ट हो गया। वह सुदर्शन की भाँति–भाँति से स्तुति करके उनके चरण पकड़कर उसी से राज्य करने का निवेदन करने लगा। राजा की बात सुनकर सुदर्शन ने कहा– 'राजन्! मेरे प्रति जो कुछ भी हुआ है, उसमें आपका कोई दोष नहीं है। यह तो सब मेरे पूर्वोपार्जित कर्मों का फल है। आप तो मुझ अपराधी को दण्ड ही दे रहे थे, जो आपके लिये उचित था, किन्तु मैं किसी को भी अपना शत्रु या मित्र नहीं समझता हूँ। इस घटना का मुझ पर कोइ प्रभाव नहीं पड़ा है। महारानी और आप तो मेरे माता–पिता हैं। आपने मेरे साथ यथोचित व्यवहार किया है। प्रत्येक पुरूष को चाहिये कि वह मोक्ष–प्राप्ति हेतु धैर्य पूर्वक मद–मात्सर्य का परित्याग करे। यह प्राणी स्वानुभूति विषयक सुख–दुःख का स्वयं उत्पादक है। अन्य कोई उसे न तो

सुख देता है और न दुःख । अतएव मनुष्य को सुख–दुःख में एक–सी अवस्था धारण करनी चाहिये। सुख, आत्मा की अनुभूति का विषय है, वह राज्य प्राप्त करके नहीं मिल सकता। अतः राज्य तो आप स्वयं करें। मुझे तो अब केवल मोक्ष की चिन्ता करनी है।''

इस घटना के अनन्तर सुदर्शन ने वैराग्य लेने का निश्चय कर लिया। घर जाकर यह निश्चय उसने मनोरमा को भी सुनाया। उसने विचारा कि विष्णु और शंकर को भी डिगाने वाली, सज्जनता का विनाश करने वाली, पापोत्पादक इस सांसारिक माया का परित्याग करना ही ठीक है। मनोरमा ने उसकी इच्छा का समर्थन करते हुये स्वयं भी उसी मार्ग का अनुशरण करने की इच्छा प्रकट की । मनोरमा के वचन सुनकर, सुदर्शन ने जिनालय में जाकर प्रसन्नतापूर्वक भगवान का भजन–पूजन और अभिषेक किया और वहीं पर स्थित विमलवाहन नाम के योगीश्वर के दर्शन कर उन्हीं से दीक्षा लेकर दिगम्बर मुनि बन गया। मनोरमा ने भी सर्व परिग्रह का परित्याग करके आर्यिका व्रत ले लिये।

वास्तविकता सामने आ जाने पर रानी अभयमती ने आत्महत्या कर ली। मरकर वह पाटलिपुत्र में 'व्यन्तरी' देवी हो गई। रानी के आत्म–हत्या कर लेने पर पण्डिता दासी भी चम्पापुरी से भागकर पाटिलपुत्र की प्रसिद्ध वेश्या देवदत्ता के पास पहुँची। उसने वेश्या को सारा हाल सुनाकर वेश्या से भी सुदर्शन को विचलित करने के लिये कहा। **(अष्टम सर्ग)** दिगम्बर मुनि हो जाने पर सुदर्शन घोर तपश्चरण करते हुये पाटिलपुत्र पहुँचें। वहाँ घूमते हुए सुदर्शन को देखकर पण्डिता दासी ने देवदत्ता वेश्या को उकसाया। उस वेश्या ने सुदर्शन को अपने घर बुलवाया और अनेक प्रकार की काम–चेष्टाओं से उसे वश में करना चाहा। जब उसकी चेष्टायें व्यर्थ हुई तो वह सुदर्शन से बोली कि – 'इस अल्पवय में आपने यह व्रत क्यों अपनाया ? परलोक की चिन्ता तो वृद्धावस्था में की जा सकती है। इस समय इस सुन्दर शरीर का आप अनादर क्यों कर रहे हैं ?

यह सुनकर मुनिराज सुदर्शन बोले – 'यह शरीर ऊपर से सुन्दर दिखता है, अन्दर तो घृणित पदार्थों से भरा हुआ है। नश्वर शरीर का सुख

आत्मिक सुख नहीं है। आत्मिक सुख के लिये शरीर के वशवर्ती नहीं रहना चाहिये। तुम्हारा यह मार्ग पर्वत के समान ऊँचा–नीचा है। तुम इन्द्रिय–विषयों में सुख मानती हो, जब कि सुख आत्मा का गुण है। उसका इन्द्रिय–विषयों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

ऐसा विरागयुक्त उत्तर पाकर भी वेश्या सुदर्शन को शय्या पर ले गई और अपने हाव–भाव तथा मधुर वचनों से उसे विचलित करने लगी किन्तु सुदर्शन के ऊपर उन उद्दाम काम–चेष्टाओं का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। इस प्रकार तीन दिन तक भाँति–भाँति के प्रयत्न करके जब देवदत्ता अपने उद्देश्य में सफल नहीं हुई तो वह आश्चर्य–चकित होकर सुदर्शन की प्रशस्ति गाने लगी। उनकी जितेन्द्रियता, धीरता, नम्रता, दृढ़ता और सदाचार की प्रशंसा करती हुई वह बोली– 'मोहान्धकार के कारण मैंने आपके प्रति जो अपराध किया है, उसे क्षमा करें और धर्मयुक्त वचनों से मेरा कल्याण करें। मुनिराज सुदर्शन ने उसे सदाचार और धर्म का स्वरूप समझाकर शुभाशीर्वाद दिया, जिसे सुनकर देवदत्ता का तो सारा मोह नष्ट हो गया और पण्डिता दासी का भी अज्ञान दूर हो गया। वे दोनों ही मुनिराज सुदर्शन से दीक्षा लेकर 'आर्यिका' बन गईं। मुनिराज सुदर्शन भी शमशान में जाकर आत्म–ध्यान में लीन हो गये। एक दिन देवरूप धारिणी व्यन्तरी (आत्मघातिनी रानी अभयमती) ने सुदर्शन को देख क्रोध में आकर उनसे अपशब्द कहे और निर्दयतापूर्वक व्यवहार किया, किन्तु वे इस नश्वर देह की चिन्ता न कर अजर अमर आत्मा के चिन्तन में लगे रहे। इसी अवस्था में उनके रहे–सहे राग–द्वेष भी समाप्त हो गये और वे केवली हो गये। पश्चात् आयुकर्म के अन्त में शेष कर्मों का नाश कर वे मोक्ष भी चले गये।[3] **(नवम सर्ग)**

सुदर्शनोदय में शील की महिमा

'सुदर्शनोदय' के नायक 'सुदर्शन' के शील की महिमा सम्बन्धी प्रसंग अनेक पूर्ववर्ती कवियों द्वारा विरचित कथाकोशों एवं काव्यों में देखने को मिलते हैं। इनमें (1) हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश (2) मुनि नयनन्दिकृत सुदंसणचरिउ (3) रामचन्द्रमुमुक्षकृत पुण्याश्रव कथाकोश (4) नेमीदत्ताचार्यकृत

आराधना कथाकोश (5) सकलकीर्तिकृत सुदर्शनचरित (6) विद्यानन्दि विरचित सुदर्शनचरित उल्लेखनीय हैं।

1. बृहत्कथाकोश में वर्णित शील की महिमा

हरिषेणाचार्य ने बृहत्कथाकोश में शील की महिमा व्यक्त करते हुए लिखा है कि रानी अभयादेवी ने जब से सुदर्शन के रूप–लावण्य की महिमा कपिला ब्राह्मणी से सुनी तो सुदर्शन को पाने की प्रबल इच्छा उसके मन में भी जाग्रत हो गई। अष्टमी के दिन शमशान में प्रतिमायोग में स्थित सुदर्शन को उसने दासी द्वारा महल में उठवा लिया। रानी की दुष्टचेष्टाओं से अप्रभावित सुदर्शन निश्चल ही बैठा रहा। अन्त में रानी द्वारा सुदर्शन पर लगाये गये आरोप के प्रतिकार स्वरूप राजा ने जब शमशान में ले जाकर सुदर्शन का शिरच्छेद करने की घोषणा की, तब तलवार का प्रहार सुदर्शन के गले में पुष्पमाला के रूप में बदल गया। विस्मित हो सभी लोग शील की महिमा के कारण सुदर्शन की परिक्रमा करने लगे।[4]

2. मुनिनयनन्दि विरचित सुदंसणाचरियं में शील की महिमा

सुदंसणचरियं में शील की महिमा का उल्लेख प्रायः बृहत्कथाकोश के अनुसार ही है। अन्तर मात्र इतना ही है कि राजा द्वारा आदेशित भट जैसे ही सुदर्शन पर तलवार का प्रहार करते हैं वैसे ही व्यन्तर देव आकर सभी भटों को रोक देते हैं और तलवारों को पुष्पमालाओं में बदल देते हैं तथा शील की महिमा के प्रभाव से देव आकाश में पुष्पवृष्टि करते हैं।

3. रामचन्द्र मुमुक्षुकृत पुण्यास्रव बृहत्कथाकोश में शील की महिमा

इस कथा कोश में 'सुदंसणचरियं' की कथा से इतना ही अन्तर है कि इसमें ग्वाला रात भर मुनिराज के पास बैठकर उनकी सेवा करता रहा। शेष कथा 'सुदंसणचरियं' के समान ही है।[5]

4. ब्रह्मचारी नेमिदत्त विरचित 'आराधना कथाकोश' में शील की महिमा

आराधना–कथाकोश में कपिल ब्राह्मण एवं उसकी पत्नी कपिला का वृत्तान्त नहीं है। पूर्वग्रन्थों में द्वारपालों को वश में करने के लिये सात

पुतलों का उल्लेख है, परन्तु इसमें एक ही पुतले का उल्लेख आया है। शेष कथा 'बृहत्कथाकोश' के समान है।[6]

5. भट्टारक सकलकीर्ति विरिचित 'श्री सुदर्शनचरित' में शील की महिमा

इसमें सेठ वृषभदास एवं सागरदत्त द्वारा सुदर्शन एवं मनोरमा के विवाह के लिये की गई पूर्व प्रतिज्ञा का वर्णन नहीं है। शेष कथा पूर्व–ग्रन्थों के समान ही है।[7]

6. आचार्य ज्ञानसागर विरचित 'सुदर्शनोदय महाकाव्य' में शील की महिमा

रानी अभयमती द्वारा सुदर्शन पर अनेक आरोप लगाये जाने पर भी जब सुदर्शन किंचित् मात्र भी विचलित नहीं हुए तब राजा की आज्ञानुसार सुदर्शन को मारने के लिये चाण्डाल द्वारा किये गये तलवार के प्रहार सुदर्शन के गले में हार रूप में परिणत हुए देखकर लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। **यथा** –

कृतान् प्रहारान् समुदीक्ष्य हारायितप्रकारांस्तु विचारधारा।
चाण्डालचेतस्युदिता किलेतः सविस्मये दर्शकसञ्चयेऽतः।। 5।।

–सुदर्शनो. सर्ग. 8।

सुदर्शन को मारने के लिये हाथ में तलवार लेकर राजा ज्यों ही स्वयं उद्यत हुआ, तभी उसके अभिमान का नाश करने वाली आकाशवाणी इस प्रकार प्रकट हुई।

स्वयमिति यावदुपेत्य महीशः मारणार्थमस्यान्तनयी सः।
सम्बभूव वचनं नभसोऽपि निम्नरूपतस्तत्स्मयलोपि ।। 9।।

– सुदर्शनो. सर्ग. 8।

जितेन्द्रियो महानेष स्वदारेष्वस्ति तोषवान्।
राजन्निरीक्ष्यतामित्थं गृहच्छिद्रं परीक्ष्यताम्।। 10।।

–सुदर्शनो. सर्ग. 8।

आकाशवाणी सुनकर राजा का अज्ञानान्धकार तुरन्त नष्ट हो गया, और उसके हृदय में कोई अपूर्व प्रकाश प्रकट हुआ। वह विचारने लगा। कवालीयोराग–

समस्ति यताऽऽत्मनो नूनं कोऽपि महिमूर्ध्न्यहो महिमा ।। स्थायी।।
न स विलापी न मुद्वापी दृश्यवस्तुनि किल कदापि।
समन्तात्तत्र विधिशापिन्यदृश्ये स्वात्मनीव हि मा ।। समस्ति.।।1।।

सुदर्शनो. सर्ग. 8।

जितेन्द्रिय महापुरूषों की संसार में कोई अपूर्व ही महिमा है, जो इन बाहरी दृश्य वस्तुओं पर प्रतिकूलता के समय न कभी विलाप करते हैं और न अनुकूलता के समय हर्षित होते हैं। वे तो इस सम्पत्ति–विपत्ति को अदृश्य (विधि) का शाप समझकर सर्व और से अपने मन का निग्रह कर आत्मचिन्तन में निमग्न रहते हैं।

इत्येवं बहुशः स्तुत्वा निपपात स पादयोः।
आग संशुद्धये राजा सुदर्शनमहात्मनः ।। 12।।

सुदर्शनो. सर्ग. 8।

हे सुदर्शन ! मया यदुत्कृतं क्षम्यतामितिविमत्युपार्जितम्।
हृत्तु मोहतमसा समावृतं त्वं हि गच्छ कुरू राज्यमप्यतः।। 13।।

सुदर्शनो. सर्ग. 8।

इस प्रकार बहुत भक्ति–पूर्वक सुदर्शन की स्तुति करके वह राजा अपने अपराध को क्षमा कराने के लिये महात्मा सुदर्शन के चरणों में गिर गया और कहने लगा कि हे सुदर्शन ! मैंने कुबुद्धि के वश होकर जो तुम्हारे साथ अपराध किया है, उसे क्षमा करो। मैं उस समय मोहान्धकार से घिरा था। आज से तुम्हीं राज्य करो।

सुदर्शनोदय में गृहस्थाचार

महाकवि ज्ञानसागर ने अपनी रचनाओं में अनेक विषयों का वर्णन करने के साथ–साथ गृहस्थाचार का भी वर्णन किया है। गृहस्थ का

सद्–आचार और विचार ही गृहस्थाचार है। घर में रहकर भी गृहस्थ सदाचरण द्वारा परिवार, समाज एवं राष्ट्र के समुन्नयन में अपना बड़ा योगदान देता है। सुदर्शनोदय महाकाव्य में गृहस्थाचार के विषय में कहा है कि "किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करें"– इस आर्ष–वाक्य को धर्म के विषय में प्रमाण मानते हुए अपराधी जीवों की भी यथाशक्ति रक्षा करना चाहिये तथा निरपराध प्राणियों की तो विशेष रूप से रक्षा करना चाहिये।

यथा – मा हिंस्यात्सर्वभूतानीत्यार्षं धर्मे प्रमाणयन्।
सागसोऽयङ्गिनो रक्षेच्छक्त्या किन्नु निरागसः।। 41 ।।

सुदर्शनो. सर्ग. 4 ।

सदा उत्तम सत्य वचन बोले, दूसरे से मर्मच्छेदक और निन्दापरक सत्य वचन भी न कहे, किसी की बिना दी हुई वस्तु न लेवे और अपनी उन्नति को चाहने वाला पुरूष दूसरे का उत्कर्ष देखकर मन में असहनशीलता (जलन–कुढ़न) का त्याग करे। दूसरे की शय्या का (अर्थात् पुरूष परस्त्री के और स्त्री पर–पुरूष के सेवन का) त्याग करे और पर्व के दिनों में पुरूष अपनी स्त्री का और स्त्री अपने पुरूष का सेवन न करे। सदा अनामिष–भोजी रहे, (मांस को कभी न खावे) किन्तु अन्न–भोजी और शाकाहारी रहे एवं वस्त्र से छने हुए जल को पीवें। यथा–

प्रशस्तं वचनं ब्रूयाददर्त्तं नाऽऽददीत च।
परोत्कर्षासहिष्णुत्वं जह्याद्वाञ्छन्निजोन्नतिम्।। 42 ।।

सुदर्शनो. सर्ग. 4।

न क्रमेतेतरत्तल्पं सदा स्वीयञ्च पर्वणि।
अनामिषाशनीभूयाद्वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।। 43।।

सुदर्शनो. सर्ग. 4।

गृहस्थ मदमोह (नशा) उत्पन्न करने वाली मदिरा, भांग, तम्बाकू आदि नशीली वस्तुओं का सेवन न करें। विनीत भाव धारण करके वृद्धजनों की आज्ञा स्वीकारें। सभी के उपकार के लिये गृहस्थाचार सुखदायक साधारण (सामान्य, सरल) धर्म–मार्ग है, परमार्थ की इच्छा से तुम्हें इसे

स्वीकार करना चाहिये –

नमदाचरणं कृत्वा गृह्णीयाद् वृद्धशासनम्।
परमप्यनुगृह्णीयादात्मने पक्षपातवान्।। 44।।

सुदर्शनो. सर्ग. 4।

सर्वेषामुपकाराय मार्गः साधारणो ह्ययम्।
युवाभ्यामुररीकार्यः परमार्थोपलिपस्या।। 45।।

सुदर्शनो. सर्ग. 4।

दोनों ने मुनिराज के मुख से गृहस्थाचार का वर्णन सुना और स्वीकृति सूचक 'ओम्' का उच्चारण कर विनम्रीभूत हो उनके चरणों में नमन किया। (46–सुदर्शनो. सर्ग. 4)

इसके पश्चात् मनोरमा और सुदर्शन आपस में एक दूसरे के गुणों में अनुरक्त–चित्त रहते हुए प्रतिदिन अर्हन्त देव की पूजा–अर्चना करके और पात्रों को नवधा–भक्ति पूर्वक दान देकर उत्तम पुण्य के निधान बनकर इन्द्र इन्द्राणी के समान आनन्द से काल व्यतीत करने लगे तथा अपने वैभव ऐश्वर्य से रति और कामदेव का भी तिरस्कार करते हुये सांसारिक भोगोपभोग का अनुभव करते हुए अपना जीवन बिताने लगे। यथा –

अन्योन्यानुगुणैकमानसतया कृत्वाऽर्हदिज्याविधिं।
पात्राणामुपतर्पणं प्रतिदिनं सत्पुण्यसम्पन्निधी।।
पौलीमीशतयज्ञतुल्यकथनौ कालं तकौ निन्यतुः।
प्रीत्यम्बेक्षुधनुर्धरौ स्वविभवस्फीत्या तिरश्चक्रतुः।। 47।।

सुदर्शनो. सर्ग. 4।

सन्दर्भ –

1. तत्त्वार्थवार्तिक, अ. 1 सूत्र 20। धवला, पृ. 1 पृ. 103।
2. सुदर्शनोदय प्रस्तावना, पृ. 14।
3. डॉ. किरण टण्डन, महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन, पृ. 36–44।

4. वही पृष्ठ सं. 90।
5. रामचन्द्रमुमुक्षुविरचित पुण्याश्रव कथाकोश, 2/17 वी. गाथा।
6. ब्रह्मचारी नेमिदत्तविरचित आराधना कथाकोश 1/21।
7. भट्टारक सकलकीर्तिविरचित सुदर्शनचरित, पं. हीरालाल शास्त्री पन्नालाल दिगम्बर जैन सरस्वती भवन व्यावर से प्राप्त हस्तलिपि की प्रतिलिपि पर आधारित।

परिच्छेद–4

भद्रोदय महाकाव्य की समीक्षा

आचार्य श्री ज्ञानसागर ने भद्रोदय महाकाव्य में अपना लाघव प्रदर्शित करते हुए सब गुरू–कृपा का ही फल बतलाया है, साथ ही सत्य की महिमा को अस्तित्व और नास्तित्व के विधि एवं निषेघ द्वारा बहुत ही सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त किया है। इस में समुद्रदत्त द्वारा व्यापार की अनुमति लेते समय, पिता–माता आदि का वार्तालाप, रत्नों के हरण होने के समय उन्मत्त समुद्रदत्त की दीन पुकार तथा रानी की सद्बुद्धि एवं कुशलता–सूचक प्रयासादि सभी दृश्य रोमांचकारी रूप में प्रदर्शित किये गये हैं।[1] भद्रोदय की विषय–वस्तु को नौ सर्गों में प्रतिपादित किया गया है।

कथावस्तु

श्री पद्मखण्ड नामक नगर में सुदत्त नाम का एक वैश्य रहता था। उसकी पत्नी का नाम सुमित्रा था। उन दोनों के सरलस्वभावी भद्रमित्र नामक एक पुत्र हुआ। एक दिन उसके मित्रों ने उसे समझाया कि वैश्यों को व्यावसायिक वृत्ति वाला होकर अपनी आजीविका की चिन्ता स्वयं करनी चाहिये। अतः जीवन–यापन हेतु धनार्जन के लिये हमें रत्न–द्वीप जाना चाहिये। **(प्रथम सर्ग)**

उच्च–शिखरों वाले विजयार्द्ध पर्वत के उत्तर में अलका नाम की नगरी में अत्यन्त यशस्वी महाकच्छ नामक राजा राज्य करता था। उसकी रानी दामिनी थी और पुत्री का नाम प्रियङ्गुश्री था। जब वह युवती हुई तो राजा को उसके विवाह की चिन्ता हुई। एक ज्योतिषी ने बताया कि प्रियङ्गुश्री का विवाह स्तवकगुच्छ के महादानी राजाधिराज ऐरावण के साथ होगा। यह सुनकर राजा ने स्तवकगुच्छ नगरी के राजा ऐरावण की परीक्षा ली और पुत्री के लिये उसे योग्य समझकर उससे अपनी कन्या के

साथ विवाह करने का निवेदन किया। ऐरावण ने स्वीकृति देकर प्रियंगुश्री को स्तवकगुच्छ में लाने के लिये कहा। अलकापुरी से स्तवकगुच्छ लाते समय मार्ग में प्रियङ्गुश्री से विवाह करने के इच्छुक वज्रसेन नाम के एक अन्य पुरूष से महाकच्छ की मुठभेड़ हो गई। यह बात ऐरावण ने सुनी। उसने शीघ्रता से आकर वज्रसेन को पराजित कर प्रियङ्गुश्री के साथ विवाह कर लिया। वज्रसेन ने निराश होकर जिनदीक्षा ले ली और ऊपरी मन से तपस्या करने लगा। **(द्वितीय सर्ग)**

मित्र की बातों से भद्रमित्र बहुत प्रभावित हुआ और घर आकर देशान्तर जाने के लिये पिता से आज्ञा मांगी। पिता ने कहा "मेरी तो स्वयं की इतनी अधिक आय है कि तुन्हें धनार्जन करने की कोई आवश्यकता नहीं है फिर तुम मेरे एकमात्र पुत्र हो, इसलिये तुम्हारा जाना मेरे लिये कष्टप्रद होगा"। अन्ततोगत्वा माता–पिता से अनुमति पाकर भद्रमित्र साथियों सहित रत्नद्वीप पहुँचा। वहाँ उसने सात रत्न प्राप्त किये। इसके पश्चात् वह सिंहपुर गया। उस समय सिंहपुर में राजा सिंहसेन राज्य करता था। उसकी पत्नी रामदत्ता और मंत्री श्रीभूति था। उसने अपने को सत्यवादी प्रचारित कर रखा था। उसने गले में छुरी बाँध रखी थी कि यदि कभी उसके मुँह से असत्य बात निकली तो वह उसी से अपनी जीभ काट लेगा। इस झूठे गुण के कारण ही राजा से उसने **'सत्यघोष'** नाम भी पा लिया था।

सिंहपुर में भद्रमित्र का परिचय इसी सत्यघोष मंत्री से हुआ। उसने सत्यघोष को बहुत–सा पुरस्कार देकर उससे अपने माता–पिता को सिंहपुर में ही बसाने की आज्ञा ले ली। वह अपने सातों रत्न सत्यघोष को सौंपकर माता–पिता को लेने चला गया। अपने घर से लौटकर भद्रमित्र ने सत्यघोष से अपने रत्न मॉगे तो उसने स्वीकार ही नहीं किया कि भद्रमित्र उसे अपने रत्न सौंप गया था। जब भद्रमित्र ने अनेक प्रकार से अपनी बात को प्रमाणित करने की चेष्टा की तो पहरेदारों ने पागल कहकर उसे बाहर निकाल दिया। निराश होकर भद्रमित्र एक निश्चित समय पर वृक्ष पर चढ़कर सत्यघोष की झूठी कीर्ति की निन्दा करते हुए उसकी प्रतिष्ठा नष्ट

होने का शाप देने लगा। उसके विलाप को रानी ने भी सुना तो उसने राजा से कहा कि यह पुरूष सत्यघोष की निन्दा करता है, उसका कारण पागलपन नहीं, अपितु सत्यघोष से सम्बन्धित कोई रहस्य है। अतः रहस्योद्घाटन होना चाहिए।[1]

राजा के जाने के बाद, अनायास ही उपस्थित हुये सत्यघोष को रानी ने आदर सहित शतरंज खेलने के लिये आमन्त्रित किया। अपनी बातों में उसे भुलावे में डालकर रानी ने उससे यज्ञोपवीत, छुरी और मुद्रिका तीनों वस्तुएँ जीत ली। फिर दासी को तीनों वस्तुएँ सौंप कर आदेश दिया कि मन्त्री के घर उसकी पत्नी को ये तीनों वस्तुएँ देकर भद्रमित्र की रत्नों की पोटली ले आओ। दासी ने मन्त्री के घर जाकर वे तीनों वस्तुएँ उसकी पत्नी को सौंपकर भद्रमित्र की रत्नों की पोटली प्राप्त कर ली और लाकर रानी को सौंप दी। **(तृतीय सर्ग)**

रानी ने वे रत्न राजा को सौंप कर भद्रमित्र की परीक्षा के लिये उन रत्नों में और भी रत्न मिला दिये। किन्तु भद्रमित्र ने रत्नसमूह में से अपने सात रत्नों को छाँटकर उठा लिया। राजा ने भद्रमित्र का सत्याचरण देखकर उसे राजश्रेष्ठी बना दिया और दुष्ट सत्यघोष को अपदस्थ कर कठोर दण्ड दिया। राजसेठ बन जाने के बाद भद्रमित्र ने वरधर्म नामक मुनिराज के दर्शन किए। फलस्वरूप वह अपनी सम्पत्ति का अतिशय दान करने लगा। उसके दानशील स्वभाव से रूष्ट होकर उसकी माता ने प्राण त्याग दिये। वह मरकर व्याघ्री हुई। एक दिन उस व्याघ्री ने भद्रमित्र को खा लिया। उसने रानी रामदत्ता और राजा सिंहसेन के पुत्र के रूप में जन्म लिया उसका नाम सिंहचन्द्र रखा गया। बाद में सिंहचन्द्र का एक छोटा भाई पूर्ण–चन्द्र भी हुआ। **(चतुर्थ सर्ग)**

आर्यिका रामदत्ता के उपदेश से पूर्णचन्द्र अर्हन्त देव की पूजन करते हुये गृहस्थ–धर्म को पालने लगा। अपराधियों को दण्ड देने और निरपराधों को अभय देने के विषय में भी वह सावधान रहने लगा। रामदत्ता आर्यिका ने अन्त में योग–समाधि द्वारा अपने शरीर को त्यागा। फलस्वरूप वह सोलह सागर की आयु वाले भास्कर देव के रूप में स्वर्गिक सुख भोगने

लगी। इधर सत्यघोष ने मरकर अजगर योनि में जन्म लिया। उसने कंचनगिरि में रश्मिवेग, श्रीधरा और यशोधरा को खा लिया। ये तीनों चौदह सागर की आयु प्राप्त करके कापिष्ठ स्वर्ग के देव हुये। वह अजगर मरकर पंकप्रभा नरक में दुःसह कष्ट भोगने लगा। **(पंचम सर्ग)**

सिंहचन्द्र का जीव स्वर्ग से आकर राजा अपराजित और रानी सुन्दरी का पुत्र चक्रायुध हुआ। जब वह युवक हुआ तो उसका संयोग चित्रमाला प्रधान पाँच हजार बालाओं से हुआ। रश्मिवेग का जीव चित्रमाला के वज्रायुध नामक पुत्र हुआ। इस प्रकार चक्रायुध का समय बीत ही रहा था कि उसके उद्यान में पिहिताश्रव नामक मुनिराज का आगमन हुआ। राजा अपराजित ने जब उनका दर्शन कर अपने पूर्वजन्म का वृतान्त सुना तो उनके मन में भी वैराग्य आ गया। अतः सब कुछ त्याग कर वे दिगम्बर मुनि बन गये। अपराजित के पश्चात् चक्रायुध राजा बना। **(षष्ठम सर्ग)**

एक दिन बज्रायुध शिर में सफेद बाल देखकर और अपनी वृद्धावस्था का अनुभव कर संसार से विरक्त हो गया। शरीर और भोगों को अस्थिर तथा आत्मा के अविनाशीपन को विचार कर उसने अपने पुत्र वज्रायुध को सम्पूर्ण राज्य सौंप दिया और मुनि बनने के लिये वन को प्रस्थान किया। **(सप्तम् सर्ग)** वहाँ अपराजित मुनिराज ने उसे जैनधर्मानुसार धर्माचरण का उपदेश दिया। उनके उपदेश से प्रभावित चक्रायुध ने भी सर्वस्व त्यागकर मुनिदीक्षा ले ली। **(अष्टम सर्ग)** मुनि होकर पाँच महाव्रतों का पालन करते हुए वह आत्मध्यान में रमने लगा। नश्वर शरीर की चिन्ता छोड़कर उपवासादि तपों से रागद्वेष से विभुक्त होकर अन्त में केवलज्ञान पा लिया तथा अपने आस–पास के वातावरण को पाप से सर्वथा रहित कर दिया।[2] **(नवम सर्ग)**

समुद्रदत्त चरित की कथा का उद्देश्य

समुद्रदत्त चरित में 'सुदर्शनोदय' के समान ही नव सर्ग हैं। इसमें भद्रमित्र के जन्म–जन्मान्तरों का वर्णन है। इसके माध्यम से कवि ने अस्तेय नामक महाव्रत की शिक्षा दी है और चोरी एवं असत्य भाषण के दुष्प्रभाव से बचने के लिये पाठकों को सावधान किया है। इस काव्य में

पुनर्जन्मवाद और कर्मफलवाद का वर्णन इस प्रकार किया गया है कि पाठक पूर्वजन्म और वर्तमान जन्म का तालमेल बिठाते समय वास्तविक कथा भूल जाता है। वैसे भी इस काव्य को रचने का उद्देश्य किसी रोचक घटना विशेष को प्रस्तुत करना नहीं है कथा तो काव्य के उद्देश्य (अस्तेय की शिक्षा) की सहायिका के रूप में आई है। सम्पूर्ण काव्य पढ़ने पर एक ही निष्कर्ष निकलता है– **'सत्यमेव जयते नानृतम्'।** इसके अतिरिक्त इस काव्य की रचना का दूसरा उद्देश्य है – काव्य के माध्यम से जैन धर्म के सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना। इस काव्य का मुख्य उद्देश्य 'नायक का वैराग्य एवं सत्य की विजय'' में छिपा हुआ है।

अन्त में भद्रमित्र सांसारिक पदार्थों का परित्याग करके केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है। अतः सत्य की विजय होती है, यही कथा का मुख्य उद्देश्य है।[3]

सन्दर्भ –

1. ब्र. पं. भूरामल शास्त्री, समुद्रदत्तचरित, पृ. 3।
2. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन, पृ. 44–49।
3. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्या, पृ. 136–137।

परिच्छेद–5

दयोदय चम्पू की कथावस्तु की प्राचीनता

महाकवि ज्ञानसागर ने **दयोदय चम्पू** की कथावस्तु की प्राचीनता के विषय में लिखा है कि दयोदय में जिसप्रकार मृगसेन धीवर की कथा दी गई है, ठीक उसी प्रकार से हरिषेणाचार्य रचित बृहत्कथाकोश में भी दी गई है। दोनों के कथानकों में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं है। मृगसेन धीवर की कथा **यशस्तिलकचम्पू** में भी पाई जाती है जिसका रचनाकाल शक् सं. 881 है अर्थात् हरिषेण कथाकोश के 28 वर्ष पीछे यशस्तिलक चम्पू रचा गया है, फिर भी दोनों के कथानकों में जो नाम आदि की विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। इससे ज्ञात होता है कि दोनों को यह कथानक अपने–अपने रूप में ही पूर्व परम्परा से प्राप्त हुआ था।

मृगसेन की कथा आचार्य सोमदेवकृत **यशस्तिलकचम्पू** के सिवाय ब्रह्मचारी नेमिदत्त कृत **आराधना कथाकोश** में भी पाई जाती है। आराधना कथाकोश के अन्त में कथानक का उपसंहारात्मक 'अन्यग्रन्थे' कहकर जो **'पञ्चकृत्वः किलैकस्य'** इत्यादि श्लोक दिया है, वह यशस्तिलकचंम्पू का ही है, जो कि उपासकाध्ययन प्रकरण के छब्बीसवें कल्प के अन्त में पाया जाता है। इससे सिद्ध है कि आराधना कथाकोश के रचयिता सोमदेव से बहुत पीछे हुए हैं। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उन्होंने मृगसेन धीवर की कथावस्तु **यशस्तिलक** से ली है।

दयोदय के मूल कथानक का रूप तो उक्त दोनों ग्रन्थों के समान ही है पर दयोदय चम्पू का कथानक संक्षिप्त है। इसलिये कथावस्तु के कुछ अँशों की इसमें चर्चा नहीं की गई है।

मैत्रेयोपनिषद् के तीसरे अध्याय के उन्नीसवें सूत्र में भी लिखा है कि देश काल की अपेक्षा न करके मैं दिगम्बर सुखी हो रहा हूँ।

इसीप्रकार **तुरीयोपनिषद्** में कहा है कि सब कुछ को जल में विसर्जन करके दिगम्बर इत्यादि।[1] **सन्यासोपनिषद्** में भी लिखा है कि सब कुछ छोड़कर देह मात्र को धारण करते हुए तत्काल के पैदा हुए बालक सरीखा दिगम्बर निर्विकार हो जावे तथा सन्यासी तत्काल के पैदा हुये बालक सरीखा होता है। इत्यादि रूप से जगह–जगह साधु का स्वरूप दिगम्बर ही लिखा हुआ मिलता है।

किञ्च अयि दयिते! पुराणग्रन्थेषु तु भूरिश एव दिगम्बरप्रशंसाऽस्ति।

नग्नरूपो महाकायः सितमुण्डो महाप्रभः।
मार्जिनीं शिखिपत्राणां कक्षायां स हि धारयन्।।

पुराण–ग्रन्थों में तो दिगम्बर की कई जगह प्रशंसा आई है। **पद्मपुराण** के भूमि–काण्ड के अध्याय पैंसठ में लिखा है– 'जो साधु नग्न रूप को धारण किये हुये है, लम्बे कद का है, सफेद शिर वाला है, अच्छा कान्ति वाला है और अपनी कांख में एक मोर पंखों की पीछी लिये हुये है।[2]

पद्मासनः समासीनः श्याममूर्ति दिगम्बरः।
नेमिनाथः शिवोऽथैवं नाम चन्द्रस्य वामन !।।

इसी प्रकार **स्कन्धपुराण** के प्रभास–खण्ड के छठे अध्याय में भी लिखा है– 'हे वामन! आप ठीक समझो कि जो पद्मासन से बैठे हुए है, काले शरीर वाले हैं, दिगम्बर (वस्त्र रहित) हैं वे नेमिनाथ ही कल्याण रूप शिव के रूप हैं' इत्यादि। दयोदय की कथावस्तु की प्राचीनता को व्यक्त करते हुये **ऋग्वेद** के मण्डल 2 अध्याय 4 सूक्त 30 में लिखा है कि "हे अर्हन्! आप धर्म रूप वाणों को, उत्तम उपदेश रूप धनुष को, अनन्त ज्ञानादि रूप आभूषणों को धारण करते हो, संसारी लोगों के रक्षक हो एवं काम क्रोधादि–शत्रुओं को भगाने वाले भी हो, आपके समान दूसरा बलवान् नहीं है।" इत्यादि। **ऋग्वेद** के मण्डल 5 अध्याय छह के सूक्त छियासी में लिखा है कि– "समुद्र सरीखे क्षोभ–रहित श्री अर्हन्त भगवान से शिक्षा पाकर ही देव लोग पवित्र बनते हैं। **ऋग्वेद** के मण्डल 2 अध्याय 11 सूक्त

3 में लिखा है– "हे अग्निदेव! इस वेदी पर सब मनुष्यों से पहले अर्हन्त की ही पूजा करो, उनके दर्शन करो, फिर उनका आह्वानन करो, पवनदेव और अच्युतेन्द्र देवादि की भाँति उनकी पूजा करो।" इसीप्रकार बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि का वर्णन **अथर्ववेद** में भी है –

त्यमूषु वाजिनं देवजूतं सहावानं तरूतारं रथानां।
अरिष्टनेमि पृतनजिमाशु स्वस्तये तार्क्ष्यमिहाहुवेम्।।[3]

स्वर्गीय घोड़ों सरीखे घोड़े जिसमें जुते हुए हैं उस रथ को चलाने वाले अरिष्टनेमि भगवान् हमारा कल्याण करें। हम लोग उनका इस यज्ञ में आह्वानन करते हैं। **श्रीमद्भागवत** के छठे अध्याय में उन्नीसवें श्लोक में लिखा है कि जो बार–बार अनुभव में आने योग्य इन सांसारिक विषय–भोगों में अभिलाषा रहित हो चुका था और चिरकाल से सोई हुई बुद्धि वाले अर्थात् भूले हुये दुनियाँ के जन–समूह पर अवर्णनीय दयावृत्ति द्वारा जिसने लोगों को कल्याण–मार्ग में लगाया था, उन ऋषभदेव के लिये नमस्कार है।

श्रीमद्भागवत में यह भी लिखा है कि ऋषभदेव ने ही तपस्या करके परमहंस मार्ग को प्रगट किया है– "ऋषभदेव महाराज नाभिराजा के उत्तम पुत्र हुए हैं, जिन्होंने कि साम्यवाद को अपना कर अर्थात शत्रु, मित्र, तृण, कञ्चन , जंगल और नगर में समबुद्धि को रखते हुए उत्तमोत्तम योगाभ्यास किया था। जिस योगाभ्यास को ऋषि लोग परमहंस अवस्था कहते हैं, उस अवस्था को धारण कर वे श्री ऋषभदेव स्वस्थ, इन्द्रिय–विजयी और परिग्रह–रहित हो गये थे।

उसी समय विष्णु भगवान महर्षि लोगों के द्वारा प्रसन्न हो जाने से नाभिराजा की इच्छा को पूरी करने अन्तःपुर में महारानी मरूदेवी की कूख में दिगम्बर महर्षियों के धर्म को प्रगट करने की इच्छा से ऊँची श्वेत वर्ण वाली शरीरलता को लेकर अवतरित हुए। महात्मा ऋषभदेव जी की तपस्या के बल से उनकी विष्टा में भी ऐसी गन्ध हो गई थी जो दस योजन तक चारों ओर की वायु को सुगन्धित कर देती थी।

इस प्रकार ऋषभावतार की बढ़ाई मार्कण्डेय पुराण/ कूर्मपुराण/ अग्निपुराण/वायुमहापुराण/विष्णुपुराण/ स्कन्धपुराण/ शिवपुराण आदि में लिखी हुई है। जिसके अनुयायी जैन लोग होते हैं और उन्हें ही आदर्श मानकर महापुरूष परमहंस अवस्था पा जाते हैं। दयोदय काव्य में वर्णित पौराणिक प्रमाण उसकी प्राचीनता के द्योतक हैं।

दयोदय चम्पू की कथा

उज्जैन में एक मृगसेन धीवर रहता था। वह रोज अपना जाल लेकर मछलियाँ पकड़ने जाता था। एक दिन मार्ग में अवन्ती पार्श्वनाथ के मन्दिर पर उसने लोगों की भीड़ देखी। कौतूहल वश वह भी वहाँ जा पहुँचा। वहाँ उसने देखा कि एक दिगम्बर मुनिराज अहिंसा–धर्म का उपेदश दे रहे हैं और अनेक लोग अहिंसाव्रत को स्वीकार कर हिंसा का त्याग कर रहे हैं। उसने भी सोचा कि हिंसा करना पाप है, पर मेरी तो आजीविका ही हिंसामय है। यदि मैं हिंसा का त्याग कर दूँ तो मेरी और मेरे घरवालों की गुजर कैसे होगी ? मन में बहुत देर तक इसी उधेड़–बुन में लगा रहा कि मैं क्या करूँ और कौन–सा व्रत लूँ ? अन्त में साहस करके उसने मुनिराज को प्रणाम कर कहा– कि "भगवन् ! मुझ पापी को भी कोई व्रत देकर अनुगृहीत करें"। मुनिराज ने उसकी सर्व परिस्थिति का विचार कर उससे कहा– "यद्यपि तेरी जीविका ही पापमय है, फिर भी तू इतना तो त्याग कर ही सकता है कि तेरे जाल में सबसे पहले जो जीव आवे, उसे नहीं मारकर जीवित ही जल में छोड़ दे।" उसने इसे स्वीकार कर लिया।

व्रत लेकर धीवर क्षिप्रा नदी पर पहुँचा और जाल को पानी में डाला। पहली ही बार में एक बड़ी मछली जाल में आई। उसने मुनिराज से ग्रहण किये हुए व्रत की याद करके उसे पकड़ना उचित न समझा। "वही पुनः जाल में आकर न मारी जाये"– इस विचार से कपड़े की एक धज्जी उसके गले में बाँधकर उसे पानी में छोड़ दिया। इसके पश्चात् उसने चार बार और जाल पानी में फेंका, परन्तु हर बार वही मछली जाल

में आती रही और उसे चिन्ह–युक्त देखकर हर बार वह उसे छोड़ता गया। अन्त में वह खाली हाथ ही घर लौटा। पति को खाली हाथ आता देखकर उसकी घण्टा नाम की स्त्री ने उस पर क्रोध प्रकट किया और शीघ्र ही झोपड़ी का द्वार बन्द कर लिया।

मृगसेन बाहर ही पञ्च नमस्कार मन्त्र का स्मरण कर एक पुराने काठ पर सो गया। रात्रि में एक सर्प ने आकर उसके प्राण हर लिये। प्रातःकाल घण्टा उसे मरा हुआ देखकर अत्यधिक शोकाकुल हो गई और "जिस पवित्र व्रत का पालन इसने किया, मैं भी उसी का पालन करूँगी। अगले जन्म में भी यही मेरा स्वामी हो– "ऐसा निश्चय करके उसने मृगसेन के साथ ही अग्नि में प्रवेश कर लिया।

विशाला नगरी में विश्वंभर नामक राजा और बिम्बगुणा रानी रहते थे। उसी नगर में गुणपाल सेठ और धनश्री सेठानी भी साथ रहते थे। उनकी सुबन्धु नाम की पुत्री थी। धनश्री के गर्भ में मृगसेन धीवर का जीव आया। राजा विश्वंभर ने अपने मन्त्री–पुत्र नर्मधर्म के लिये गुणपाल से उसकी पुत्री सुबन्धु की याचना की, किन्तु नर्मधर्म के दुराचरण से भयभीत गुणपाल के मन में सुबन्धु को देने का साहस नहीं हुआ। सर्वनाश रोकने हेतु गुणपाल ने अपनी गर्भिणी स्त्री को अपने मित्र श्रीदत्त सेठ के घर ठहरा दिया और पुत्री को लेकर चुपचाप कौशाम्बी नगर में पहुँच गया।

एक दिन श्रीदत्त के घर शिवगुप्त और गुप्त नामक दो मुनिराज आये। वहाँ गर्भणी धनश्री को देखकर गुप्त मुनिराज ने ज्येष्ठ मुनिराज से पूँछा– कि "कौन दुःखदायी पुत्र इसके गर्भ में है, जिसके कारण यह स्त्री इतनी दुःखी दिखाई दे रही है"? – यह सुनकर शिवगुप्त मुनिराज ने कहा कि "यह सेठानी अभी तो दुःखी दिखाई दे रही है, लेकिन दुःख के दिन बीत जाने पर इसका पुत्र जैनधर्म का धुरन्धर होगा। राजश्रेष्ठी के पद को प्राप्त करके विश्वंभर राजा की कन्या का पति होगा। दुष्ट श्रीदत्त मुनिराज के वचनों को सुनकर गर्भस्थ बालक को मारने की इच्छा करने लगा।

धनश्री ने यथासमय पुत्र को जन्म दिया। प्रसूति के कष्ट से वह मूर्छित हो गई। श्रीदत्त ने वृद्ध स्त्रियों से घोषणा करा दी कि "मरा हुआ बालक उत्पन्न हुआ है" और सद्योजात शिशु को वध हेतु एक चाण्डाल के हाँथों सौंप दिया। चाण्डाल ने उस बालक के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उसे मारने के बदले एकान्त स्थान में छोड़ दिया और घर चला गया। श्रीदत्त का बहिनोई सेठ इन्द्रदत्त घूमता हुआ उसी स्थान पर पहुँचा। ग्वालों से उस बालक का समाचार जानकर निःसन्तान होने के कारण बालक को सहर्ष उठा लिया और घर पर अपनी स्त्री राधा से उसका पालन करने को कह दिया।

श्रीदत्त ने जब यह समाचार सुना तो वह इन्द्रदत्त के घर आया और कपटपूर्वक बहिन के साथ उस बालक को अपने घर ले गया। बालक को मारने की इच्छा से उसने उसे एक चाण्डाल को दे दिया। बालक की रूप–सम्पदा से द्रवित होकर चाण्डाल ने उसे घने वृक्षों के बीच एकान्त स्थान में नदी के किनारे रख दिया और घर चला गया। सन्ध्याकाल में ग्वालों ने उस बालक को उठाकर ग्वालों के मुखिया गोविन्द को दे दिया। पुत्र की इच्छा से गोविन्द ने भी उसे अपनी स्त्री सुनन्दा को सौंप दिया। उन्होंने उस बालक का नाम धनकीर्ति रखा और बड़े स्नेह से उसका पालन करने लगे। धीरे–धीरे बढ़ते हुए धनकीर्ति को एक दिन दुष्ट श्रीदत्त ने फिर देख लिया। उस दुष्ट ने अपने एक पत्र में अपने पुत्र महाबल को सम्बोधित करते हुए लिखा कि इस कुल के नाशक व्यक्ति को अवश्य ही मार देना। उस पत्र को लेकर धनकीर्ति पिता और सेठ की अनुमति से शीघ्रता से गन्तव्य की ओर चल दिया।

उज्जयिनी में वह एक महान आम्रवन में राह की थकान दूर करने के लिये एक वृक्ष के नीचे सो गया। थोड़ी देर में वहां अनङ्गसेना वेश्या आई और उसने उस युवक को सोते देखा। पूर्वजन्म के उपकार के कारण उत्पन्न स्नेह के वश उसने पास रखे पत्र को पढ़कर उसके अक्षरों पर विचार किया तथा अपने नेत्र के काजल को सलाई में लगाकर उस पत्र

में लिखा" मेरी भार्या ! यदि तुम मुझसे स्नेह करती हो और पुत्र महाबल ! यदि तुम मुझे अपना पिता समझते, हो तो मेरी अपेक्षा के बिना ही धूम–धाम से मेरी पुत्री श्रीमती इसको विवाह देना।" ऐसा करके वह वेश्या पत्र को पूर्ववत् रखकर चली गई।

धनकीर्ति सोकर उठा और घर जाकर उसने वह पत्र माता को सौंप दिया। शीघ्र ही उसका विवाह श्रीमती के साथ कर दिया । इस वृत्तान्त को सुनकर श्रीदत्त ने व्याकुल–मन से लौट कर नगर के बाहर चण्डिका के मन्दिर में एक पुरूष को धनकीर्ति के वध के लिये नियुक्त कर दिया। घर जाकर उसने धनकीर्ति से कहा कि "मेरे घर की यह रीति है कि विवाह के बाद लड़का रात्रि में कात्यायनी के मन्दिर में जाता है।" तद्नुसार धनकीर्ति पूजा की सामग्री लेकर निकला तो नगर के बाहर साले महाबल ने उसे देखा और पूँछा कि इस समय अंधेरा हो जाने पर अकेले कहाँ जा रहे हो ? उसने बताया कि माता की आज्ञा से दुर्गा–मन्दिर में जा रहा हूँ। महाबल ने धनकीर्ति को रोक दिया और स्वयं मन्दिर चला गया।

धनकीर्ति तो निर्बाध वापिस घर पहुँच गया और उधर महाबल यमलोक पहुँच गया। पुत्र–शोक में विह्वल श्रीदत्त ने एकान्त में अपनी पत्नी से कहा कि यह धनकीर्ति किस प्रकार मारा जाए ? उसने कहा कि "आप चुप ही रहें, आपका वांछित कार्य मैं करूँगी"। तत्पश्चात् उसने विष डालकर लड्डू बनाये और अपनी पुत्री श्रीमती से कहा कि उज्ज्वल कान्ति वाले लड्डू अपने पति को देना और श्यामवर्ण वाले लड्डू अपने पिता को देना। पुत्री को निर्देश देकर वह स्नान के लिये नदी को चली गई। माता की दुश्चेष्टा से अनभिज्ञ श्रीमती ने उज्ज्वल कान्ति वाला लड्डू अपने पिता को दे दिया। उसे खाते ही सेठ श्रीदत्त की मृत्यु हो गई। श्रीमती की माता विशाखा ने घर आकर जब स्वामी को जीवित नहीं देखा, तो शोकाकुल होकर अपने पति के क्रूर कर्म की निन्दा की श्रीमती को आशीर्वाद दिया और स्वयं भी विषमय लड्डू खाकर यमलोक चली गई।

इस प्रकार पाँच बार मृत्यु से बचकर धनकीर्ति सुखपूर्वक रहने लगा। एक दिन शुभमुहूर्त में विश्वंभर ने अपनी पुत्री धनकीर्ति को ब्याह दी और उसे महाश्रेष्ठी पद पर आसीन कर दिया।[4]

दयोदय चम्पू का वैशिष्ट्य

आचार्य–श्री ने दयोदय में धीवर और धीवरी के व्रत–ग्रहण के प्रसंग में अहिंसा–धर्म की महत्ता बतलाई है, साथ ही उसके प्रतिपादक जैन तीर्थंकरों की प्राचीनता और प्रामाणिकता का चित्रण भी वेद, उपनिषद् और भागवत्पुराण आदि के अनेकों उद्धरण देकर किया है, उनसे दयोदय की विशेषता सहज ही ज्ञात हो जाती है। इसके अतिरिक्त बीच–बीच में अनेत नीति–वाक्यों के साथ उपकथाएँ भी दी गई हैं, जिनसे प्रतिदिन व्यवहार में आने वाली कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातों की भी शिक्षा मिलती है।

अहिंसाव्रत की उपादेयता

अहिंसाव्रत का पालन प्राणीमात्र के प्रति दया की शिक्षा देता है; –क्योंकि प्रत्येक प्राणी को चोट लगने पर कष्ट की अनुभूति होती है। हिंसा करने वाले को यह सोचना चाहिये कि मैं जिसकी हिंसा कर रहा हूँ उसे जो कष्ट हो रहा है, कदाचित् कोई मुझे मारे तो मुझे भी वैसा ही कष्ट सहना पड़ेगा। जो मनुष्य होकरके धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरूषार्थों को नहीं साधता उसका जन्म लेना ही व्यर्थ है, क्योंकि अर्थ और काम इन दोनों पुरूषार्थों की जड़ भी धर्म पुरूषार्थ ही है।

यथा –

त्रिवर्ग – संसाधनमन्तरेण पशोरिवायुर्विफलं नरस्य।
तत्रापि धर्मः प्रवरोऽस्ति भूमौ न तं विना यद्भवतोऽर्थकामौ।। 14।।

– दयो. च. द्वितीय लम्ब

मृगसेन धीवर की पत्नी घण्टा अपने पति से अहिंसा के विषय में पूँछती है, हे भगवन्! खेती करने में तो और भी ज्यादा हिंसा होती है। जमीन को जोतने में, उसमें खाद डालने में, पानी सीचने में, फसल को

कॉटने और बोने आदि में तो पग–पग पर हिंसा है। हाँ, कृषक की यह भावना रहती है कि मेरी खेती में खूब धान्य पैदा हो जिससे कि धान्य खूब सस्ता हो और सब जीव सुखी रहें। बस, उसकी यह भावना ही उसे पाप से बचाती है। यथा –

कर्षणे खातसम्पात – करणे सिञ्चने पुनः।
लवने वपने चास्ति प्राणिहिंसा पदे–पदे।। 20।।

धान्यमस्तु यतो विश्व–समितिः स्यादितीयती।
कृषकस्य प्रतीति–र्हि सम्भवेद्भद्रदेशिका।। 21।।

– दयो. च. द्वितीय लम्ब।

मृगसेन ने प्रत्युत्तर में कहा कि ठीक है, खेती करने में भी हिंसा होती है, किन्तु किसान हिंसा करता नहीं है, उसके काम में हिंसा होती है। जिस प्रकार किसी काम–धन्धे में उसका स्वामी भी काम करता है और नौकर भी, परन्तु नफा–नुकसान का भागी तो स्वामी ही होता है। यथा –

यद्यपि व्याप्रियतेऽनुचरेण यथोद्यमं तदुपायकरणे।
लाभालाभकथास्तु च भर्तुः शिरसि सम्पतेत् फलं हि कर्तुः।। 22।।

– दयो. च. द्वितीय लम्ब।

मृगसेन की बात सुनकर घण्टा बोली–"साधु के कहने में तो हम लोगों को भूख के मारे तड़प–तड़प कर ही मर जाना चाहिए। ऐसा धर्म हम लोगों को तो अच्छा नहीं लगता।" –इस प्रकार ताड़ना देकर मृगसेन को बाहर निकाल दिया। मृगसेन अपने मन में विचारने लगा। "जिस शरीर का लालन–पालन कर मोटा ताजा बनाये रखने के लिये मैंने निरन्तर मन लगाकर अनेक बुरें कर्म किये, वह यह शरीर भी तो एक न एक दिन काल के द्वारा नष्ट किये जाने वाला है। यह पापी पेट शाक–पिण्ड के द्वारा भी भरा जा सकता है, तो फिर इसके लिये जो स्वयं विचारवान है और जो

मरने के नाम को सुनकर काँपने लग जाता है, वह अन्य प्राणियों का संहार करने के लिये कैसे प्रवृत्त हो सकता है ? यथा –

समस्ति शाकैरपि यस्य पूर्तिर्दग्धोदरार्थे कथमस्तु जूर्तिः।
प्राणिप्रणाशाय विचारकर्तुः प्रवेपमानस्य च नाम मर्तुम्।। 27।।

– दयो. च. द्वितीय लम्ब

यदि मेरे प्राण भी जाते हों तो चले जावें, कोई हानि नहीं है; क्योंकि जन्म मरण करने वाला संसारी प्राणी यों ही जन्मता और मरता रहता है, बार–बार शरीर धारण करता है किन्तु यह सज्जन–शिरोमणि गुरू महाराज का दिया हुआ व्रत यदि छोड़ दिया जाता है, तो इस जन्म में कलंक का और उत्तर जन्म में पाप का कारण होता है।

ययुर्यदा यान्ति ममासवो ननु जनुष्मता सन्धियते मुहुस्तनुः।
सुदुर्लभं सन्मनुदेशितं व्रतं कलंकपंकाय किलोपसंहृतम्।। 29।।

–दयो. च. द्वितीय लम्ब

इस प्रकार जिसके मन में विचार उत्पन्न होते जा रहे हैं, जिससे मन शान्त होता जा रहा है, जो बार–बार साधु महाराज की बात याद कर रहा है और संसार–दशा का विचार करने में लगा होने से आज तक भोगों में विताये समय के विचार को लेकर जिसे ग्लानि उत्पन्न हो रही है, ऐसा वह मृगसेन धीवर धीरे–धीरे जाकर किसी एक सूनी धर्मशाला में पहुँचा। प्रातःकाल से सायंकाल तक अथक परिश्रम करने से थक तो चुका ही था, इसलिये वहाँ पर एकान्त पाकर विश्राम करने के लिये अपनी दोनों टांगें फैलाकर एक डंडे की तरह सीधा लेट गया। इतने में खाई के समान विष से भरा एक भयंकर साँप बिल में से निकलकर उसे काट गया, जिससे वह मर गया।

सहसा उसे मरा हुआ देखकर और अपनी गलती को याद कर करके घण्टा सिर कूट–कूट कर रोने लगी। थोड़ी देर बाद वह विचारने लगी "जो हो गया सो हो गया, गई बात को याद करने से क्या ला

साँप की लकीर पीटने से क्या लाभ है ? कुछ नहीं। हाँ, वह मेरे आनन्द रूपी तालाब का हंस व्रतपूर्वक मरा, यह भी अच्छा हुआ।

गतं न शोचामि कृतं न मन्ये किं ताडनेनाहिपदप्रजन्ये।
तदुत्तमं यद्व्रतपूर्वकं स ययौ ममानन्दतटाकहंसः।। 33।।

– दयो. च. द्वितीय लम्ब।

मुझे भी वही व्रत ले लेना चाहिये। इस थोड़े से दिन में जीवन के लिये इतर प्राणियों का संहार करना ठीक नहीं है। इस प्रकार उसने अपने मन में विचार किया। उसी समय वही साँप जिसने कि मृगसेन को डसा था, आकर उसे भी डस गया और वह मर कर अहिंसाव्रत की उपादेयता के कारण गुणपाल नाम के सेठ की सेठानी गुणश्री की कूख से विषा नाम की लड़की हुई।

आचार्यश्री ने न केवल जैनधर्मावलंबियों के ही हितार्थ अपितु मानवमात्र के कल्याण के लिये अनेक काव्यों की रचना की। उन्होंने मृगसेन धीवर का कल्याण करने के लिये अहिंसांणुव्रत की पुष्टि रूप भावात्मक **दयोदय काव्य** की, सत्य और अचौर्य की पुष्टि के लिये **भद्रोदय काव्य** की, ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये **'वीरोदय' काव्य** की और परिग्रह–परिमाण व्रत की रक्षा के लिये **'जयोदय महाकाव्य'** की रचना की। सरागी एवं वीतरागी व्यक्ति की रचना में अन्तर्भेद होता है। वीतरागी की रचना हमें इस लोक सम्बन्धी नीतियों का सदुपदेश देने के साथ ही साथ परलोक में भी अभ्युदय प्राप्त करने के मार्ग को तेज और वजनदार शब्दों के द्वारा हृदय–तल पर सदा के लिये स्थापित कर देती है।

प्रायः सभी जैनचार्यों की कथनी में पूर्व–भव का सत्य वर्णन होता ही है और यह आस्तिक्य भावना का द्योतक भी है– ऐसे वर्णन भी भद्रोदय ग्रन्थ में अत्यन्त सरल एवं रोचक रूप से वर्णित किये गये हैं। भद्रोदय महाकाव्य खांड की रोटी के समान मधुर एवं रस पूर्ण है। संस्कृत के सहृदय महानुभावों के लिये तो यह अलंकार पूर्ण रसास्वाददायी है ही

किन्तु हिन्दी के जानने वाले भी जिस दृष्टिकोण से इस ग्रन्थ का आस्वादन करेंगे, उन्हें उस धारा में अनुपम आनन्द की प्राप्ति होगी।

अहिंसाव्रत की उपादेयता के विषय में **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** में लिखा है कि जो श्रावक त्रस जीव, दोइन्द्रिय, तेन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय का घात मन, वचन, काय से स्वयं नहीं करे, दूसरे से नहीं करावे और अन्य को करते हुये अच्छा नहीं माने उसके अहिंसाणुव्रत होता है।[5] **मूलाचार** ग्रन्थ में वट्टकेराचार्य ने अहिंसाव्रत के सम्बन्ध में निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया है कि –

कायेंदियगुणमग्गणकुलाउजोणीसु सव्वजीवाणं।
णाऊण य थाणादिसु हिंसादि विवज्जवणमहिंसा।।

–मूला. गा. 5।

अर्थात् काय, इन्द्रिय, गुणस्थान, मार्गणा, कुल, आयु और योनि इनमें सभी जीवों को जान करके कार्योत्सर्ग आदि में हिंसा आदि का त्याग करना अहिंसामहाव्रत है।

सूक्तियाँ –

धर्मेऽथात्मविकासे नैकस्यैवास्ति नियतमधिकारः, योऽनुष्ठातुं यतते सम्भाल्यतमस्तु स उदारः।। – (वीरो. सर्ग 17 श्लोक 40) धर्म धारण करने में या आत्म विकास करने में किसी एक व्यक्ति या जाति का अधिकार नहीं है। जो कोई धर्म के अनुष्ठान के लिये प्रयत्न करता है। वह उदार मनुष्य संसार में सबका आदरणीय बन जाता है।

उपद्रुतोऽप्येषतरू रसालं फलं श्रणत्यंगभृते त्रिकालम् – (वीरो सर्ग 1 श्लोक 12) लोगों द्वारा पत्थर मारकर उपद्रव को प्राप्त किया गया भी वृक्ष भी उन्हें सदा सरस फल प्रदान करता है।

सन्दर्भ –

1. मैत्रेयोपनिषदस्तृतीयाध्यायस्य कारिका – 19।

2. पद्मपुराण भूमिकाण्ड, अध्याय 65।

3. अथर्वण काण्ड 7, अध्याय 8, सूक्त 85।

4. आचार्य ज्ञानसागर विरचित दयोदय चम्पू प्रस्तावना।

5. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, श्लो. 331–321 पृ. 150।

अध्याय – 3

वीरोदय का स्वरूप

परिच्छेद –1

वीरोदय महाकाव्य का प्रतिपाद्य विषय

आचार्य ज्ञानसागर महाराज ने 'वीरोदय महाकाव्य' में भगवान महावीर जैसे सर्वश्रेष्ठ महापुरूष को अपनी कथा का नायक चुना है जिनका चरित उत्तरोत्तर चमत्कारी है। कवि ने यथास्थान सर्व ऋतुओं का वर्णन किया है तथा करूण, श्रृँगार और शान्तरसों का प्रमुखता से प्रतिपादन किया है। वस्तुतः ये तीन रस ही नवरसों में श्रेष्ठ माने गये हैं। दश सर्गों से अधिक सर्ग वाले काव्य को **"महाकाव्य"** कहा गया है। महाकाव्य के लिये आवश्यक है कि प्रत्येक सर्ग के अन्त में कुछ पद्य विभिन्न छन्दों के हों और यथास्थान देश, नगर, ग्राम, उद्यान, बाजार, राजा, रानी क्षेत्रादिक का ललित पद्यों में वर्णन किया गया हो। इस परिप्रेक्ष्य में 'वीरोदय एक महाकाव्य सिद्ध होता है'।[1]

'वीरोदय महाकाव्य' ने श्लेष, उपमा, उत्प्रेक्षा वक्रोक्ति, रूपक, दृष्टान्त, आदि अनेक अलंकारों के द्वारा अपने को अलंकृत किया है। इस रचना का तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह सहज में ही ज्ञात हो जाता है कि इस पर धर्मशर्माभ्युदय, चन्द्रप्रभचरित, मुनिसुव्रत–काव्य और नैषध–काव्य आदि का प्रभाव है, फिर भी वीरोदय में अपनी मौलिकता भी है। वास्तव में वीरोदय एक महाकाव्य तो है ही, पर इसके भीतर जैनइतिहास और पुरातत्व के भी दर्शन होते हैं। अतः इसे इतिहास और पुराण भी कह सकते हैं। संक्षेप में कहा जाये तो इस एक काव्य के पढ़ने पर ही भ. महावीर के चरित के साथ ही जैनधर्म और जैनदर्शन का भी परिचय प्राप्त होगा और काव्य–सुधा का पान तो सहज में होगा ही। **यथा** –

सारं कृतीष्टं सुरसार्थरम्यं विपल्लवाभावतयाऽभिगम्यम्।
समुल्लसत्कल्पलतैकतन्तु त्रिविष्टपं काव्यमुपैम्यहन्तु।। 23।।

– वीरो. सर्ग.1।

इसलिये कवि ने **'त्रिविष्टपं काव्यमुपैम्यहंतु'** कहकर साक्षात् स्वर्ग माना है। वीरोदय महाकाव्य 22 सर्गों में निबद्ध है। उसकी संक्षिप्त कथावस्तु इसप्रकार है –

भगवान महावीर के जन्म से पूर्व स्थिति –

भगवान महावीर के जन्म से पूर्व सारे भारत की सामाजिक स्थित अत्यधिक दयनीय थी। चारों ओर हिंसा असत्य, शोषण, दम्भ, और अनाचार का साम्राज्य था। ब्राम्हण – संस्कृति के बढ़ते हुये वर्चस्व में श्रमण–संस्कृति दबी जा रही थी। धर्म का स्थान याज्ञिक क्रियाकांडों ने ले लिया था। यज्ञों में घृत, मधु, आदि के साथ पशु भी होमे जाते थे और डंके की चोट पर यह घोषणा की जाती थी कि भगवान ने यज्ञ के लिये ही पशुओं की रचना की है। धर्म का स्थान अधर्म ने ले लिया था। मानवता कराह रही थी। इस प्रकार की धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक विषम परिस्थितियों के समय भ. महावीर ने जन्म लिया।[2]

जन्म स्थान कुण्डनपुर

लोक–विश्रुत भारत वर्ष के 6 खंडों में आर्य – खंड सर्वोत्तम हैं। इसी आर्य–खंड में स्वर्गोपम एक विदेह देश है। इस देश के सर्वश्रेष्ठ नगर का नाम कुण्डनपुर है, जो पहले अत्यन्त वैभवशाली था। वीरोदय में उल्लेख है –

समस्तिभोगीन्द्रनिवास एष वप्रच्छलात्तत्परितोऽपि शेषः।
समास्थितोऽतो परिखामिषेण निर्भीक एवानु बृहद्विषेण।। 24।।

–वीरो. सर्ग. 2।

नाकं पुरं सम्प्रवदाम्यहं तत्सुरक्षणा यत्र जनाः वसन्तः।
सुरीतिसम्बुद्धिमितास्तु रामा राजा सुनाशीर–पुनीत–धामा।। 22।।

–वीरो. सर्ग. 2।

वह कुण्डनपुर भोगीन्द्र अर्थात् भोग सम्पन्न जनों के (शेषनागके) निवास जैसा शोभित होता है, क्योंकि कोट के छल से चारों ओर स्वयं शेषनाग समुपस्थित हैं, परिखा के बहाने कोट के चारों ओर बढ़े हुये जलरूपी शेषनाग के द्वारा छोड़ी गई कांचुली ही अवस्थित है। वहाँ के सभी लोग सुलक्षण देवों के सदृश हैं। स्त्रियाँ भी देवियों के समान सुन्दर चेष्टा वाली हैं और राजा तो सुनाशीर–पुनीत–धाम है, अर्थात् उत्तम पुरूष होकर सूर्य जैसा पवित्र तेज वाला है, जैसा कि स्वर्ग में इन्द्र होता है। अतः वह नगर स्वर्ग के समान है।

भ. महावीर के माता–पिता

उस कुण्डनपुर नगर में राजा सिद्धार्थ शासन करते थे। उन्होंने अपने बल से अनेक राजाओं को अपने अधीन कर लिया था। ये सभी अधीनस्थ राजा अपनी मुकुट–मणियों की प्रभा से उनके चरण–कमलों को सुशोभित करते थे। वह सौन्दर्य, धैर्य, स्वास्थ्य, गाम्भीर्य, उदारता, प्रजावत्सलता, विद्या आदि का निधान था। उसे चारों पुरूषार्थों का ज्ञान था। परम कीर्तिमान्, परम वैभवशाली, उस राजा का सम्पूर्ण ध्यान राज्य की समुन्नति पर केन्द्रित था।

राजा सिद्धार्थ की पत्नी प्रियकारिणी थी। वह राजमहिषी अनुपम सुन्दरी, परम अनुरागमयी और पतिमार्गानुगामिनी थी। दया और क्षमा से परिपूर्ण हृदयवाली, शान्तस्वभावा, लज्जशीला, परमदानशीला और मनोविनोदप्रिया थी। परम सम्पत्तिशालिता, मंजुभाषिता, समदर्शिता, कोमलता आदि सभी गुण उसके संग से शोभा पाते थे। राज्य के लिये कल्याणकारिणी, दूरदर्शिनी, उस लोकाभिरामा ने अपने अप्रतिम गुणों से राजा सिद्धार्थ के हृदय में अचल स्थान पा लिया था। दोनों परस्पर अत्यधिक प्रेम करते थे। उनका समय सानन्द बीत रहा था।

माता प्रियकारिणी के सोलह स्वप्न

ग्रीष्मकाल के पश्चात् जब पावस–ऋतु का आनन्ददायक

आगमन हुआ, तब आषाढ़ मास की षष्ठी तिथि को भगवान महावीर ने रानी प्रियकारिणी के गर्भ में प्रवेश किया। वर्षा–ऋतु के सुखद वातावरण में एक दिन रात्रि के अन्तिम प्रहर में, रानी ने सोलह स्वप्न देखे। स्तुतियों से तत्काल उसकी नींद टूट गई। प्रातःकालीन कृत्यों से निवृत्त होकर, सहेलियों के साथ वह अपने पति राजा सिद्धार्थ के पास गई। और सोहल स्वप्नों का वृत्तान्त राजा को सुनाया।

स्वप्नों का फल

राजा सिद्धार्थ ने स्वप्नों का फल बतलाते हुए कहा– "हे कमलनयने ! सर्व स्वप्नों का सार यह है कि तुम्हारा यह होने वाला पुत्र संसार में गजराज के समान समुन्नत, महात्मा, धवल, धुरन्धर (वृषभ) के समान धर्म–धुरा का धारक, सिंह के समान स्वतन्त्र–वृत्ति, रमा (लक्ष्मी) के समान निरन्तर अखण्ड उत्सवों से मण्डित, मालाद्विक के समान सुमनों (पुष्पों और सज्जनों) का स्थल, चन्द्र के समान हम सबकी प्रसादभूमि, सूर्य के समान संसार में मोक्षमार्ग का प्रदर्शक, कलश–युगल के समान जगत में मंगलकारक, मीन–युगल के समान विनोद–पूर्ण, समुद्र के समान लोक एवं धर्म की मर्यादा का परिपालक, सरोवर के समान संसार–ताप–सन्तप्त शरीरधारियों के क्लम (थकान) का छेदक, सिंहासन के समान गौरवकारी, विमान के समान देव–समूह से संस्तुत, नागलोक के समान सुगीत तीर्थ, रत्नराशि के समान गुणों से संयुक्त और अग्नि के समान कर्मरूप ईंधन का दाहक एवं पवित्रता का धारक होगा।[3]

देवियों द्वारा माता की सेवा

भगवान महावीर के गर्भावतरण के पश्चात् श्री, ही आदि देवियाँ वहाँ आईं। राजा के पूँछने पर देवियों ने बताया कि महारानी प्रियकारिणी के गर्भ में तीर्थंकर जिनेन्द्र भगवान का अवतार हो रहा है। इसलिये इन्द्र के आदेश से तीर्थंकर की माता की सेवा करने वे वहाँ आई हैं। अतएव उन्हें इस पुण्य कार्य की अनुमति मिले। राजा से आज्ञा पाकर वे सभी देवियाँ

कंचुकी के साथ माता के समीप जाकर उनकी वन्दना कर उनकी सेवा में तत्परता से जुट गईं। रानी को नहलाने में, उनका अलंकरण करने में, संगीत द्वारा मनोरंजन करने में, वे देवियाँ जरा भी प्रमाद नहीं करती थीं। देवियों के आग्रह पर रानी प्रियकारिणी, उनके भगवद्विषयक प्रश्नों का उत्तर देकर उन्हें सन्तुष्ट करती थीं। वे देवियाँ उनको यथासमय सुस्वादु भोजन कराती थीं। भ्रमण के लिये समीपवर्ती उद्यानों में ले जाती थीं। तत्पश्चात् पुष्पसज्जित शय्या पर लिटाकर उनके चरण दबाकर, पंखा झलकर सुला देती थीं। इस प्रकार वे देवियाँ माता के साथ ही गर्भस्थ जिनेन्द्रदेव की भी सेवा–अर्चना करने लगीं। यथा–

तत्रार्हतोऽर्चासमयेऽर्चनाय, योग्यानि वस्तूनि तदा प्रदाय।
तया समं ता जगदेकसेव्यमाभेजुरूत्साहयुताः सुदेव्यः।। 16।।

–वीरो.सर्ग.5।

कुण्डनपुर में तीर्थंकर महावीर का जन्म

धीरे–धीरे रानी प्रियकारिणी में गर्भवृद्धि के लक्षण देखकर राजा सिद्धार्थ अति प्रसन्न हुए। इसी बीच ऋतुराज वसन्त का शुभागमन हुआ। चारों ओर उल्लास का साम्राज्य फैल गया। उसी मनोहर बेला में, चैत्र–मास के शुक्लपक्ष की त्रयोदशी को रानी प्रियकारिणी ने शुभलक्षणोपेत पुत्र को जन्म दिया। पुत्र जन्म से रानी अत्यधिक हर्षित हुई। **यथा–**

सौरभावगतिस्तस्य पद्मस्येव वपुष्यभूत्।
याऽसौ समस्तलोकानां नेत्रालिप्रतिकर्षिका।। 41।।

–वीरो.सर्ग.6।

देवताओं द्वारा जन्मोत्सव

प्रियकारिणी के गर्भ से जब भगवान ने जन्म लिया, तब सभी दिशाओं में आनन्द छा गया। इन्द्र का सिंहासन दोलायमान हो उठा। इन्द्र ने दूर से ही उन्हें प्रणाम किया और सभी सुरासुरों सहित कुण्डनपुर आकर नगर की तीन बार प्रदक्षिणा की। इन्द्राणी ने प्रसूतिगृह में प्रवेश कर माया–निर्मित शिशु को माता के पार्श्व में सुला दिया और जिन भगवान को

लाकर इन्द्र को सौंप दिया। भगवान को देखकर इन्द्र ने उन्हें प्रणाम किया और ऐरावत हाथी पर बैठाकर जैन–मन्दिरों से युक्त सुमेरू पर्वत पर गया। वहाँ देवगणों ने क्षीर–सागर के जल से भगवान का अभिषेक किया। अभिषेक के बाद इन्द्राणी ने भगवान के शरीर को पोंछकर सुन्दर आभूषणों से सजाया। इसप्रकार भगवान का जन्म–महोत्सव मनाकर देवगण कुण्डनपुर लौटे। शिशु को माता की गोद में सुलाकर नाचते – गाते सभी अपने–अपने निवास–स्थान को चले गए।

राजा सिद्धार्थ द्वारा पुत्र जन्मोत्सव

राजा सिद्धार्थ ने भी अपने पुत्र का जन्म–महोत्सव बड़ी धूम–धाम से सम्पन्न किया। पुत्र के शरीर की बढ़ती हुई कान्ति को दृष्टि में रखकर राजा ने उसका नाम श्री वर्धमान रखा। बालक वर्धमान अपनी सुन्दर–सुन्दर बालोचित चेष्टाओं से जन–समुदाय को हर्षित करने लगा।

भगवान महावीर द्वारा विवाह प्रस्ताव का बहिष्कार

धीरे–धीरे बालक युवावस्था की ओर अग्रसर हुआ। पुत्र को युवावस्था में देखकर पिता सिद्धार्थ ने उनके लिये विवाह–योग्य कन्या देखने का निश्चय किया, किन्तु वर्धमान ने पिता के इस प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया। पिता के बार–बार आग्रह करने पर वर्धमान ने नम्रता–पूर्वक उन्हें समझाया और उनसे ब्रह्मचर्यव्रत की अपनी बलबवती इच्छा प्रकट की। पुत्र की ब्रह्मचर्यव्रत के प्रति ऐसी निष्ठा देखकर पिता ने हर्षित होकर उनके शिर का स्पर्श करके यथेच्छ जीवनयापन करने की अनुमति दे दी।

विवाह–प्रस्ताव को ठुकराने के पश्चात् वर्धमान का ध्यान संसार की शोचनीय दशा की ओर गया। हिंसा, स्वार्थलिप्सा, अधर्म, व्यभिचार, दुर्जनता इत्यादि बुराईयों से लिप्त संसार की रक्षा करने का उन्होंने निश्चय किया। आज का यह मानव स्वयं खीर खाने की इच्छा करते हुए भी दूसरों को चना खाने के लिये उद्यत देखकर उदर–पीड़ा से पीड़ित हुआ दिखाई दे रहा है। दुःख है कि आज धरातल पर यह नाममात्र से मनुष्य बना हुआ है। देवतास्थली (मन्दिरों की पावन भूमि) पशुओं की बलि

को धारण कर श्मसानपने को प्राप्त हो रही है। उन मन्दिरों की देहली निरन्तर अतुल रक्त से रञ्जित होकर यमस्थली–सी प्रतीत हो रही है। इसप्रकार संसार–दशा के बारे में सोचकर जगत् का कल्याण करने के लिए उन्होंने विवाह–प्रस्ताव का बहिस्कार कर दिया। **यथा** –

अहो पशूनां ध्रियते यतो बलिः श्मसानतामञ्चति देवतास्थली।
यमस्थली वाऽतुलरक्तरञ्जिता विभाति यस्याः सततं हि देहली।। 13।।

– वीरो.सर्ग.9।

संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान

जो पेड़–पौधे वसन्त–ऋतु के आगमन से हरे–भरे हो जाते हैं, ग्रीष्म ऋतु के आगमन से वे मुरझा भी जाते

हैं – प्रकृति के इस व्यापार को देखकर वर्धमान को संसार की क्षणभंगुरता का ज्ञान हुआ। उनके हृदय में वैराग्य भावना जागी। सभी देवों ने उनकी इच्छा का अनुमोदन किया। तब शीघ्र ही वन जाकर, वस्त्राभूषण त्यागकर, केशों को उखाड़ कर, मार्गशीर्ष मास के कृष्णपक्ष की दशमी तिथि को दैगम्बरी दीक्षा लेकर मौन धारण कर लिया। तत्पश्चात् उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हुआ। उन्होंने अन्य धर्मानुयायियों से अलग अपना स्वतन्त्र मार्ग चुना। अपना 'वीर' नाम सार्थक करने के लिये तपश्चरण के समय बड़ी–बड़ी विपत्तियों का सामना कर उन सब पर विजय प्राप्त की।

भ. महावीर के पूर्व–भव

एक दिन भगवान महावीर ने ध्यान में अपने सम्पूर्ण पूर्व–भव जान लिये। पहले वे पुरूरवा नाम के भील थे। तत्पश्चात् आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पौत्र मारीचि के रूप में उन्होंने जन्म लिया। मारीचि ही स्वर्ग का देव होकर ब्राह्मण–योनि में जन्मा। फिर वह अनेक कुयोनियों में जन्म लेता हुआ एक बार शाण्डिल्य ब्राह्मण और उसकी पाराशरिका नाम की स्त्री का स्थावर नामक पुत्र हुआ। प्रव्रज्या के फलस्वरूप वह माहेन्द्र स्वर्ग में देव हुआ। इसका उल्लेख वीरोदय में इस प्रकार किया गया है। –

भूत्वा परिव्राट् स गतो महेन्द्र–स्वर्गं ततो राजगृहेऽपकेन्द्रः।
जैन्या भवामि स्म च विश्वभूतेस्तुक् विश्वनन्दी जगतीत्यूपते।। 11।।

वीरो.सर्ग.11।

तत्पश्चात् राजगृह नगर में विश्वभूति और उसकी जैनी नामक स्त्री का विश्वनन्दी नामक पुत्र हुआ। तपस्या करके वह महाशुक्र स्वर्ग में गया। तत्पश्चात् वह विश्वनन्दी का जीव पोदनपुर के राजा प्रजापति और रानी मृगावती का त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ। इसके बाद विश्वनन्दी को रौरव नरक में जाना पड़ा। बाद में उसे सिंह की योनि प्राप्त हुई। यह सिंह मर कर नरक गया। फिर सिंह रूप में जन्मा। उस हिंसक सिंह को किसी मुनिराज ने उसके पूर्वजन्मों का वृत्तान्त बतला दिया। सिंह–योनि के पश्चात् वह अमृतभोजी देव हुआ। इस देव ने कनकपुर में राजा कनक के रूप में जन्म लिया। वह मुनिव्रतों का पालन कर लान्तव स्वर्ग में पहुँचा। फिर इस देव ने साकेत नगरी में राजा वज्रषेण और शीलवती रानी के पुत्र के रूप में जन्म ग्रहण किया।

अन्त में तपस्या करके महाशुक्र स्वर्ग को गया। पुनः पुष्कल देश की पुण्डरीकिणीपुरी के राजा सुमित्र और रानी सुव्रता का प्रियमित्र नामक राजकुमार हुआ। तपस्या के फलस्वरूप वह सहस्रार स्वर्ग में जन्मा। पुनः पुष्कल देश की छत्रपुरी नगरी के राजा अभिनन्दन और रानी वीरमती का नन्द नामक पुत्र हुआ। इसी जन्म में दैगम्बरी दीक्षा लेकर अच्युत स्वर्ग का इन्द्र बना। उसी इन्द्र ने अब इस कुण्डनपुरी में राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के वर्धमान के रूप में जन्म लिया है। इन्होंने पूर्व जन्मों के वृत्तान्त को अपने किये पाप का फल बताया। कुटुम्ब से असहयोग एवं क्रोध, मत्सर आदि के त्याग पर बल दिया और सत्य का पालन करने के लिये कहा।

केवलज्ञान की प्राप्ति

आत्म–तत्त्व का चिन्तन करते हुए महावीर **ग्रीष्म में** पर्वत–शिखरों पर, **वर्षा में** वृक्षों के नीचे और **शीतकाल** में चौराहों पर बैठे और विचार किया कि पीड़ा आत्मा को नहीं, ज्ञान–रहित शरीर को कष्ट देती है। दुर्द्धर

तप और आत्माराधना द्वारा आत्म–तत्त्व को जानकर संसार को पाप–पंक से दूर करने के लिये वैशाख मास की शुक्ला दशमी तिथि को उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। वे चतुर्मुखी हो गये। उनके शरीर का प्रतिबिम्ब पड़ना बन्द हो गया। उनमें सभी विद्याओं का प्रवेश हो गया। इसी हर्षमय वातावरण में इन्द्र ने समवशरण (सभा–मण्डप) का निर्माण कराया। इसी सभा–मण्डप में भ. महावीर ने मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया।

समवशरण की रचना

समवशरण के मध्य गन्धकुटी में सिंहासन पर विराजमान भ. महावीर का मुखमण्डल अत्यन्त तेजस्वी लग रहा था। शिरपर छत्रत्रय सुशोभित थे। देवगण दुन्दभि बजा रहे थे तब उन्होंने अपनी पवित्र वाणी से आषाढ़ मास की गुरू–पूर्णिमा के दिन प्रथमबार सत्य, अहिंसा, और त्याग का उपदेश दिया।

भगवान महावीर के गणधर

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर हुए – गौतम इन्द्रभूति, अग्निभूति, आर्यव्यक्त, सुधर्म, मण्डिक, मौर्यपुत्र, अकम्पित, अचल, मेतार्य और प्रयास। इन्होंने भगवान के सन्देश का प्रसार किया। ये अपनी शिष्य–परम्परा के साथ भगवान महावीर के पास पहुँचे थे। भगवान ने सबको उपदेश दिया एवं गौतम इन्द्रभूति के मन में उठ रहे सन्देहों का शमन किया। ब्राह्मण के गुणों का ज्ञान कराया और आत्मतत्त्व का उपदेश दिया, जिससे उनका सारा कल्मष धुल गया और कल्याण हुआ। गणधरों की आध्यात्मिक उन्नति को जानकर अन्य लोग भी भ. महावीर की शरण में आने लगे थे। पारस्परिक विरोध को भूलकर वे उनका उपदेश सुनते थे तथा आत्मध्यान में लीन हो जाते थे।

भ. महावीर के उपदेशों का प्रभाव

समवशरण में उपस्थित सभी ने भ. महावीर के उपदेशों को अपनी–अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रहण किया, किन्तु गौतम इन्द्रभूति ने उनकी दिव्यवाणी को विशेष रूप से समझा और विश्वकल्याणार्थ उसे अनुदित कर बारह अंगों में ग्रथित किया। भगवान का शिष्यत्व राजवर्ग के

लोगों ने ही नहीं ग्रहण किया, वरन् जन–सामान्य भी इस दिशा में पीछे नहीं रहा। जिस देश के राजपुरूष जैनधर्म को स्वीकार करते थे, वहाँ की जनता भी अपने शासकों का अनुशरण करती थी।

तत्कालीन जैनमतावलम्बियों ने जैनधर्म को तो स्वीकार किया ही, साथ ही उन्होंने जिनालयों एवं जिनाश्रमों का निर्माण करने–करवाने में भी योगदान दिया तथा जैन–साधुओं को भी यथाशक्ति सम्मान दिया। जैनेतरों ने भी जैनधर्म के मूल सिद्धान्त **'अहिंसा परमो धर्मः'** को ग्रहण किया। इस प्रकार भगवान महावीर द्वारा प्रवर्तित जैनधर्म दिग्–दिन्गतों में विस्तृत हुआ।

विश्वकत्याण की भावना

विश्वकल्याण की भावना से भ. महावीर ने समाजोपयोगी विचारों को अंकित किया है। उन्होंने **"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्"** के सिद्धान्त को मूर्त्त रूप दिया और पूर्ण अहिंसा, सदाचार, सद्विचार, परोपकार, इन्द्रिय–संयम आदि गुणों को सर्वत्र व्यापकता दी।

साम्यभाव का प्रतिपादन

भगवान महावीर ने कहा था कि इस धरा पर सबको समान अधिकार प्राप्त हैं। कोई किसी से बड़ा या छोटा नहीं है। संसार परिवर्तनशील है। हमें मानव–मात्र का सम्मान करके आत्मोत्थान के मार्ग की ओर अग्रसर होना चाहिए। दूसरों के दोषों को प्रकट न करें, मौन धारण करें और उनके गुणों को ईर्ष्या रहित होकर अपनायें। विपत्ति में धैर्य रखें अपने ज्ञान और धन के प्रति घमण्ड नहीं करें। काम, क्रोध, लोभ, मोह से दूर ही रहें। समाज में वर्ण–व्यवस्था पुरूष के कर्मानुसार हो, जन्मानुसार नहीं। मनुष्य का आचरण ही समाज में पुरूष की स्थिति का निर्धारक हो। पुरूष को आत्म–विश्वासी, सत्यनिष्ठ, दृढ़, निर्भीक एवं पाप रहित मन वाला होना चाहिए। संसार के द्वन्दों पर विजय पाने वाला पुरूष जितेन्द्रिय होकर **"जिन"** कहलाता है। उसकी अपनी स्थिति के अनुसार शुभाचरण ही **'जैनधर्म'** के नाम से प्रसिद्ध है।

सत्ययुगादि वर्णन

भव–दुःखों से पीड़ित पुरूषों को कष्ट से बचाने के लिए भगवान महावीर ने अनेक उपाय बताये हैं। उन्होंने संसार की गति का नियन्ता ईश्वर को न मानकर समय को माना है। समय ही बलवती शक्ति है, जो राजा को रंक और रंक को राजा बना देता है। समय के प्रभाव से जब सतयुग त्रेतायुग में परिणत हुआ, तो मानव को जीवनयापन की वे सुविधायें वैसी प्राप्त नहीं हुई जैसी सतयुग में प्राप्त थीं। फलस्वरूप समाज में अव्यवस्था फैली। इसे नियन्त्रित करने के लिये धरा पर चौदह कुलकरों ने जन्म लिया जिनमें नाभिराय अन्तिम कुलकर थे। इनकी पत्नी का नाम मरूदेवी था। इन्हीं के पुत्र आदि तीर्थंकर भ. ऋषभदेव थे।

भगवान ऋषभदेव ने लोगों का कष्ट दूर कर उपयुक्त जीवनयापन का उपदेश दिया। गृहस्थ–धर्म का पालन करने के पश्चात् सन्यास ग्रहण कर लोगों को धर्म के प्रति प्रेरित किया। ऋषभदेव के पश्चात् द्वापर–युग में अजितनाथ आदि तेईस तीर्थंकर और भी हुए, जिन्होंने ऋषभदेव के सिद्धान्तों का ही प्रचार–प्रसार किया।

वस्तुतत्त्व की नित्यता

जैनधर्म में बताया है कि कोई भी वस्तु सर्वथा नवीन **उत्पन्न नहीं** होती। जो वस्तु विद्यमान है, वह कभी नष्ट नहीं होती **है, किन्तु** निमित्त–नैमित्तिक भाव से नित्य नवीन रूप धारण करती **हुई परिवर्तित** होती रहती है– यही वस्तु का वस्तुत्व–धर्म है। इनकी उत्पत्ति **और नाश** का कारण ईश्वर नहीं है। सभी पदार्थ स्वतः परिणमते हैं।

न सर्वथा नूत्रमुदेति जातु यदस्ति नश्यत्तदथो न भातु।
निमित्त–नैमित्तिक–भावतस्तु रूपान्तरं सन्दधदस्ति वस्तु।। 39।।

–वीरो. सर्ग.19।

सर्वज्ञता की सिद्धि

आत्मा दर्शन–ज्ञान–स्वभावी है। देखना और जानना उसका स्वभाव है। संसारावस्था में ज्ञान कर्मावृत्त रहता है। जब आत्मा से

ज्ञानावरण दूर हो जाता है तब त्रैकालिक वस्तुओं को विषय करने वाला केवलज्ञान आत्मा में प्रकट हो जाता है, आत्मा अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव को पा लेती है। इस पवित्र ज्ञान को प्राप्त कर भ. सर्वज्ञ हो जाते हैं। वे सर्वज्ञ कहे जाते हैं। महाकवि पं. भूरामल जी ने अनेक लौकिक दृष्टान्तों से सर्वज्ञ की सिद्धि की है तथा अन्त में कहा है कि जगत की प्रवृत्ति समीचीन रूप से अनेकान्त मार्ग से ही चल सकती है, अन्यथा नहीं। अतः सर्वज्ञ–प्रशस्ति ही सत्यानुगत है, सच्ची है –

वृथाऽभिमानं व्रजतो विरूद्धं प्रगच्छतोऽस्मादपि हे प्रबुद्ध !।
प्रवृत्तिरेतत्पथतः समस्ति ततोऽस्य सत्यानुगता प्रशस्तिः।। 23।।

–वीरो.सर्ग.20।

मोक्षप्राप्ति

शरद–ऋतु की वेला में सर्ववेत्ता भगवान महावीर ने कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी की रात्रि को एकान्तवास किया और रात्रि के अन्तिम समय में पावानगरी के उपवन में पार्थिव शरीर त्याग कर मोक्ष प्राप्त किया। उनके मोक्ष प्राप्त कर लेने पर उनके प्रधान शिष्य इन्द्रभूति को उनका स्थान प्राप्त हुआ।

भ. महावीर के बाद की स्थिति – भगवान महावीर के मोक्ष प्राप्त कर लेने पर उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म

'दिगम्बर' और 'श्वेताम्बर' – इन दो सम्प्रदायों में विभक्त हो गया।

कालदोष के कारण जैनमतावलम्बी भी महावीर के उपदेश का यथोचित रूप से पालन नहीं कर सके। उनमें अनेक सम्प्रदाय व उपसम्प्रदाय बनने लगे। जिन बुराईयों से बचने के लिये भगवान महावीर ने नवीन मार्ग चलाया था, वे बुराईयाँ जैनियों में ही पुनः प्रकट होने लगीं। जैनधर्म का संचालन जैनधर्मी राजवर्ग के हाथों से निकलकर वैश्यों और क्षत्रियों के हाथों में आ गया। परिणाम–स्वरूप जैनधर्म वणिकवृत्ति से प्रभावित हो गया। इतना होने पर भी यह नहीं समझना चाहिये कि जितेन्द्रिय जैनमतावलम्बियों का पृथ्वी पर सर्वथा अभाव हो गया है। आज भी अनेक

जितेन्द्रिय महापुरूष हैं, किन्तु अज्ञानतावश हम उन्हें नहीं जान पाते हैं। अन्त में दिव्य गुणों से विभूषित इस महाकाव्य के चरित–नायक भगवान महावीर को हम प्रणाम करते हैं। उनकी कीर्ति धरा पर अक्षय बनी रहे।

काव्य की महत्ता

1. काव्य–साहित्य–मर्मज्ञ विद्वानों ने काव्य की महत्ता का निर्देश करते हुए बतलाया है कि काव्य–कथा का नायक धीरोदात्त हो, उसका चरित्र उत्तरोत्तर चमत्कारी हो।

2. प्रत्येक कार्य के पूर्ण होने में कोई विघ्न–बाधा न आये, इसलिये व्यक्ति अपनी बाधाओं को दूर करने के लिये कार्यारम्भ में अपने इष्टदेव की प्रार्थना करता है। महाकवि ज्ञानसागर ने भी 'वीरोदय' के प्रारम्भ में मंगलाचरण के रूप में श्री चन्द्रप्रभ भगवान की स्तुति की है। यथा –

चन्द्रप्रभं नौमि यदङ्गसारस्तं कौमुदस्तोममुरीचकार।
सुखञ्जनः संलभते प्रणश्यत्तमस्तयाऽऽत्मीयपदं समस्या।। 3।।

–वीरो.सर्ग.1।

3. भ. महावीर जैनधर्म के अन्तिम तीर्थंकर थे। भारतवर्ष में ऋषभदेव के समान ही उनकी भी प्रसिद्धि है। इन्हीं के जीवन पर यह काव्य आधारित है। इसका कथानक महापुराण से लिया गया है।

4. इस काव्य में 'मोक्ष' पुरूषार्थ की सिद्धि की गई है। कार्तिक मास की चतुर्दशी की रात्रि को वीर भगवान ने मुक्ति–लक्ष्मी का वरण किया।

5. वीरोदय काव्य के नायक लोक–विश्रुत भगवान महावीर में एक नायक के सभी गुण हैं। वे परम धार्मिक, अद्भुत सौन्दर्यशाली, सांसारिक राग से दूर, जैनधर्म के उद्धारक, दुखियों का कल्याण करने वाले हैं।

6. इसमें विविध स्थलों और वृत्तान्तों का भी यथास्थान वर्णन है। समुद्र का भी सुन्दर वर्णन किया गया है। पूर्वकाल में देश, नगर और ग्राम कैसे होते थे, वहाँ के मार्ग और बाजार कैसे सजे रहते थे ? इसका भी सुन्दर वर्णन दूसरे सर्ग में किया गया है।

7. इसमें भगवान महावीर के जन्ममहोत्सव का भी बड़ा दिव्य–वर्णन है। सर्व प्रथम देवों ने और तत्पश्चात् राजा सिद्धार्थ ने भगवान महावीर का जन्म–महोत्सव धूम–धाम से मनाया है।

8. इसमें तीन संवाद विशेष हैं (क) रानी प्रियकारिणी और राजा सिद्धार्थ का संवाद (ख) रानी प्रियकारिणी और देवी संवाद (ग) राजा सिद्धार्थ और वर्द्धमान संवाद।

9. कवि ने देवालय और समवशरण–मण्डप का भी वर्णन इस काव्य में किया है।

10. काव्य के अन्त में वर्णित **"जैनधर्म एवं दर्शन"** कवि को सच्चा जैनधर्मी सिद्ध करता है।

11. इस काव्य का नाम काव्य के नायक के नाम पर ही आधारित है। नायक का नाम है महावीर और महावीर के अभ्युदय से शान्तरस की स्थापना ही कवि का लक्ष्य है।

12. इसमें अनेक उत्तम अलंकारों का भी प्रयोग है। 'जयोदय' की तरह 'वीरोदय' भी अन्त्यानुप्रास से अलंकृत है। यमक, उपमा, अपह्नुति, उत्प्रेक्षा, भ्रान्मिान, परिसंख्या आदि अलंकारों की छटा इसमें विशेष दर्शनीय है।

इसके अतिरिक्त काव्य–शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत महाकाव्य में सर्ग सम्बन्धी, भावपक्ष सम्बन्धी, कलापक्ष सम्बन्धी आदि अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। सहृदय को प्रभावित करने में यह काव्य पूर्ण समर्थ है। निःसन्देह इसकी महत्ता अवर्णनीय है।

भगवान महावीर के जन्म से पूर्व भारत की सामाजिक एवं धार्मिक स्थिति का चित्रण

भगवान महावीर के जन्म से पूर्व भारत की सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था की बागड़ोर ब्राह्मणों के हाथों में थी। उस समय उन्होंने यह प्रसिद्ध कर रखा था कि **'यज्ञार्थमेते पशवो हि सृष्टा'** और **"वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति"** अर्थात् ये सभी पशु यज्ञ के लिये ब्रह्मा ने रचे

हैं और वेद–विधान से की गई हिंसा हिंसा नहीं है। यथा–

यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः स्वयमेव स्वयम्भुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः।।
यज्ञार्थं ब्रह्माणैर्वध्याः प्रशस्ता मृग–पक्षिणः।
या वेदविहिता हिंसा नियताऽस्मिंश्चराचरे।।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ।।

– मनुस्मृति 5/22.39–44।

धर्म के नाम पर हिंसा का ताण्डव नृत्य अपनी चरम–सीमा पर पहुँच गया था, जिसके फलस्वरूप नरमेध यज्ञ भी होने लगे थे। यहाँ तक कि रूप–यौवन सम्पन्न मनुष्यों तक को भी यज्ञाग्नि की आहुति बना दिया जाता था। **'गीता–रहस्य'** जैसे ग्रन्थ के लेखक **लोकमान्य बालगंगाधर तिलक** ने एक भाषण में कहा था कि 'पूर्वकाल में यज्ञ' के लिए असंख्य पशुओं की हिंसा होती थी, इसके प्रमाण मेघदूत आदि अनेक ग्रन्थों में मिलते हैं। भ. महावीर ने इस हिंसा को दूर करने के लिये अथक प्रयत्न किया और उसी का यह सुफल है कि भारतवर्ष से याज्ञिकी हिंसा सदा के लिये बन्द हो गई। स्वयं लोकमान्य तिलक ने स्वीकार किया है कि इस घोर हिंसा का ब्राह्मण–धर्म से विदाई ले जाने का श्रेय जैनधर्म को है।

सामाजिक स्थिति

भ. महावीर से पूर्व सारे भारत की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय हो रही थी। ब्राह्मण सारी समाज में

सर्वश्रेष्ठ समझा जाता था। इसके लिये ब्राह्मण–ग्रन्थों में कहा गया था कि दुःशील ब्राह्मण भी पूज्य है और जितेन्द्रिय शूद्र भी पूज्य नहीं है। ब्राह्मण विद्वान हो या मूर्ख वह महान देवता है।

'दुःशीलोऽपि द्विजः पूज्यो न शूद्रो विजितेन्द्रियः।'[4]
'अविद्वांश्चैव विद्वांश्च ब्राह्मणो दैवतं महत्।'[5]

तथा श्रोत्रिय ब्राह्मण के लिये यहाँ तक विधान किया गया है कि श्राद्ध के समय महान बैल को भी मार कर उसका मांस श्रोत्रिय ब्राह्मण को

खिलावें।[6] इसके विपरीत भ. महावीर ने वर्णाश्रम और जातिवाद के विरूद्ध भी अपनी देशना दी और कहा मांस को खाने वाला ब्राह्मण निन्द्य है और सदाचारी शूद्र वन्द्य है।[7] **यथा–**

विप्रोऽपि चेन्मांसभुगस्ति निद्यः, सद्–वृत्तभावाद् वृषलोऽपि वन्द्यः।

उस समय ब्राह्मणों ने यहाँ तक कानून बना दिये थे कि 'शूद्र' को ज्ञान यज्ञ का उच्छिष्ट और हवन से बचा भाग धर्म का उपदेश नहीं देना चाहिए। यदि कोई शूद्र को धर्मोपदेश और व्रत का आदेश देता है, तो वह शूद्र के साथ असंवृत नामक अन्धकारमय नरक में जाता है।

न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्म यश्चास्य व्रतमादिशेत्।।
यश्चास्योपदिशेद्धर्म यश्चास्य व्रतमानदिशेत् ।
सोऽसंवृत–तमो घोरं सह तेन प्रपद्यते।।

– वशिष्ठ स्मृति 18/12/–13।

शूद्रों के लिये वेदादि धर्म–ग्रन्थों के पढ़ने का अधिकार तो था ही नहीं, प्रत्युत यहाँ तक ब्राह्मणों ने विधान कर रखा था कि जिस गाँव में शूद्र रहता हो, वहाँ वेद का पाठ भी न किया जावे। यदि वेद–ध्वनि शूद्र के कानों में पड़ जाय तो उसके कानों में गर्म शीशा और लाख भर दी जाय। वेद–वाक्य का उच्चारण करने पर उसकी जिह्वा छेद दी जावे और वेद–मंत्र याद कर लेने पर उसके शरीर के दो टुकड़े किये जावें। यथा–

अथ हास्य वेदमुपश्रृण्वतस्वपु–जतुभ्यां श्रोत्र–
प्रतिपूरण–मुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीर–भेदः।

उस समय शूद्रों को नीच, अधम एवं अस्पृश्य समझकर उनकी छाया तक से परहेज किया जाता था। आचार के स्थान पर जातीय श्रेष्ठता का ही बोल–बाला था। पग–पग पर रूढ़ियाँ, कुप्रथाएँ और कुरीतियों का बाहुल्य था। स्वार्थ–लोलुपता, कामुकता और विलासिता ही सर्वत्र दृष्टिगोचर होती थी। यज्ञों में होने वाली पशु–हिंसा ने मनुष्यों के हृदय निर्दयी और कठोर बना दिये थे।

उत्तरमध्यकाल (11–12वीं शताब्दी) आते–आते समाज अनेकों जातियों और उपजातियों में विभाजित होने लगा था। समाज में तन्त्र–मन्त्र, टोना–टोटका, शकुन मुहूर्त आदि अन्धविश्वास अशिक्षित और शिक्षित दोनों में घर कर गये थे। धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्र में उत्तरोत्तर भेद–भाव बढ़ता जा रहा था। जातियों के उपजातियों में विभक्त होने से उनमें खान–पान, रोटी–बेटी का सम्बन्ध बन्द हो गया था। क्षत्रिय और वैश्व वर्ग में भी इन नये परिवर्तनों का प्रभाव पड़ने लगा था। क्षत्रिय वर्ग के राजवंशों से शासन कार्य छिन रहा था। सामान्य क्षत्रिय व्यापार कर वैश्यवृत्ति धारण कर रहे थे और धार्मिक दृष्टि से वे किसी एक धर्म के मानने वाले न थे तथा पश्चिम और दक्षिण भारत में बहुसंख्यक जन जैनधर्मावलम्बी भी हो गये थे।

इस काल में वैश्य–वर्ग में भी नूतन रक्त–संचार हुआ। छठवीं शताब्दी तक लगभग वे प्रायः जैन और बौद्ध–धर्म के प्रभाव के कारण कृषिकर्म छोड़ चुके थे। वैश्य लोग अनेक जातियों और उपजातियों में बट गये थे। जैनधर्म अधिकाँशतः व्यापारी वर्ग के हाथों में था। **मुस्लिम काल में** भी जैन–गृहस्थों के कारण जैनाचार्यों की प्रतिष्ठा कायम थी। इस काल में जैन गृहस्थों ने अनेक ग्रन्थों की रचना भी की। अपभ्रंश महाकाव्य **'पउमचरिउ'** के रचयिता स्वयंम्भू, तिलकमंजरी के प्रणेता धनपाल, पं. आशाधर, अर्हदास, कवि मण्डन आदि अनेक जैन–गृहस्थ ही थे।

मनुस्मृति में बताया है – क्षत्रिय, वैश्य और ब्राह्मण योग्य अवस्था प्राप्त करने पर भी असंस्कृत हैं, क्योंकि वे व्रात्य हैं और वे आर्यों द्वारा गर्हणीय हैं। ब्राह्मण–संतति को उपनयन आदि व्रतों से रहित होने के कारण व्रात्य शब्द से निर्दिष्ट किया जाता है।

द्विजातयः सवर्णासु, जनयन्त्यव्रतांस्तु तान्।
तान् सावित्री–परिभ्रष्टान् ब्राह्मानिति विनिर्दिशेत्।।

–मनुस्मृति 10/20।

व्रात्यकाण्ड की भूमिका में **आचार्य सायण** ने लिखा है– "उपनयन आदि से हीन मानव "व्रात्य" कहलाता हैं ऐसे मानव को वैदिक कृत्यों के

लिये अनधिकारी और सामान्यतः पतित माना जाता है परन्तु कोई व्रात्य ऐसा हो, जो विद्वान और तपस्वी हो, ब्राह्मण भले ही उससे द्वेष करें, पर वह सर्व–पूज्य होगा और देवाधिदेव परमात्मा के तुल्य होगा।[8]''

अतएव स्पष्ट है कि व्रात्य वे आर्यजातियाँ थीं, जो मध्यदेश के कुलीन ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के आचार का अनुशरण नहीं करती थीं। उनकी शिक्षा–दीक्षा की भाषा प्राकृत थी और वेश–भूषा आर्यों की दृष्टि से परिष्कृत न थी। वे मध्य देश के ब्राह्मणों के वजाय अरहन्तों को मानते थे तथा चेतियों (चैत्यों) की पूजा करते थे। वस्तुतः महावीर के पूर्व सामाजिक क्रान्ति परिलक्षित होने लगी थी और वैदिक आर्यों की शुद्ध संतति समाप्त हो गई थी। व्यवसाय कर्म के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्णों में समस्त भारतीय समाज विभक्त हो रहा था। वर्णाश्रम धर्म समाज पर छाया हुआ था। यद्यपि इसके विरोध में क्रान्ति की ध्वनि गूँज रही थी, पर इस प्रथा के विरोध में खड़े होने की क्षमता किसी व्यक्ति–विशेष में अवशिष्ट नहीं थी।

धार्मिक स्थिति

ई. पूर्व. 600 के आस–पास भारत की धार्मिक स्थिति बहुत ही अस्थिर और भ्रान्त थी। एक ओर यज्ञीय

कर्मकाण्ड और दूसरी ओर कतिपय विचारक अपने सिद्धान्तों की स्थापना कर जनता को संदेश दे रहे थे। चारों ओर हिंसा, असत्य, शोषण, अनाचार एवं नारी के प्रति किये जाने वाले जोर–जुल्म अपना नग्न ताण्डव प्रस्तुत कर रहे थे। धर्म के नाम पर मानव अपनी विकृतियों का दास बना हुआ था। मानवता कराह रही थी, उसकी गरिमा खडित हो गई थी। धर्म राजनीति का एक थोथा हथियार मात्र रह गया था। भय और आतंक के कारण जनता धार्मिक क्रियाकाण्ड का पालन करती थी, पर श्रद्धा और आस्था उसके हृदय में नहीं थी। स्वार्थ–लोलुप धर्मगुरू और धर्माचार्य ही धर्म के ठेकेदार बन बैठे थे। मानव की अन्तश्चेतना मूर्छित हो रही थी, दासता की वृत्ति दिनों–दिन बढ़ रही थी। दिग्भ्रान्त मानव का मन भटक रहा था, कहीं भी उसे ज्ञान का आलोक प्राप्त नहीं हो रहा था। तीर्थंकर

पार्श्वनाथ के पश्चात् यज्ञीय क्रियाकाण्डों ने मानवता को संत्रस्त कर दिया था। आलोक की धर्म–रेखा धुँधली होती जा रही थी और जीवन का अभिशाप दिनानुदिन बोझिल हो रहा था।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में पूर्णतया अराजकता विद्यमान थी। अव्यवस्था, औद्धत्य, अहंकार, अज्ञानता और स्वैराचार ने धर्म की पावनता को खण्डित कर दिया था। वर्ग–स्वार्थ की दूषित भावनाओं ने मानवता को धूमिल कर दिया था। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और मैत्री जैसी उदात्त भावनायें खतरे में थी। सर्वोदय का स्थान वर्गोदय ने प्राप्त कर लिया था और धर्म एक व्यापार बन गया था। उस समय के विचारकों में पूर्णकाश्यप, मंक्खली गोशालक, अजितकेश कम्बल, प्रकुद्ध कात्यायन, संजय बेलट्ठिपुत्र और गौतम बुद्ध प्रमुख थे। 'दीर्घनिकाय' 'समञ्जफलसुत्त' में निर्ग्रंथ ज्ञातृपुत्र महावीर सहित सात धर्मनायकों की चर्चा प्राप्त होती है।

गुप्त–युग में भारत में धार्मिक परिस्थिति ने अनेक करवटें बदली। वेदों की अपेक्षा पुराणों को अधिक महत्त्व दिया गया। नालन्दा और पश्चिम वलभी बौद्धधर्म के नये केन्द्रों के रूप में विकसित हो रहे थे। जैनधर्म भी विकसित स्थिति में था। जैन श्रमण–संघों की व्यवस्था में भी अनेकों परिवर्तन होने लगे थे।

ईसा की प्रारंभिक शताब्दियों में मूर्ति तथा मन्दिरों का निर्माण श्रावक का प्रधान धर्म बन गया था। मुनियों का ध्यान भी ज्ञानाराधना से हटकर मन्दिरों और मूर्तियों की देखभाल में लगने लगा था। फलतः सातवीं शताब्दी के बाद से जिनप्रतिमा, जिनालय–निर्माण और जिनपूजा के माहात्म्य पर विशेष रूप से साहित्य–निर्माण होने लगा था। पांचवीं से दसवीं शताब्दी तक जैन मनीषियों द्वारा ऐसी अनेक विशाल एवं प्रतिनिधि रचनायें लिखी गई, जो आगे की कृतियों का आधार मानी जा सकती हैं।

ईसा की 11वीं और 12वीं शताब्दी में देश की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ जैनसंघ के उभय सम्प्रदायों (दिगम्बर और श्वेताम्बर के आन्तरिक संगठनों) में भी नवीन परिर्वतन हुए जिससे जैन–साहित्य के क्षेत्र में एक नूतन जागरण हुआ।[9]

वीरोदय में धार्मिक स्थिति का निरूपण करते हुये कहा है – उस समय पाप से नहीं डरने वाले लोगों के द्वारा जगदम्बा के समक्ष ही उनके पुत्रों के गले पर छुरी चलाई जाती थी, (बलि दी जाती थी।) (सारी धार्मिक स्थिति अति भयंकर हो रही थी) और उनके इन दुष्कर्मों से यह वसुन्धरा दुराशीष दे रही थे, त्राहि–त्राहि कर रही थी। लोगों में परस्पर विद्वेषमयी प्रवृत्ति फैल रही थी। एक जीव दूसरे जीव को मारने के लिये खड्ग हाथ में लिये हुए था। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं दिखाई देता था जिसका चित्त क्रोध से भरा हुआ न हो। यथा–

समक्षतो वा जगदम्बिकायास्तत्पुत्रकाणां निगलेऽप्यपायात्।
अविभ्यताऽसिस्थितिरङ्किताऽऽसीज्जनेन चानेन धरा दुराशीः।। 35।।
परस्परद्वेषमयी प्रवृत्तिरेकोऽन्यजीवाय सनात्तकृत्तिः।
न कोपि यस्याथ न कोऽपि चित्तं शान्तं जनः स्मान्वयतेऽपवित्तम्।। 36।।

–वीरो.सर्ग.1।

इस प्रकार लोगों के मन, वचन एवं काय की क्रिया अति कुटिल थी और सभी स्वच्छन्द एवं निरंकुश हो रहे थे।

पूर्वभवों का वर्णन

भगवान महावीर के संख्यातीत अगणित जन्मों में भिल्ल जीवन का सबसे अधिक महत्त्व है; क्योंकि इसी जीवन में उन्हें योगिराज का आशीर्वाद मिला, मोह–ग्रन्थि के भेदनार्थ निष्ठा की प्राप्ति हुई और अहिंसा का बीज–वपन हुआ। हिंसानन्दी पुरूरवा भील किस प्रकार करूणावृत्ति के कारण तीर्थंकर महावीर के पद को प्राप्त हुआ ? – यही मननीय और चिन्तनीय है।

स आह भो भव्य! पुरूरवाङ्ग–भिल्लोऽपि सद्धर्मवशादिहाङ्ग!।
आदीशपौत्रत्वमुपागतोऽपि कुदृक्प्रभावेण सुधर्मलोपी।। 21।।

–वीरो.सर्ग.11।

आध्यात्मिक उत्क्रान्ति की दृष्टि से सम्यग्दर्शन का अत्यधिक महत्त्व है, जिसे दृष्टिलाभ या बोधिलाभ कहते हैं। भगवान महावीर के जीव

ने अन्य जीवों की भाँति अनेक जन्म–मरण (भव) किये हैं। उनकी परिगणना करना संभव नहीं है, किन्तु जब उनके जीव ने सर्वप्रथम बोधिलाभ प्राप्त किया तो वे परीत–संसारी हो गए। आत्म–साधना की एक दिशा उन्हें मिल गई। **समवायांग में** 'श्रमण भगवान महावीर तीर्थंकर के भव–ग्रहण से पूर्व छठे भव में पोटिल्ल थे और वहाँ एक करोड़ वर्ष तक श्रामण्य–पर्याय का पालन किया था – ऐसा उल्लेख मिलता है।[10]

दिगम्बर–परम्परा में महावीर के पूर्वभवों का उल्लेख सर्वप्रथम उत्तरपुराण में हुआ है। उसी का अनुसरण असगकवि ने श्री वर्धमानचरित में, भट्टारकसकलकीर्ति ने वीरवर्धमानचरित में, रइधू ने महावीरचरित में, सिरिहर ने वड्ढमाणचरिउ में, जयमित्तहल्ल ने वर्धमानकाव्य में और कुमुदचन्द्र ने महावीररास में किया है।[11] **श्वेताम्बर–ग्रन्थों** में महावीर के सत्ताईस भवों का निरूपण है[12] और **दिगम्बर–ग्रन्थों** में तेतीस भवों का[13]। इसके अतिरिक्त नाम, स्थल व आयु आदि के सम्बन्ध में भी दोनों परम्पराओं में अन्तर है, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि उनका तीर्थंकरत्व अनेक जन्मों की साधना का परिणाम था। उनमें प्रारम्भ के 22 भव कुछ नाम परिवर्तनादि के साथ वे ही हैं जो कि दिगम्बर परम्परा में बतलाये गये हैं।

दिगम्बर–मान्यतानुसार	श्वेताम्बर–मान्यतानुसार
1. पुरूरवा भील	1. नयसार भिल्लराज
2. सौधर्म देव	2. सौधर्म देव
3. मारीचि	3. मारीचि
4. ब्रह्म स्वर्ग का देव	4. ब्रह्म स्वर्ग का देव
5. जटिल ब्राह्मण	5. कौशिक–ब्राह्मण
6. सौधर्म स्वर्ग का देव	6. ईशान स्वर्ग का देव
7. पुष्पमित्र ब्राह्मण	7. पुष्पमित्र ब्राह्मण
8. सौधर्म स्वर्ग का देव	8. सौधर्म देव

9. अग्निसह ब्राह्मण	9. अग्न्युद्योत ब्राह्मण
10. सनत्कुमार स्वर्ग का देव	10. ईशान स्वर्ग का देव
11. अग्निमित्र ब्राह्मण	11. अग्निभूति ब्राह्मण
12. माहेन्द्र स्वर्ग का देव	12. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
13. भारद्वाज ब्राह्मण	13. भारद्वाज ब्राह्मण
14. माहेन्द्र स्वर्ग का देव	14. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
15. स्थावर ब्राह्मण	15. स्थावर ब्राह्मण
16. माहेन्द्र स्वर्ग का देव	16. ब्रह्म स्वर्ग का देव
17. विश्वनन्दी (मुनि पद में निदान)	17. विश्वनन्दी (मुनि पद में निदान)
18. महाशुक्र स्वर्ग का देव	18. महाशुक्र स्वर्ग का देव
19. त्रिपृष्ठ नारायण	19. त्रिपृष्ठ नारायण
20. सातवें नरक का नारकी	20. सातवें नरक का नारकी
21. सिंह	21. सिंह
22. प्रथम नरक का नारकी	22. प्रथम नरक का नारकी
23. सिंह (मृग भक्षण के समय चारण मुनि द्वारा सम्बोधन)	.....
24. प्रथम स्वर्ग का देव	.....
25. कनकोज्ज्वल राजा	.....
26. लान्तव स्वर्ग का देव	.....
27. हरिषेण राजा	.....
28. महाशुक्र स्वर्ग का देव	.....
29. प्रियमित्र चक्रवर्ती	23. पोट्टिल या प्रियमित्र चक्रवर्ती
30. सहस्रार स्वर्ग का देव	24. महाशुक्र स्वर्ग का देव

31. नन्द राजा (तीर्थंकर प्रकृति का बंध)	25. नन्दन राजा (तीर्थंकर प्रकृति का बंध)
32. अच्युत स्वर्ग का इन्द्र	26. प्राणत स्वर्ग का देव
33. भगवान महावीर	27. भगवान महावीर

भगवान महावीर दोनों परम्पराओं के अनुसार बाईसवें भव में प्रथम नरक के नारकी थे। श्वेताम्बर–परम्परा के अनुसार वे वहाँ से निकल कर पोट्टिल या प्रियमित्र चक्रवर्ती हुए। दिगम्बर परम्परा के अनुसार नारकी जीव चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव नहीं हो सकते हैं।

महावीर के जीव ने नयसार या पुरूरवा के भव में ही सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन प्राप्त किया था। अतः उसी भव से उनके भवों की गणना की गई है। नयसार या पुरूरवा के भव के पश्चात् भी अनेक भवों में सम्यग्दर्शन की उपलब्धि हुई थी।

जहाँ श्वेताम्बर आचार्य **'संसारे कियन्तमपि कालमिटित्वा'** लिखकर आगे बढ़ गये है, वहाँ दिगम्बराचार्य ने कुछ और भवों का वर्णन कर दिया है, जिससे संख्या में वृद्धि हो गई है। सत्ताईस भवों की परिगणता के भी दो प्रकार ग्रन्थों में प्राप्त होते हैं। आवश्यकनिर्युक्ति, विशेषावश्यकभाष्य चूर्णिवृत्ति की टीकाओं में सत्ताईसवां भव देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में जन्म लेना बताया है।

वीरोदय में पूर्वभव

पूर्व–भवों का वर्णन करते हुए वीरोदय महाकाव्य में आचार्यश्री ने लिखा है कि भ. महावीर के जीव ने मारीचि के भव में उन्मार्ग का प्रचार व प्रसार कर दुष्कर्म उपार्जन किया और नाना कुयोनियों में परिभ्रमण करके अन्त में शांडिल्य ब्राम्हण और उसी पाराशरिका स्त्री के स्थावर नाम का श्रेष्ठ पुत्र हुआ। वह परिव्राजक होकर तप के प्रभाव से माहेन्द्र स्वर्ग गया। वहाँ से च्युत होकर इस जगत में परिभ्रमण करते हुये राजगृहनगर में विश्वभूति ब्राह्मण और उसकी जैनी नामक स्त्री के विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ। विश्वभूति के भाई विशाखभूति का पुत्र विशाखनन्दी था। विशाखनन्दी का जीव स्वर्ग से च्युत होकर मृगावती रानी से त्रिपृष्ठ नाम का पुत्र हुआ।

इस प्रकार क्रमशः अश्वग्रीव आदि पर्यायों को धारण करते हुए महावीर के जीव नें सिंह के भव में मुनिराज के सत्संग का सुयोग प्राप्त किया तथा समस्त प्राणियों की हितकारिणी मानसिंक प्रवृत्ति होने से तीर्थंकरत्व नामकर्म का बन्ध कर अच्युत स्वर्ग की इन्द्रता को प्राप्त किया। **यथा –**

समस्तसत्त्वैकहितप्रकारि – मनस्तयाऽन्ते क्षपणत्वधारी
उपेत्य वै तीर्थंकरत्वनामाच्युतेन्द्रतामप्यगमं सुदामा।। 36।।

–वीरो.सर्ग.11।

पुरूरवापर्याय

गुणचन्द्र ने **महावीरचरियं** में और आचार्य हेमचन्द्र ने **त्रिषष्टिश्लाकापुरूषचरित्र** में वर्णन किया है– "अपर महाविदेह के महावप्र विजय क्षेत्र की जयन्ती नगरी में शत्रुमर्दन नामक सम्राट थे। पुरप्रष्ठिान ग्राम में भगवान महावीर का जीव उस समय नयसार नामक ग्राम चिन्तक बना।

पुहइप्पइट्ठाणनामंपि ग्रामे नयसारो नाम ग्राम चितंगो अहेसि।

–महावीरचरित्र, पत्र 2।

तस्य ग्रामे तु पृथिवी प्रतिष्ठानाभिधेऽभवत्।
स्वामिभक्तो नयसाराभिधानो ग्राम–चिन्तकः।।

–त्रिषष्टि 10/1/15।

आचार्य गुणभद्ररचित **उत्तरपुराण** में नयसार की घटना कुछ अन्य रूप से चित्रित की गई है। उसमें नयसार के स्थान पर पुरूरवा का नाम है। वह जाति से कोली–भील था।[14] और जम्बूद्वीपस्थ विदेहक्षेत्र में सीतासरिता के सन्निकट पुष्पकलावती देश की पुण्डरीकिणी नगरी के मधुवन में रहता था। उस वन में दिग्भ्रम से भ्रमित सागरसेन मुनि को मृग समझकर वह मारने के लिये उद्यत हुआ, किन्तु पत्नी ने कहा "ये वन के देवता हैं, इन्हें न मारो।"– यह सुनकर वह मुनिराज के पास गया और

श्रद्धा से नमस्कार किया। मुनिश्री के आशीर्वादात्मक वचन सुनकर वह शान्त हो गया। उसने मुनिराज से मधु, मांस और शराब के सेवन का त्याग कर व्रत ग्रहण किये और जीवन पर्यन्त व्रतों का आदर पूर्वक पालन किया। श्वेताम्बर–ग्रन्थों में ग्रामचिन्तक कहा है तो दिगम्बर–ग्रन्थों में व्याध भीलों का मुखिया बताया है–

मधुकारण्ये वने तस्या नाम्ना व्याधाधिपोऽभवत्।

गुणचन्द्र और हेमचन्द्र ने ग्रामचिन्तक को विशिष्ट आचार का पालक धर्मशास्त्र में श्रद्धालु, हेयो– पादेय का ज्ञाता, स्वभाव से गंभीर, प्रकृति से सरल, विनीत, परोपकार–परायण आदि विशेषण देकर उसके सद्गुणों को प्रकट किया है, पर दिगम्बर परम्परा में पुरूरवा में दुर्गुणों की प्रधानता बतलाई है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति होने पर भी पात्र की प्रकृति में बहुत अंतर है। **पउमचरियं** में आचार्य श्री विमलसूरि ने भी चौबीस तीर्थंकरों के पूर्वभवों का वर्णन किया है।

दिगम्बर–परम्परा में भिल्लराज अपने साथियों के साथ दस्यु–कर्म करता हुआ आखेट में संलग्न रहता था। एक दिन पति–पत्नी वन–विहार के लिये गये। पुरूरवा ने वृक्षों के झुरमुट में दो चमकती आंखे देखीं। उसने अनुमान लगाया कि वहाँ कोई जंगली जानवर स्थित है। अतएव धनुष–वाण चढ़ाया और सघन वृक्षों के बीच स्थित उस व्यक्ति का वध करना चाहा। कालिका ने बीच में रोककर कहा– 'नाथ। वहाँ शिकार नहीं वन देवता हैं। यदि जंगली जानवर होता तो उसकी इतनी शान्त चेष्टा नहीं हो सकती थी।' पुरूरवा आश्चर्य–चकित हो झुरमुट की ओर गया। वहाँ उसने एक मुनिराज को ध्यानस्थ देखा। पति–पत्नी ने भक्ति–विभोर होकर उनकी वन्दना की और फल–फूलों से अर्चना की। ध्यान (समाधि) टूटने पर मुनिराज ने पुरूरवा को निकट भव्य जानकर धर्मोपदेश दिया–'भिल्लराज'! क्यों मोह में पड़े हो ? निरीह प्राणियों की हिंसा करते हुए तुम्हें कष्ट नहीं होता ?

भिल्लराज ने कहा– "महाराज ! मैं भिल्लों का सरदार हूँ। मेरे साथी जो लूट–पाट कर लाते हैं, उसमें मेरा हिस्सा रहता है। मैं हिंसक

जीवों को मार कर मार्ग को निरापद बनाता हूँ।" मुनिराज बोले– "अरे, भोले जीव ! तुम नहीं समझते हो कि पापाचरण में कोई किसी का साथी नहीं होता है।" भिल्लराज मुनिराज के उपदेश से अत्यधिक प्रभावित हुआ उसने पत्नी सहित उनसे अहिंसाणुव्रत ग्रहण कर उनका तत्परता पूर्वक पालन किया। अहिंसक आचरण से पुरूरवा का जीवन ही बदल गया। वह समभावी बन गया। उसके हृदय में दया और करूणा का सरोवर उत्पन्न हो गया। इसप्रकार भगवान महावीर की जीवात्मा ने आत्मोत्थान की साधना इस भिल्लराज पर्याय से प्रारम्भ की।

आयु के अन्त में भील का यह जीव नश्वर शरीर को छोड़कर स्वर्ग में देव हुआ। पूर्व संस्कार–वश वह स्वर्ग के दिव्य भोगों में आसक्त नहीं हुआ और सौधर्म स्वर्ग की आयु समाप्त कर वह आदि चक्रवर्ती भरत का मारीचि नामक पुत्र हुआ। मारीचि धर्म–साधना में दृढ़ न रह सका और अज्ञानता पूर्वक पंचाग्नि तप करने से आयु को पूर्ण कर वह ब्रह्मस्वर्ग में देव हुआ।

जटिल पर्याय (महावीर)

महावीर का यह जीव ब्रह्मस्वर्ग से च्युत होकर आयोध्यानगरी में कपिल ब्राह्मण के यहाँ जटिल नामक पुत्र हुआ। जटिल ने वेद–स्मृति आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर पूर्ण पांडित्य प्राप्त किया और कुमारावस्था में ही संसार छोड़ सन्यास ग्रहण कर लिया। आगम का विपरीत अर्थ कर लोगों को कुमार्ग की शिक्षा देकर जटिल उन्हें एकान्त मार्ग पर चलने के लिये प्रेरित करता था। उसने सन्यासी अवस्था में अज्ञानता से भरे दुर्द्धर तपश्चरण किये, पर उसकी साधना आध्यात्मिकता से शून्य थी। पुरूरवा पर्याय में अहिंसा का जो बीज वपन हुआ था, वह अभी तक अकुंरित न हो सका और महावीर का वह जीव उत्थान से पतन की ओर गतिशील होने लगा।

पुष्पमित्र पर्याय

महावीर का वह जीव सौधर्म स्वर्ग से च्युत हो अयोध्यापुरी के स्थूणागार नगर में भारद्वाज ब्राह्मण और उसकी पुष्पदत्ता नामक पत्नी से

पुष्पमित्र नामक पुत्र हुआ। पुण्योदय के कारण पुष्पमित्र का पालन–पोषण समृद्ध रूप में हुआ। उसने संस्कारवश थोड़े ही दिनों में वेद–पुराण आदि ग्रन्थों का अध्ययन कर लिया। उसका विवाह समारोह–पूर्वक सम्पन्न हुआ। कुछ दिनों तक वह सांसारिक सुख भोगता रहा। पत्नी का स्वर्गवास हो जाने पर उसके मन में विरक्ति उत्पन्न हुई। मिथ्यात्व के उदय से 'आत्म–परिणिति' का त्याग कर वह पर–परिणित में प्रवृत्त हुआ। अपनी आत्मा की परम ज्योति को वह भूल गया। फलतः उसके समस्त कार्य अध्यात्म–पोषक न होकर शरीर–पोषक ही होने लगे। कठोर साधाना करने पर भी शारीरिक कष्ट के अतिरिक्त उसे अन्य कोई उपलब्धि न हो सकी। कष्टसहिष्णुता के कारण मन्द कषाय होने से उसने देव–आयु का बंध किया और प्रथम स्वर्ग में देव हुआ। अज्ञानपूर्वक किये गये तप ने जीवन में न कोई गति उत्पन्न की और न किसी आलोक को ही प्रादुर्भूत होने दिया।

अग्निसह ब्राह्मण

पुष्पमित्र का यह जीव स्वर्ग से च्युत होकर भरतक्षेत्र में श्वेतिक नाम के नगर में अग्निभूत ब्राह्मण और उनकी स्त्री गौतमी से अग्निसह नामक पुत्र हुआ। इस पर्याय में इसने धर्म, अर्थ और काम–इन तीनों पुरूषार्थों का यथोचित सेवन किया। स्वर्ग के दिव्य भोग–भोगकर वह पुनः एक बार अग्निमित्र नामक परिव्राजक हुआ और आंशिक साधना के फलस्वरूप उसे पुनः स्वर्ग–सुख प्राप्त हुए। इसमें सन्देह नहीं कि छोटा–सा अच्छा बीज भी मधुर फल उत्पन्न करता है। एक जन्म में की गई अहिंसा की आंशिक साधना भी अनेक जन्मों में फल देती है। अतएव वह स्वर्ग से च्युत हो, भारद्वाज नामक त्रिदण्डी साधु हुआ। मिथ्या श्रद्धा को वह दूर न कर सका। देवगति के भोगों में आशक्त हो गया। इस इन्द्रियासक्ति ने उसे अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण कराया। पूर्व संचित शुभ–कार्यों से उसे मनुष्य जन्म भी मिला, परन्तु अज्ञान–पूर्वक तप किया और आत्मानुभव से भी दूर रहा।

इस प्रकार मारीचि का जीव लगातार पाँचों मनुष्य–भवों में अपने पूर्व दृढ़ संस्कारों से प्रेरित होकर उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का प्रचार करते हुए दुर्मोच दर्शनमोहनीय के साथ सभी पापकर्मों का उत्कृष्ट बन्ध करता रहा, जिसके फलस्वरूप चौदहवें भव वाले स्वर्ग से चयकर मनुष्य हो तिर्यग्योनि के असंख्यात भवों में लगभग कुछ कम एक कोड़ा–कोड़ी सागरोपम काल तक परिभ्रमण करता रहा।

तत्पश्चात् कर्मभार कम होने पर मारीचि का जीव पन्द्रहवें भव में स्थावर नामक ब्राह्मण हुआ। इस भव में तपस्वी बनकर मिथ्या मत का प्रचार करते हुए मरकर सोलहवें भव में माहेन्द्र स्वर्ग का देव हुआ।

विश्वनन्दी

सत्तरहवें भव में इसी भरत क्षेत्र में मगध देश के राजगृह नगर में विश्वभूति राजा के जैनी नामक स्त्री से विपुल पराक्रमधारी विश्वनन्दी नाम का पुत्र हुआ। इसी राजा विश्वभूति का एक छोटा भाई भी था। उसकी लक्ष्मण स्त्री से विशाखनन्दी नाम का एक मूर्ख पुत्र उत्पन्न हुआ। किसी निमित्त से विरक्त होकर राजा विश्वभूति ने अपना राज्य छोटे भाई को और युवराज पद अपने पुत्र विश्वनन्दी को देकर जिन–दीक्षा ले ली।

किसी समय युवराज विश्वनन्दी अपने उद्यान में स्त्रियों के साथ क्रीड़ा कर रहा था। उसे देखकर ईर्ष्या से सन्तप्त–चित्त हुए विशाखनन्दी ने अपने पिता से जाकर कहा कि उक्त उद्यान मुझे दिया जाय अन्यथा मैं घर छोड़ कर चला जाऊँगा। पुत्रमोह से प्रेरित होकर राजा ने उसे देने का आश्वासन दिया और एक षडयन्त्र रचकर विश्वनन्दी को एक शत्रु राजा को जीतने के लिये बाहर भेज दिया और वह उद्यान अपने पुत्र विशाखनन्दी को दे दिया।

शत्रु को जीतकर वापिस आने पर विश्वनन्दी को इस षडयन्त्र का पता चला तो वह आग–बबूला हो गया और विशाखनन्दी को मारने के लिये उद्यत हुआ। भय के मारे अपने प्राण बचाने के लिये विशाखनन्दी एक कैंथ के पेड़ पर चढ़ गया। विश्वनन्दी ने हिला–हिलाकर उस पेड़ को उखाड़ डाला और उसे मारने के लिये ज्यों ही उद्यत हुआ कि वह वहाँ

से भी भागा और एक पाषाण स्तम्भ के पीछे छिप गया। विश्वनन्दी ने उसे भी उखाड़ फेंका तो विश्वनन्दी प्राण बचाने वहाँ से भी भागा। उसे भागते देखकर विश्वनन्दी को करूणा के साथ–साथ विरक्ति–भाव जागृत हो गया और राजभवन में न जाकर वन में जाकर सम्भूत गुरू के पास जिन–दीक्षा धारण कर ली और उग्र तप करने लगा।

एक दिन विहार करते हुए गोचरी के लिये नगर में ज्यों ही प्रविष्ट हुए कि एक सद्यः प्रसूता गाय ने धक्का देकर उन विश्वनन्दी मुनिराज को गिरा दिया। उन्हें गिरता हुआ देखकर अचानक सामने आये विशाखनन्दी ने व्यंगपूर्वक कहा– "तुम्हारा वह पेड़ और खम्भे को उखाड़ फेंकने वाला पराक्रम अब कहाँ गया ?" उसका यह व्यंग–बाण मुनिराज के हृदय में प्रविष्ट हो गया और उसने निदान किया कि यदि मेरी तपस्या का कुछ फल हो तो मैं इसे अगले भव में मारूँ।" तपस्या के प्रभाव से मुनि का जीव अठारहवें भव में महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ। वह देव चयकर त्रिपृष्ठ नारायण हुआ और विशाखनन्दी का जीव अनेक कुयोनियों में परिभ्रमण कर अश्वग्रीव नाम का प्रथम प्रतिनारायण हुआ। पूर्व–भव के वैर–भाव के संस्कार से एक स्त्री का निमित्त पाकर दोनों में घमासान युद्ध हुआ। त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव को मारकर एकछत्र त्रिखण्ड राज्य–सुख भोगा। आयु के अन्त में मरकर बीसवें भव में त्रिपृष्ठ का जीव भी सातवें नरक का नारकी हुआ।

दिगम्बराचार्य गुणभद्र ने विश्वभूति के स्थान पर विश्वनन्दी नाम दिया है और विश्वनन्दी के स्थान पर विश्वभूति। उत्तरपुराण में बताया है कि– अपने लघुभ्राता को राज्य समर्पित कर विश्वभूति दीक्षा ले लेते हैं पर कथा की मौलिक घटना, उद्यान की पुष्प क्रीड़ा, भाई का अधिकार तथा किस प्रकार कपट–युद्ध का रूप तैयार किया गया आदि घटनाएँ दोनों ही परम्परा में एक जैसी हैं।

नरक में त्रिपृष्ठ के जीव ने अगणित काल तक नाना प्रकार के दुःखों को सहन किया। आयु पूर्ण होने पर यह जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में गंगा नदी के तट के समीपवर्ती वन–प्रदेश में सिंहगिरि पर्वत पर सिंह हुआ। वहाँ पर तीव्र पाप का अर्जन कर रत्नप्रभा नामक प्रथम नरक में

नारकी हुआ और एक सागर तक भयंकर दुःख भोगता रहा। इसके पश्चात् जम्बूद्वीप में सिन्धुकूट की पूर्व दिशा में हिमवत पर्वत के शिखर पर देदीप्यमान बालों से सुशोभित सिंह हुआ।

सिंह पर्याय

उत्तरपुराण के अनुसार वह भयंकर सिंह किसी समय हिरण को पकड़ कर खा रहा था। उसी समय एक चारण ऋषिधारी मुनिराज वहाँ आये और उन्होंने धर्म का उपदेश देते हुए बताया कि "त्रिपृष्ठ के भव में तुमने अत्यन्त विषयभोग भोगे। फलतः तूँ सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर नरक गया। वहाँ से आकर सिंह हुआ है।" मुनिराज की वाणी सुनकर उसे जाति–स्मरण हुआ। उसे अत्यधिक पश्चाताप हुआ। मुनिराज ने पुरूरवा आदि पूर्व–भवों का उल्लेख किया और कहा कि अब इस भव से तूं दसवें भव में अन्तिम तीर्थंकर होगा। उसी समय काल आदि लब्धियों के मिल जाने से शीघ्र ही तत्त्वश्रद्धान किया और मन स्थिर कर श्रावक के व्रत ग्रहण किये। वीरोदय में इसका निरूपण करते हुए लिखा है

उपात्तजातिस्मृतिरित्यनेनाश्रुसिक्तयोगीन्द्रपदो निरेनाः।
हिंसामहं प्रोज्झितवानथान्ते प्राणाँश्च संन्यासितया वनान्ते।। 23।।

–वीरो.सर्ग. 11।

साधु के वचन सुनकर जाति–स्मरण को प्राप्त हो अपने आँसुओं से उन योगीन्द्र के चरणों को सींच कर हिंसा को छोड़ दिया और पाप–रहित होकर जीवन के अन्त में सन्यास–पूर्वक प्राणों को छोड़कर वह सौधर्म स्वर्ग मे सिंहकेतु नामक देव हुआ। वहाँ दो सागर की स्थिति भोगकर धातकी खण्डद्वीप के पूर्वविदेह क्षेत्र में कनकप्रभ नगर में राजा कनकपुंगव और कनकमाला रानी के कनकोज्ज्वल नामक पुत्र हुआ। एक बार वह पत्नी कनकवती के साथ मन्दरगिरि पर गया। वहाँ प्रियमित्र मुनिराज के दर्शन किए। अन्त में संयम धारण कर सातवें स्वर्ग में देव हुआ। वहाँ से च्युत होकर जम्बूद्वीप के कौशल देश में साकेत नगरी के राजा वज्रसेन और रानी शीलवती के हरिषेण नामक पुत्र हुआ। जीवन के

सांध्यकाल में उसने श्रीश्रुतसागर नाम के सदगुरू से दीक्षा ली और आयु पूर्ण होने पर महाशुक्र स्वर्ग में देव हुआ।

कनकोज्ज्वल पर्याय

सौधर्म स्वर्ग से च्यकर वह देव इस भूतल पर पच्चीसवें भव में कनकोज्ज्वल नामक राजा हुआ। उसका विवाह उसके मामा हर्ष की सर्वगुण सम्पन्न अत्यन्त सुन्दर कन्या कनकावती से हुआ। उसके मन में युवावस्थाजन्य वासनाओं का द्वन्द आरम्भ हुआ। कभी वह अपनी रूपवती भार्या के गुणों का स्मरण करता, तो कभी पुरूरवा और सिंह पर्याय में किये गये संकल्प उसे उद्वेलित करने लगते। एक दिन वह पत्नी कनकावती के साथ क्रीड़ा करता हुआ महामेरू पर्वत पर जिन–चैत्यों की पूजा के लिये गया। वहाँ पर ऋद्धिधारी अवधिज्ञानी मुनीश्वर को देख उनकी तीन परिक्रमायें की और 'नमोऽस्तु' कहकर वह उनके पाद–मूल में बैठ गया। कनोकोज्ज्वल का अज्ञान–तिमिर नष्ट होने लगा और भीतर के प्रकाश से प्रकाशित हो उसने कहा "हे प्रभो! जन्म–मरण को दूर करने का उपाय बतलाइये।'

मुनिराज बोले– "वत्स ! अहिंसा, सत्य, आचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, –5 महाव्रत, ईर्या,–भाषा,–एषणा,–आदाननिक्षेपण,– व्युत्सर्ग,– 5 समितियाँ, मनोगुप्ति, वचनगुप्ति एवं कायगुप्ति, 3 गुप्तियाँ ये तेरह प्रकार के चरित्र को वीतरागी मुनि धारण करते हैं। यह साधना–मार्ग ही वीतरागता का मार्ग है।" मुनिराज के उपदेश से दिगम्बर मुनि होकर वह संयम, तप और स्वाध्याय की सिद्धि में संलग्न हो गया। अन्त में समाधि–पूर्वक प्राण त्याग करके छब्बीसवें भव में लान्तव स्वर्ग का देव हुआ।

हरिषेण पर्याय

कनकोज्ज्वल का जीव लान्तव स्वर्ग से च्युत हो कौशल देश में अयोध्या–नगरी के राजा वज्रसेन और उनकी पत्नी शीलवती के हरिषेण नाम का पुत्र हुआ। हरिषेण के युवा होने पर मातापिता और मंत्री परिषद् ने कई सुन्दर कन्याओं से उसका विवाह कर दिया। वज्रसेन ने कुमार का राज्याभिषेक किया। वह अपनी दिनचर्या नियत कर लौकिक और पारमार्थिक

कार्यों का संचालन करने लगा। सम्यक्त्व की निर्मलता के लिये देवपूजन, शास्त्र–स्वाध्याय एवं श्रावक के व्रतों का प्रमाद–रहित पालन करते हुए प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को सभी पाप कार्यों का त्याग कर प्रोषधव्रत पालन करने लगा।

एक दिन आकाश में बादलों का एक सुन्दर दृश्य देखकर उसका मानचित्र अँकित करने लगा। सहसा वायु के एक झोंके ने उस मेघपटल को क्षण–भर में तितर–बितर कर दिया। हरिषेण सोचने लगा– "ऐसा सुन्दर दृश्य जब क्षण भर में विलीन हो सकता है, तब इस जीवन का क्या भरोसा ? मैंने अगणित वर्षों तक संसार के सुखों का उपभोग किया है, पर तृप्ति नहीं हुई। तृष्णा और आशा की जलती हुई भट्टी में सभी भौतिकतायें क्षण–भर में स्वाहा हो जाती हैं। भौतिक सभ्यता या भौतिक जीवन–मूल्यों को जब मानव–जीवन की तुला पर तौला जाता है, तो निराशा ही प्राप्त होती है। ये भौतिक–सुख त्याज्य हैं। अतः मानव–जीवन में आध्यात्मिकता को अपनाना और अपनी आध्यात्मिक–शक्ति के विकास के लिये पूर्ण प्रयत्न करना परमावश्यक है।"

सम्यग्दर्शन के प्रकाश ने उसकी अन्तरात्मा को आलोकित कर दिया। विवेकोदय के कारण कषाय और विकार धूमिल हो गये। परिग्रह की आसक्ति के त्याग ने उसकी आत्मा में संयम की ज्योति प्रज्ज्वलित कर दी। अतएव उसने मुनिराज से दिगम्बर–दीक्षा देने की प्रार्थना की। अन्त में समाधिमरण कर वह महाशुक्र नामक दशम स्वर्ग में महर्द्धिक देव हुआ और वहाँ से चयकर मनुष्य–पर्याय प्राप्त की।

प्रियमित्र चक्रवर्ती

पुण्डरीकिणी नगरी में सुमित्र नाम का राजा और सुव्रता नाम की महिषी थी। इन दोनों के वह महर्द्धिक देव प्रियमित्र नामक पुत्र हुआ। पिता ने पुत्र–जन्मोत्सव में अर्हन्त की पूजा कर चार प्रकार का दान दिया और गीत–नृत्यादि पूर्वक उत्सव सम्पन्न किया। युवा होने पर पिता ने उसका राज्याभिषेक किया। पूर्व पुण्य के प्रभाव से उसे चक्रवर्तित्व, अष्टसिद्धियाँ एवं नव निधियाँ प्राप्त हुईं।

इस विपुल वैभव को प्राप्त कर भी प्रियमित्र अनासक्त रहताा था। उसे अर्थ और काम पुरूषार्थ सदोष प्रतीत होते थे। धर्म पुरूषार्थ की ओर ही उसका विशेष झुकाव था। वह निरन्तर श्रावकधर्म का सेवन करता हुआ मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण में संलग्न रहता था। प्रतिदिन देवपूजन करता हुआ, मुनियों को प्रासुक आहार देता था। अहर्निश अशुभ वृत्तियों का त्याग कर शुभ वृत्तियों को प्राप्त करने की चेष्टा करता था। सुन्दर रमणियाँ, उच्च अट्टालिकाएँ, छियान्वै करोड़ ग्राम, उद्योग शालाएँ एवं गज–अश्वादि वैभव उसे निस्सार प्रतीत होते थे।

एक दिन वह प्रियमित्र चक्रवर्ती पुरजन–परिजन के साथ क्षेमंकर तीर्थंकर की वन्दना के लिये गया। समवशरण में पहुँच कर तीन प्रदक्षिणायें देकर तीर्थंकर भगवान की पूजा की। उनसे चर्तुगति के दुःखों का वर्णन सुनकर उसका विवेक जाग उठा। उसने विरक्त होकर निर्ग्रन्थ–दीक्षा धारण कर ली। आयु के अन्त में प्राण त्याग कर सहस्रार नामक द्वादशम स्वर्ग में सूर्यप्रभ नाम का महान देव हुआ।

नन्दभव

प्रियमित्र के जन्म में राजचक्रवर्तित्व को ठुकरा कर उन्हें धर्म चक्रवर्ती बनना अभीष्ट था। अतः महावीर का जीव सदा आत्म–शोधन में प्रवृत्त रहा। उसने स्वर्ग से च्युत हो छत्रपुर नगर के राजा नन्दिवर्द्धन और उनकी पुण्यवती रानी वीरमती के यहाँ नन्द नामक पुत्र के रूप में जन्म लिया। किशोर होने पर शस्त्र और शास्त्र–विद्या के अर्जन हेतु उसे गुरू के आश्रम में भेजा गया। विद्या और कलाओं में पारंगत और युवा होने पर उसका राज्याभिषेक किया गया।

पूर्व–जन्मों में की गई साधना के फलस्वरूप वह अपने सम्यक्त्व को उत्तरोत्तर निर्मल बनाने हेतु प्रयत्नशील रहने लगा। "सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से ही आत्मा यह निश्चय करती है कि पुद्गल का एक कण भी मेरा अपना नहीं है। मैं त्रिकालावच्छिन्न शुद्ध बुद्ध रूप हूँ। शरीरादि पुद्गल–द्रव्यों की सत्ता सदा रहेगी, पर इनके प्रति जो आसक्ति/ममता है, उसे दूर करना ही पुरूषार्थ है। संसार अत्यन्त दुःखों की खान है। काम,

क्रोध, लोभ मोहादि सदा विचलित करते हैं। अतएव मुझे राज्य–वैभव और गृहस्थी के समस्त दायित्वों को त्यागकर आत्म–शोधन में प्रवृत्त होना चाहिये। अब इन सांसारिक प्रपंचों में फँसना मूर्खता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।'' ऐसा विचार कर नन्द ने समस्त अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह का त्याग कर निर्ग्रन्थ–दीक्षा ले ली। तदनन्तर नन्दमुनि ने श्रुतकेवली के पादमूल में स्थित होकर सोलहकारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थंकर प्रकृति का अर्जन कर लिया।

'एदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवो तित्थयरणामागोदं कम्मं बंधदि'

अच्युत स्वर्ग का इन्द्र

अन्त में समभावों से शरीर त्याग कर अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में वह बाईस सागर की आयु वाला अच्युतेन्द्र हुआ। उत्तरपुराण में भी ऐसा ही कथन है।

भ. महावीर और उनका समग्र जीवनदर्शन

बाईस सागरों तक दिव्य सुखों को भोगकर वह अच्युतेन्द्र अन्तिम तीर्थंकर महावीर के नाम से इस वसुधा पर अवत्तीर्ण हुआ। भगवान महावीर का समग्र जीवन–दर्शन मानव–मात्र के लिये बड़ा प्रेरक है। उनके व्यक्तित्व को लोक–कल्याण की भावना ने सजाया था, संवारा था। वे अपनी आंतरिक शक्ति का स्फोटन कर प्रतिकूल कण्टकाकीर्ण मार्ग को पुष्पावकीर्ण बनाने के लिये सचेष्ट थे। उन्होंने स्वयं अपने लिये पथ का निर्माण किया। वे निर्झर थे। उन्होंने कठिन से कठिन तप कर, कामनाओं और वासनाओं पर विजय पाकर लोक–कल्याण का ऐसा उज्ज्वल मार्ग प्रशस्त किया, जो प्राणी मात्र के लिये सहज गम्य और सुलभ था।[15]

कर्मयोगी

महावीर के व्यक्तित्व में कर्म–योग की साधना कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वे स्वयं बुद्ध थें, जागरूक थे और बोध–प्राप्ति के लिये स्वयं प्रयत्नशील थे। वे कर्मठ थे और स्वयं उन्होंने पथ का निर्माण किया था। उनका जीवन भय, प्रलोभन, राग–द्वेष सभी से मुक्त था। वे कभी मृत्यु–छाया से आक्रान्त

शमशानभूमि में, कभी गिरि–कन्दराओं में, कभी गगनचुम्बी उत्तुंग पर्वतों के शिखरों पर, कभी, कल–कल, छल–छल निनाद करती हुई सरिताओं के तटों पर और कभी जनाकीर्ण राजमार्ग पर कायोत्सर्ग मुद्रा में अचल और अडिग रूप से ध्यानस्थ खड़े रहते थे। उन्होंने अपनी श्रम–साधना और तप द्वारा अगणित प्रकार के उपसर्गों को सहन किया। इनके समक्ष शाश्वत विरोधी प्राणी भी अपना वैरभाव छोड़कर शान्ति का अनुभव करते थे। धन्य है महावीर का यह व्यक्तित्व, जिसने लौह–पुरूष का सामर्थ्य प्राप्त किया और जिसके व्यक्तित्व के समक्ष जादू–मणि, मन्त्र–तन्त्र सभी फीके थे।

अद्‌भुत साहसी

महावीर के समग्र जीवन में साहस और सहिष्णुता का अपूर्व समावेश हुआ था। सिंह, सर्प जैसे हिंसक जन्तुओं के समक्ष वे निर्भयता पूर्वक उपस्थित हो उन्हें मौन रूप में उद्‌बोधित कर सन्मार्ग पर लाते थे। महावीर ने बड़े साहस के साथ परिवर्तित होते हुए मानवीय मूल्यों को स्थिरता प्रदान की और प्राणियों में निहित शक्ति का उद्‌घाटन कर उन्हें निर्भय बनाया। उनकी अपूर्व सहिष्णता और अनुपम शान्ति विरोधियों का हृदय परिवर्तित कर देती थी। वे प्रत्येक कष्ट का साहस के साथ स्वागत करते थे। उनके अनुपम धैर्य को देखकर देवराज इन्द्र भी नतमस्तक रहता था। संगम देव ने महावीर के साहस की अनेक प्रकार से परीक्षा की थी।

करूणामूर्ति

महावीर का संवेदनशील हृदय करूणा से सदा द्रवित रहता था। वे अन्ध–विश्वास, मिथ्या आडम्बर और धर्म के नाम पर होने वाले हिंसा–ताण्डव से अत्यन्त द्रवीभूत थे। 'यज्ञीय–हिंसा हिंसा न भवति', के नारे को बदलने का दृढ़ संकल्प उन्होंने लिया और मानवता के ललाट पर अक्षय कुंकुम का विजय–तिलक लगाया। हिंसा, असत्य, शोषण, संचय और कुशील से त्रस्त मानव की रक्षा की। वास्तव में तीर्थंकर महावीर का समग्र जीवन करूणा का अपूर्व समवाय था। महावीर जैसा करूणा का मसीहा इस धराधाम पर कदाचित् ही जन्म ग्रहण कर सकेगा। आचार्यश्री ने वीरोदय में लिखा है कि भगवान महावीर के शासन की यह सबसे

अद्वितीय विशेषता थी कि इस धरा पर कोई प्राणी दुःखी न रहे, सब सुखी हों और सारे संसार की रक्षा हो –

विश्वस्य रक्षा प्रभवेदितीयद्वीरस्यसच्छासनमद्वितीयम्।
समाश्रयन्तीह धरातलेऽसून्न कोऽपि भूयादसुखीति तेषु।। 1।।

–वीरो.सर्ग.16।

दिव्य तपस्वी

महावीर उग्र, घोर एवं दिव्य तपस्वी थे। उनकी तप–साधना विवेक की सीमा में समाहित थी। वे बाह्य तप के ही साधक नहीं, अन्तस् तप के भी साधक थे। उनकी तपस्या के प्रभाव से जीवन की समस्त अशुभ वृत्तियाँ शुभरूप परिणत होकर शुद्ध रूप को प्राप्त हुई थीं।

लोककल्याण और लोकप्रियता

तीर्थंकर महावीर के कण–कण का निर्माण आत्मकल्याण और लोकहित के लिये हुआ था। लोककल्याण ही उनका इष्ट था और यही उनका लक्ष्य था। उनका संघर्ष बाह्य शत्रुओं से नहीं अपितु अन्तरंग काम, क्रोधादि वासनाओं से था। उन्होनें शाश्वत सत्य की प्राप्ति के लिये राजवैभव, विलास, आमोद–प्रमोद आदि का त्याग किया और जनकल्याण में संलग्न हुये। लोक–कल्याण के कारण ही उन्होंने अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की थी। मनुष्य तो क्या, पशु–पक्षी भी उनसे प्रेम करते थे। लोककल्याण की भावना के विषय में आचार्यश्री ने लिखा है –

स्वार्थाच्च्युतिः स्वस्य विनाशनाय परार्थतश्चेदपसम्प्रदायः।
स्वत्वं समालम्ब्य परोपकारान्मनुष्यताऽसौ परमार्थसारा।। 11।।

वीरो–सर्ग.17।

स्वावलम्बी

महावीर **'अपना कार्य स्वयं करो'** के समर्थक थे। स्वयंकृत कर्म का शुभाशुभ फल व्यक्ति को अकेले ही भोगना पड़ता है। कर्मावरण को छिन्न करने के लिये किसी अन्य की सहायता अपेक्षित नहीं है। तीर्थंकर

महावीर के व्यक्तित्व में स्वावलम्बन और स्वतन्त्रता की भावना पूर्णतः समाहित थी।

अहिंसक

अहिंसक व्यक्तित्व का प्रथम दृष्टि–बिन्दु सहअस्तित्व और सहिष्णुता है। सहिष्णुता के बिना यह अस्तित्व सम्भव नहीं है। जीवन का वास्तविक विकास अहिंसा के आलोक में ही होता है। वैर–वैमनस्य, द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या, क्रोध, अहंकार आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसात्मक विकृतियाँ हैं, वे सब हिंसा के ही रूप हैं। मनुष्य का अन्तस् हिंसा के विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता रहता है। इन प्रहारों के शमन हेतु उन्होंने अहिंसक दृष्टि और अहिंसक वृत्ति जीवन में अपना कर शत–प्रतिशत यथार्थता प्रदान की। वीरोदय में अहिंसक आचरण के सन्दर्भ में लिखा है कि –

संरक्षितुं प्राणभृतां महीं सा व्रजत्यतोऽम्बा जगतामहिंसा।
हिंसा मिथो भक्षितुमाह तस्मात्सर्वस्य शत्रुत्वमुपैत्यकस्मात्।। 11।।

– वीरो.सर्ग.16।

अहिंसा सभी प्राणियों की संसार में रक्षा करती है। इसलिये वह माता कहलाती है। हिंसा राक्षसी प्रवृत्ति है। अतः अहिंसा ही उपादेय है।

महावीर का सिद्धान्त था कि अग्नि का शमन अग्नि से नहीं होता। इसके लिये जल की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं, अहिंसा से होना चाहिये। महावीर ने जगत को बाह्य हिंसा से रोकने के पूर्व अपने भीतर विद्यमान राग–द्वेष रूप भाव–हिंसा का त्याग किया फलतः उनके व्यक्तित्व का प्रत्येक अणु अहिंसा की ज्योति से जगमगा उठा सचमुच अहिंसा के साधक महावीर का व्यक्तित्व धन्य था और धन्य थी उनकी संचरण शक्ति। उनका अहिंसक व्यक्तित्व निर्मल आकाश के समान विशाल और समुद्र के समान अतल–स्पर्शी था। दया, प्रेम और विनम्रता ने उनकी अहिंसक साधना को सुसंस्कृत किया था।

क्रांतिदृष्टा

क्रान्ति की चिनगारी महावीर के व्यक्तित्व में प्रारम्भ से थी। धर्म के नाम पर होने वाली हिंसायें और समाज के संगठन के नाम पर विद्यमान भेद–भाव एवं आत्म–साधना के स्थान पर शरीर–साधना की प्रमुखता ने महावीर के मन में किशोरावस्था से ही क्रान्ति का बीज वपन किया था।

धर्म और दर्शन के स्वरूप को औद्धत्य, स्वैराचार, हठ और दुराग्रह ने खण्डित कर दिया था। वर्ग–स्वार्थ की दूषित भावनाओं से अहिंसा, मैत्री और अपरिग्रह को आत्मसात् कर लिया था। फलतः समाज के लिये एक क्रान्तिकारी व्यक्ति की आवश्यकता थी। महावीर का व्यक्तित्व ऐसा ही क्रान्तिकारी था। वास्तव में उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व को प्राप्त कर धरा पुलकित हो उठी, शत–शत वसन्त खिल उठे। श्रद्धा, सुख और शान्ति की त्रिवेणी, प्रवाहित होने लगी और उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्व से कोटि–कोटि मानव भी कृतार्थ हुये।

निस्सन्देह पतितों और गिरों को उठाना, उन्हें गले से लगाना और कर–स्पर्श द्वारा उनके व्यक्तित्व को परिष्कृत कर देना यही तो क्रान्तिकारी का लक्षण है। महावीर की क्रान्ति जड़ नहीं, सचेतन थी, गतिशील थी।

पुरूषोत्तम

महावीर पुरूषोत्तम थे। उनके बाह्य और आभ्यन्तर व्यक्तित्वों में अलौकिक गुण समाविष्ट थे। निष्काम–भाव से जनकल्याण करने के कारण उनका आत्मबल अनुपम था। वे संसार–सरोवर में रहते हुये भी कमलपत्रवत् निर्लिप्त थे। उनका व्यक्तित्व पुरूषोत्तम विशेषण से युक्त था। क्योंकि ब्रह्मचर्य की उत्कृष्ट साधना और अहिंसक अनुष्ठान ने उनको पुरूषोत्तम बना दिया था। वे तपःभूत पुरूषोष्तम थे। श्रेष्ठ पुरूषोचित सभी गुणों का उनमें समवाय था।

निःस्वार्थ

महावीर के व्यक्तित्व में निःस्वार्थ साधक के समस्त गुण समवेत हैं। वे न उपसर्गों से घबराते थे और न परीषह सहन करने से ही। वे सभी

प्रकार के स्वार्थ और विकारों को जीतकर स्वतन्त्र / मुक्त होना चाहते थे। उनका मानना था कि जो संकल्प–विकल्पों से मुक्त हुआ है और जिसने शरीर और इन्द्रियों पर पड़ी हुई परतों को हटाया है, वही निःस्वार्थ जीवन–यापन कर सकता है। उनके व्यक्तित्व में निःस्वार्थ प्रवृत्ति विद्यमान थी। वे धर्मनेता, तीर्थंकर, उपदेशक एवं संसार के मार्ग–दर्शक थे। जो भी उनकी शरण या छत्रछाया में पहुँचा, उसे ही आत्मिक शान्ति उपलब्ध हुई। निस्सन्देह वे विश्व के अद्वितीय क्रान्तिकारी, तत्त्वोपदेशक और जननेता थे। उनकी क्रान्ति एक क्षेत्र तक सीमित नहीं थी। उन्होंने सर्वतोमुखी क्रान्ति का शंखनाद किया।

इनसभी गुणों की विवेचना करते हुये आचार्यश्री ने वीरोदय महाकाव्य में लिखा है –

किन्तु वीरप्रभुर्वीरो हेलया तानतीतवान्।
झंझानिलोऽपि किं तावत्कम्पयेन्मेरूपर्वतम्।। 36।।

–वीरो.सर्ग.10।

वीर प्रभु तो वास्तविक वीर थे, उन्होंने सभी प्रसंगों को कुतुहलपूर्वक पार करके मेरूपर्वत की तरह विजय प्राप्त की थी। इस प्रकार महावीर का समग्र जीवन–दर्शन क्रान्ति, त्याग, तपस्या, संयम अहिंसा आदि से अनुप्राणित था।

सन्दर्भ :

1. वीरोदय महाकाव्य प्रस्तावना, पृ. 1–2।
2. ज्ञानसागर महाकाव्य एक अध्ययन, पृ. 27–36।
3. वीरोदय महाकाव्य, सर्ग–4, श्लोक 57–60।
4. पाराशर स्मृति– 8/32।
5. मनुस्मति – 9/317।
6–7. वीरोदय महाकाव्य– 17/17।
8. व्रात्यकाण्ड – (आ. सायण)

9. भारतीय इतिहास एक दृष्टि, भारतीय ज्ञान पीठ काशी, प्रथम संस्करण, पृ. 39।

10. समवायंग, समवाय– 134, पत्र 98।

11. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री, वीरोदय महाकाव्य : प्रस्तावना।

12. (क) आवश्यकचूर्णि (ख) त्रिषष्ठि, 10/1।

13. उत्तरपुराण 74/15।

14. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ.– 28–58।

15. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 604–610।

परिच्छेद – 2

भगवान महावीर के उपदेशों का तात्कालिक राजाओं पर प्रभाव

तीर्थंकर महावीर ने धर्मामृत की वर्षा केवल राजगृह के आस–पास ही नहीं की, अपितु उनके समवशरण का विहार भारत के सुदूरवर्ती प्रदेशों में भी हुआ।

हरिवंशपुराण में लिखा है कि जिस प्रकार भक्तवत्सल तीर्थंकर ऋषभदेव ने अनेक देशों में बिहार कर उन्हें धर्म से युक्त किया था, उसी प्रकार अन्तिम तीर्थंकर महावीर ने भी वैभव के साथ विहार कर मध्य के काशी, कौशल, कौशल्य, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन आदि देशों में लोगों को धर्म की ओर उन्मुख किया। उन्होंने वैशाली, वणिज ग्राम, राजगृह, नालन्दा, मिथिला, भद्रिका, अलामिका, श्रावस्ती और पावा में विशेष रूप से धर्मामृत की वर्षा की थी। विपुलाचल और वैभारगिरि पर भी उनकी दिव्य ध्वनि कई बार हुई थी। अनेक राजा–राजकुमार और राजकुमारियों ने आत्म–कल्याण का मार्ग ग्रहण किया।[1]

भगवतीसूत्र में तीर्थंकर महावीर के नालन्दा, राजगृह, पणियभूमि, सिद्धार्थग्राम, कूर्यग्राम आदि में पधारने का उल्लेख है।[2] **उवासगदसासूत्र** में वणिजग्राम की धर्मसभा में आनन्द और उसकी भार्या शिवानन्दा इनके उपासक बने थे। चम्पा में श्रावक कामदेव और श्राविका भद्रा, **वाराणसी** में श्रावक चूलनिप्रिय एवं सूरदेव तथा श्राविका श्यामा और धन्या, **राजगृह** में श्रावक महाशतक और विजय **श्रावस्ती** में नन्दिनीप्रिय और शलतिप्रिय उपासक बने थे ।

जैन–ग्रन्थों में 18 गणराज्यों में प्रमुख वैशाली के राजा चेटक, राजगृह के राजसिंह श्रेणिक (बिम्बसार) कूणिक (अजातशत्रु), कौशम्बी के राजा उदयन, चंपा के राजा दधिवाहन, उज्जयिनी के राजा प्रद्योत,

वीतिभय के राजा उद्रायण, पाटिलपुत्र के सम्राट चन्द्रगुप्त व उज्जयिनी के सम्राट संप्रति आदि का उल्लेख आता है, जो निर्ग्रन्थ श्रमणों के परम उपासक माने जाते हैं। इनमें उद्राय आदि राजाओं को महावीर ने श्रमणधर्म में दीक्षित किया था। महावीर के नाना चेटक की सात कन्याओं में से प्रभावती का विवाह राजा उद्रायण के साथ, पद्मावती का शतानीक के साथ, शिवा का प्रद्योत के साथ, ज्येष्ठा का महावीर के भ्राता नन्दिवर्धन के साथ और चेतना का श्रेणिक बिंम्बसार के साथ हुआ था। वैभव–विलास से पूर्ण इन राजघरानों का भगवान् महावीर ने श्रमणधर्म में दीक्षित किया था।

स्त्रियों में राजा दधिवाहन की पुत्री– चंदनबाला भगवान महावीर की प्रथम शिष्या और भिक्षुणी–संघ की गणिनी बनी थीं। महारानियों में जयन्ती, मृगावती, अंगारवती और काली तथा राजकुमारों में मेघकुमार, नंदिषेण, अभयकुमार आदि मुख्य हैं। श्रावक–श्राविकाओं में शंख, शतक, सुलसा और रेवती आदि उल्लेखनीय हैं।

केवल–चर्या के प्रथम वर्ष में जब महावीर विहार कर राजगृही पधारे तो वहाँ राजा श्रेणिक ने सपरिवार राजसी ठाठ के साथ उनकी आगवानी की थी तथा उनके ज्ञानोपदेश को सुनकर सम्यक्त्व प्राप्त किया था। अभयकुमार आदि ने श्रावकधर्म स्वीकारा था। **नेमीचन्द्रकृत महावीरचरित,** पर्व 73–2 में लिखा है–

एसाई धम्मकहं सोउ सेणिय निवोइया भव्वा।
संमत्तं पडिवन्ना केई पुण देश विरयाई।। 294।।

त्रिषष्टिशलाकापुरूषचरित्र पर्व 10, सर्ग 6 में इस प्रकार वर्णन मिलता है –

श्रुत्वा तां देशनां भर्त्तुः सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्।
श्रावक–धर्मत्वमभय – कुमाराद्याः प्रपेदिरे।। 376।।

महावीर ने क्षत्रिय कुण्ड–ग्रामों में भी अपने वचनामृत से सबको वशीभूत कर लिया था। ऋषभदत्त व देवानन्दा भी महावीर के वात्सल्य से अभिभूत व दीक्षित होकर तपःसाधना करते हुए मोक्ष को प्राप्त हुए। क्षत्रिय

कुण्ड में जमालि व प्रियदर्शना भी अपने–अपने जनसमूह के साथ भगवान से दीक्षा ग्रहण कर तपःसाधना में लग गयी।

चम्पानगरी में महावीर के उपदेश से महाराज 'दत्त' तो प्रभावित हुए ही, राजकुमार 'महाचन्द्र' भी इतना अधिक प्रभावित हुआ कि राज्य–वैभव और 500 रानियों को त्याग कर प्रव्रज्या स्वीकार कर तपो–साधना में लग गया। **राजगृही** में भी राजा श्रेणिक ने बड़ी श्रद्धा के साथ उनका स्वागत किया। जन–सम्बोधन के लिए बड़ी सुन्दर व्यवस्था की गयी। अपार जन–समूह महावीर के सदुपदेशों से कृत–कृत्य हुआ। एक दिन राजा श्रेणिक महावीर से ज्ञानचर्चा के समय एक कोढ़ी के वचनों से बड़े चकित हुए।[3] अपनी शंकाओं का समाधान पाकर श्रेणिक इतने प्रभावित हुए कि महावीर के प्रति स्वयं असीम श्रद्धा पूर्वक घोषणा कराई कि जो कोई भी भगवान के पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, उसे वे यथोचित सहयोग देंगे।

राजा चेटक एवं सेनापति सिंह पर (धर्म) प्रभाव

वैशाली के राजा चेटक का वंश तो पहिले से ही वीर भगवान के मार्ग का अनुयायी था। भगवान का वहाँ विहार होने से वह और भी जैनधर्म में दृढ़ हो गया। यथा –

वैशाल्या भूमिपालस्य चेटकस्य समन्वयः।
पूर्वस्मादेव वीरस्य मार्ग माढौकितोऽभवत्।। 19।।

–वीरो.सर्ग.15।

जब भगवान महावीर का समवशरण वैशाली में पहुँचा तो यहाँ के महाराज चेटक और रानी सुभद्रा परिवार सहित तीर्थंकर महावीर की वंदना के लिये गये। उन्होंने महावीर के मुख से सुना– 'मनुष्य सहस्रों दुर्दान्त शत्रुओं पर सरलता से विजय प्राप्त कर सकता है, पर अपने ऊपर विजय पाना कठिन है। बाहरी शत्रुओं को परास्त करने से सुख–शान्ति प्राप्त नहीं होती है। सुख–शान्ति तो अहिंसामय वातावरण में ही प्राप्त होती है।'

महावीर के उपदेशों से विरक्त होकर चेटक ने भी दिगम्बर–दीक्षा धारण कर विपुलाचल पर्वत पर तपश्चरण प्राप्त किया। मुनि होने पर

वैशाली का आधिपत्य उनके पुत्र को प्राप्त हुआ।[4] सेनापति सिंहभद्र भी तीर्थंकर महावीर की वन्दना के लिए समवशरण में पहुँचा और विनयपूर्वक बोला– "प्रभो ! लिच्छवी–राजकुमार शाक्य मुनि गौतमबुद्ध की प्रशंसा करते हैं, उनके मत को अच्छा बताते हैं, इसका क्या कारण है ?" तीर्थंकर महावीर की वाणी की व्याख्या करते हुए इन्द्रभूति गणधर कहने लगे– 'गौतमबुद्ध के वचन मन को लुभाने वाले इन्द्रायण फल के समान सुन्दर हैं पर तुम तो कर्म–सिद्धान्त के श्रद्धालु हो। तुम्हें अक्रियावादी गौतम के मत से क्या प्रयोजन ? इन्द्रभूति गणधर ने संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी हिंसाओं का स्वरूप सेनापति सिंहभद्र को बतलाया।' सिंहभद्र गणधर के वचनों से बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने श्रावक के व्रतों को ग्रहण कर लिया ।

राजा जितशत्रु पर प्रभाव

वैशाली के निकट स्थित वाणिज्य ग्राम का राजा जितशत्रु भी महावीर की दिव्य–ध्वनि सुनकर बहुत प्रभावित हुआ था तथा उनका भक्त बन गया था।[5]

'तेणं कालेणं तेणं समएणं चंपा नामं नगरी होत्था। जियसत्तू राया।'

चम्पाः– कुणिक, अजातशत्रु, दधिवाहन और करकण्डुक पर प्रभाव–

तीर्थंकर महावीर का समवशरण जब चम्पा में आया तब वहां का राजा कुणिक अजातशत्रु था। महावीर की वन्दना के उपरान्त अजातशत्रु ने पूछा– "प्रभो! विश्व के लोग लाभ के हेतु ही उद्योग क्यों करते हैं ?" उत्तर में देशना हुई" राजन्! मनुष्य का उद्योग लाभ के लिए ही होता है। लाभ दो प्रकार के होते हैं– लौकिक और पारलौकिक। आत्मसुख अनुभूति–गम्य है। इसकी तुलना सांसारिक सुखों से नहीं की जा सकती।" अजातशत्रु कुणिक इस देशना को सुनकर प्रभावित हुआ और उसने इन्द्रभूति गौतम के निकट श्रावक के व्रत ग्रहण कर लिये।[6]

तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं महावीरे जाव समोसरिए परिसा निग्गमा।
कूणिए राया जहा तहा जितसत्तू निग्गच्छइ–निग्गच्छइत्ता जाव पज्जुवासइ।।

राजा दधिवाहन

चम्पानगरी के प्रतिपालक राजा दधिवाहन और उसकी रानी पद्मावती भी भ. महावीर के उपदेशों से प्रभावित होकर जैनधर्म का पालन करने लगे थे। **यथा** –

चम्पाया भूमिपालोऽपि नामतो दधिवाहनः।
पद्मावती प्रिया तस्य वीरमेतौ तु जम्पती।। 18।।

–वीरो.सर्ग.15।

राजाकरकण्डु

राजा दधिवाहन की पत्नी पद्मावती को गर्भावस्था में इच्छा हुई कि वह पुरूषवेश धारण कर सिर पर छत्र लगाकर वर्षा में हाथी पर बैठकर विहार करे। राजा ने रानी की इच्छा पूर्ति हेतु कृत्रिम वर्षा की व्यवस्था की और सिर पर छत्र लगाकर पुरूषवेश में हाथी पर बैठाकर राजा सेना के साथ नगर के बाहर निकला। अपनी जन्म स्थली विन्ध्य–भूमि का स्मरण आने से हाथी रानी को लेकर वन की ओर भाग गया। राजा तो चम्पानगरी लौट आये पर हाथी निर्जन वन में चला गया। वहाँ रानी ने साध्वियों के उपाश्रय में पुत्र करकण्डु को जन्म दिया। नवजात शिशु को रत्नकम्बल में लपेट कर श्मसान में छोड़कर रानी छिपकर बैठ गई। जब श्मसान का मालिक चाण्डाल बच्चे को उठाकर ले गया तो रानी उपाश्रय में साध्वियों के यहाँ पहुँची और उनसे कहा– "मृत पुत्र हुआ था, मैने उसे छोड़ दिया।" करकण्डु बड़ा होकर कांचनपुर का राजा बना। राजा दधिवाहन इन्द्रभूति गौतम से शाश्वत सुख का मार्ग जानकर तीर्थंकर महावीर के समोशरण में ही दीक्षित हो गया था और कालान्तर में करकण्डु ने भी विरक्त होकर दीक्षा ले ली थी।[7]

राजा जीवन्धर

दक्षिण भारत में कर्नाटक के हेमागंद देश में तीर्थंकर महावीर का समवरशरण पहुँचा। यहाँ के सुरमलय उद्यान में धर्मसभा जुड़ी। जीवन्धर ने अत्यन्त समारोह पूर्वक वीरसंघ का स्वागत किया और परिजनों के साथ

समवशरण में प्रविष्ट हुए। वहाँ तीर्थंकर महावीर के उपदेशों से इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने महारानी गन्धर्वदत्ता के पुत्र वसुन्धर कुमार को राज्य देकर नन्दाढ्य, मधुर आदि भाइयों और मामा के साथ दिगम्बर दीक्षा ले ली।

अन्य राजाओं पर प्रभाव

अर्हद्दास सेठ के सुपुत्र जम्बुकुमार तो (उसी दिन विवाह करके लाई हुई अपनी सर्व स्त्रियों को सम्बोधन कर) भगवान से दीक्षा लेकर गणनायक बने। जम्बूकुमार के साथ विद्युच्चोर भी अपने पाँच सौ साथियों के साथ श्रमणपना अंगीकार कर आत्मज्ञान को प्राप्त हुआ। सूर्यवंशी राजा दशरथ और उसकी रानी सुप्रभा वीर–शासन को स्वीकार कर जैनधर्म–परायण हुए।

राजपुर्या अधीशानो जीवको महतां महान्।
श्रामण्यमुपयुञ्जानो निर्वृत्तिं गतवानितः।। 24।।
श्रेष्ठिनोऽप्यर्हद्दासस्य नाम्ना जम्बूकुमारकः।
दीक्षामतः समासाद्य गणनायकतामगात्।। 25।।
विद्युच्चौरोऽप्यतः पञ्चशतसंख्यैः स्वसार्थिभिः।
समं समेत्य श्रामण्यमात्मबोधमगादसौ।। 26।।
सूर्यवंशीयभूपालो रथोऽभूद्दशपूर्वकः।
सुप्रभा महिषीत्यस्य जैनधर्मपरायणा।। 27।।

–वीरो.सर्ग.15।

इस प्रकार भारतवर्ष के अनेक राजाओं को प्रभावित करता भ. महादीर–रूप धर्म–सूर्य के वचन–रूप किरणों का समूह संसार में सत्य तत्त्व का प्रचार करता हुआ सर्व ओर फैला।

यद्यपि भगवान महावीर के उपदेश विश्व–मात्र के कल्याण के लिए थे, किन्तु जिन लोगों ने इसे धारण किया, वे उसके अनुयायी कहे जाने लगे। उनके मंगलकारी उपदेश प्राणीमात्र नतमस्तक हो श्रद्धापूर्वक

श्रवण करता था। उनकी उपकारी वाणी प्राणियों के हृदय का कालुष्य सहज ही दूर करती थी। जनता ने सहस्राब्दियों के बाद पहली बार धर्म की व्यापक लोकोपयोगिता समझी थी। उनकी प्रेरणा और उद्‌बोधन से शोषण और वर्गभेद की प्रवृत्ति समाप्त हो गई थी। तथा अहिंसा और संयम की अपराजेय शक्तियाँ विकसित हो गई थीं। इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने लगभग तीस वर्षों तक धर्मामृत का वर्षण कर तत्कालीन समाज को तृप्त किया।

गृहस्थ धर्म एवं मुनि धर्म का वर्णन

कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विषय में आचार्य श्री ज्ञानसागर ने लिखा है कि गृहस्थ के आजीविका का अभाव ही अकृत्य है और साधु को आजीविका करना भी अकृत्य है। राजा होकर यदि दुष्टों को दण्ड न दे तो यह उसका अकृत्य है और यदि राज्यापराधियों को मुनि दण्ड देने लगे तो यह उसका अकृत्य है। धर्म दो प्रकार का है (1) गृहस्थ धर्म (2) मुनिधर्म। संसारवर्ती गृहस्थों के अणुव्रत होते हैं और गृहत्यागी मुनियों के महाव्रत होते हैं।

गृहस्थ–धर्म

गृहस्थ धर्म के लिये प्राकृत ग्रन्थों में सावय, सावग और उवासग तथा संस्कृत ग्रन्थों में श्रावक, उपासक और सागार शब्दों का प्रयोग किया गया है। उक्त आधार पर गृहस्थ धर्म को सावयधम्म, श्रावकाचार, उपासकाचार, सागारधर्म आदि नाम लिये गये हैं। तथा गृहस्थाचार विषयक ग्रन्थों के श्रावकाचार, उपासकाध्ययन, उपासकाचार सागारधर्मात आदि नाम रखे गये हैं। कुछ अन्य ग्रन्थ, जिनमें श्रावकाचार का वर्णन किया गया है, इनसे भिन्न नामों से भी लिखे गये। जैसे– समन्तभद्र का रत्नकरण्डक, अमृतचन्द्र का पुरूषार्थसिद्धयुपाय और पद्मनन्दि की पंचविंशतिका। गृहस्थ धर्म, मुनि– धर्म की नींव है, क्योंकि इसी पर ही मुनि–आचार का भव्य प्रासाद खड़ा होता है। एक गृहस्थ ही बाद में मुनि–दीक्षा धारण करके मोक्ष प्राप्त करता है।

जैन–शास्त्रों में लिखा है कि गृहस्थ–धर्म का पालन वही कर सकता है जो न्याय से धन कमाता है, गुणीजनों का आदर करता है, मीठी

वाणी बोलता है, धर्म, अर्थ, और काम का सेवन इस रीति से करता है कि वे एक दूसरे में बाधक नहीं होते, लज्जाशील होता है, सद्आहार–विहार से युक्त होता है, सदा सज्जनों की संगति में रहता है और शास्त्रज्ञ, कृतज्ञ, दयालु, पापभीरू और जितेन्द्रिय होता है। जैन–गृहस्थ के आठ मूलगुण होते हैं। अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरग्रिह का एकदेश पालन तथा मांस, मधु और मदिरा का सर्वथा त्याग इन्हें ही मूलगुण कहा जाता है। मांस खाना, प्राणियों को मारना, दूसरों को स्वामित्व वाली वस्तु का अपहरण करना इत्यादि निंद्य कार्य संसार में किसी भी प्राणी के लिए करने योग्य नहीं है।

पंचाणुव्रत

जैनदर्शन में मुनियों के अट्ठाईस मूलगुण और गृहस्थों के बारह व्रत निर्धारित है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह– इन पांच गुणों का स्थूलरूप से एक देश त्याग करना अणुव्रत कहलाता है, और सर्वदेश त्याग करना महाव्रत कहा जाता है। गृहस्थों/श्रावकों को अणुव्रत और मुनियों को महाव्रत कहे गये हैं।

1. अहिंसाणुव्रत

मन, वचन काय, कृत, कारित, अनुमोदना से संकल्प–पूर्वक किसी त्रस जीव को नहीं मारना अहिंसाणुव्रत कहलाता है। रत्नकरण्डक श्रावकाचार में (53) में इसका स्वरूप इस प्रकार बताया है – मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना से संकल्प के द्वारा त्रस–जीवों का घात नहीं करता है, उसे **"स्थूल–वध–विरमण"** कहते हैं। अहिंसाणुव्रत का यह परिपूर्ण लक्षण है। उत्तरकाल में भी इसमें कुछ घटाने या बढ़ाने की आवश्यकता प्रतीत नहीं हुई, किन्तु **सर्वार्थसिद्धि** में त्रस जीवों के प्राणों का घात न करने वाले को अहिंसाणुव्रती कहा है।[8] **तत्त्वार्थवार्तिक** में त्रिया पद जोड़कर मन, वचन, काय या कृत, कारित, अनुमोदना का निर्देश कर दिया गया है, किन्तु संकल्प का उल्लेख उसमें भी नहीं।[9]

2. सत्याणुव्रत

आ. समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक में लिखा है, जो स्थूल झूठ न तो

स्वयं बोलता है, न दूसरों से बुलवाता है, उसे सन्त जन स्थूलमृषावाद विरमण कहते हैं –

स्थूलमलीकं न वदति न परान् वादयति सत्यमपि विपदे।
यत्तद्वदन्ति सन्तः स्थूलमृषावाद – वैरमणम्।। 55।।

–रत्न.श्रा.।

मनुस्मृति में कहा है कि – सत्य बोलो, वह भी प्रिय बोलो, अप्रिय सत्य न बोलो तथा प्रिय होने पर भी असत्य न बोलो– यही सनातन धर्म है –

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयाद् एष धर्मः सनातनः।।

–मनुस्मृति अ. 4

3. अचौर्याणुव्रत

अचौर्यणुव्रत के लिये **कुन्दकुन्द** ने स्थूल आदत्त–परिहार तथा **समन्तभद्र** ने अकृशचौर्य उपरमण नाम दिये हैं। 'चाउज्जामसंवर में अदिण्णादान विरमण' नाम आया है। संस्कृत ग्रन्थों में इसे 'अदत्तादान विरमण' कहा है। आ. समन्तभद्र ने कहा है – "किसी की रखी हुई भूली हुई, या गिरी हुई वस्तु को न स्वयं लेना ओर न उठा कर दूसरे को देना अचौर्यागुणव्रत है।

निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वमविसृष्टम्।
न हरति यन्न च दत्ते तदकृशचौर्यादृपारमणम्।। 57।।

–रत्न. श्रा.।

4. ब्रह्मचर्याणुव्रत

चतुर्थ अणुव्रत के लिये परदार–निवृत्ति, स्वदार–सन्तोष, स्थूल ब्रह्मचारी आदि नाम आये हैं। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने 'परमहिला–परिहार' नाम दिया है। **समन्तभद्र** ने रत्नकरण्डक में लिखा है कि "जो पाप

समझकर न तो पर स्त्रियों के पास स्वयं जाता है और न दूसरों को भेजता है, उसे परदार–निवृत्ति या स्वदार–सन्तोष व्रत कहते हैं''–

न च परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृतिः स्वदारसन्तोषनामापि।। 59।।

–रत्न.श्रा.।

पूज्यपाद देवनन्दि ने **सर्वार्थसिद्धि** में लिखा है कि गृहीत या अगृहीत परस्त्री के साथ रति न करना गृहस्थ का चौथा अणुव्रत है।[10] अमृतचन्द्र ने **पुरूषार्थसिद्धयुपाय** में लिखा है कि जो मोहवश अपनी स्त्री को छोड़ने में असमर्थ है, उन्हें भी शेष सब स्त्रियों का सेवन नहीं करना चाहिये।[11] सोमदेव ने **उपासकाध्ययन** में लिखा है[12] कि वधु और वित्त–स्त्री को छोड़कर अन्य सब स्त्रियों को माता, बहन और पुत्री समझना गृहस्थ का ब्रह्मचर्य है।

5. परिग्रह परमाणाणुव्रत

आचार्य कुन्द–कुन्द ने पंचम अणुव्रत का नाम 'परिग्रहारंभपरिमाण' दिया है। **तत्त्वार्थसूत्र**[13] में मूर्छा को परिग्रह कहा है और **सर्वार्थसिद्धि** में उसकी व्याख्या करते हुए बाह्य गौ, भैंस, मुक्ता वगैरह चेतन–अचेतन और रागादि भावों के संरक्षण अर्जन आदि रूप व्यापार को मूर्च्छा कहा है। 'वह मेरा है' ऐसा संकल्प होने पर संरक्षण आदि किया जाता है, उसमें हिंसा अवश्य होती है। उसके लिये मनुष्य झूठ बोलता है। चोरी करता है। मैथुन–कर्म में प्रवृत्त होता है। परिग्रह की भावना का मूल ममत्व–भाव है। इसलिए उसे ही परिग्रह कहा है। किन्तु धन, धान्य आदि बाह्य वस्तु उस ममत्व–भाव में कारण होती है, इसलिए उन्हें भी परिग्रह कहा है। **आचार्य अमितगति** ने अपने श्रावकाचार में लिखा है कि लोक में सब आरम्भ परिग्रह के लिये किये जाते हैं। जो परिग्रह कम करता है वह समस्त आरम्भों को कम करता है।

सर्वारम्भा लोके संपद्यन्ते परिग्रहनिमित्ताः।
स्वल्पयते यः संगं स्वल्पयति सः सर्वभारम्भम्।। 90।।

गुणव्रत

गुणव्रत अष्टमूल गुणों में गुणवृद्धि या दृढ़ता करते हैं, इसलिए इनको गुणव्रत कहते हैं। **आचार्य उमास्वामी** ने तत्त्वार्थसूत्र में दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्डव्रत इन तीन गुणव्रतों का उल्लेख किया है। **आचार्य समन्तभद्र** ने रत्करण्डक श्रावकाचार में दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत और भोगापभोगपरिमाणव्रत इन तीनों को गुणव्रत माना है।

1. दिग्व्रत

सूक्ष्म पापों से भी बचने के लिए दशों दिशाओं में आवागमन की मर्यादा करके, उससे बाहर जीवन–पर्यन्त नहीं जाना **दिग्व्रत** कहलाता है।

दिग्वलयं परिगणितं, कृत्वातोऽहं बहिर्न यास्यामि।
इति संकल्पो दिग्व्रतमामृत्यणुपापविनिवृत्यै।। 68।।

–रत्न.श्रा.।

2. अनर्थदण्डव्रत

दिग्व्रत में की हुई मर्यादा के भीतर, जिनसे धर्म, यश, सुख और लाभ कुछ भी नहीं होता, ऐसी निष्फल पापबंध के कारण, मन, वचन, काय की प्रवृत्ति से विरक्त होना **अनर्थदण्डव्रत** कहलाता है। प्रयोजन–रहित, पापसहित भोगों से निवृत्त होने को **अनर्थदण्डव्रत** कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं –

1. **पापोपदेश** – हिंसा, आरम्भ और छल आदि में प्रवर्तक कथाओं का बार–बार प्रसंग उठाना।

2. **हिंसादान** – हिंसा के उपकरण तलवार आदि का दान।

3. **अपध्यान** – दूसरों का बुरा चाहना।

4. **दुःश्रुति** – राग–द्वेष बढ़ाने वाले खोटे शास्त्रों का सुनना।

5. **प्रमादचर्या** – बिना प्रयोजन के इधन–उधर घूमना, पृथ्वी खोदना आदि प्रमादचर्या हैं। इन पांचों के त्याग को अनर्थदण्डव्रत कहते हैं।

3. भोगोपभोगपरिमाणाणुव्रत

जो एक बार भोगने में आये उसे **भोग** और जो बार–बार भोगने में आये उसे **उपभोग** कहते हैं। एक बार भोगे जाने वलो पदार्थ भोजन, पुष्प, गन्ध आदि होते हैं। बार–बार भोगने वाले आभूषण वस्त्र आदि होते हैं। इनकी सीमा का निश्चित करना **भोगापभोगपरिमाणाणुव्रत** है।

वीरोदय महाकाव्य में गृहस्थ या श्रावक के धर्मानुसार करणीय कार्यों के विषय में कहा है कि गृहस्थ अवस्था में रहते हुए प्राणीमात्र पर मैत्रीभाव गुणीजनों पर प्रमोदभाव और दुःखी जीवों पर करूणाभाव रखना चाहिए। विरोधियों पर समताभाव रखते हुए प्रसन्नचित्त हो जीवन यापन करना चाहिए। सभी से स्नेहमय व्यवहार करना चाहिए। रूखा या आदर–रहित व्यवहार किसी के भी साथ नहीं करना चाहिए।

समीक्ष्य नानाप्रकृतीन्मनुष्यान् कदर्थिभावः कमथाप्यनुस्यात्।
सम्भावयन्नित्यनुकूलचेता नटायतामङ्गिषु यः प्रचेताः।। 34।।

–वीरो.सर्ग.18।

गृहस्थ को अपने मन को सदा कोमल रखते हुए सभी के साथ भद्रता व नम्रता का व्यवहार करना चाहिए। मद्य, मांस, आदि मादक वस्तुओं का सेवन नहीं करना चाहिए। सांसारिक कार्यों से समय बचा कर धर्म–कार्य भी करना चाहिये। जाति–कुल का मद नहीं करना चाहिये। स्वार्थी तथा धन का दास नहीं बनना चाहिये। किन्तु लोकोपकारी यश के भी कुछ काम करने चाहिए। पापों से बचने के लिये दूसरों के प्रति ईर्ष्या–द्वेष आदि नहीं करना चाहिए।

वहावशिष्टं समयं न कार्यं मनुष्यतामञ्च कुलन्तु नार्य!।
नार्थस्य दासो यशसश्च भूयाद् धृत्वा त्वधे नान्यजनेऽभ्यसूयाम्।। 37।।

–वीरो.सर्ग. 18।

सांसारिक बाह्य वस्तुओं पर अधिकार पाने के लिए मन पर अपना अधिकार रखते हुए दूसरों के दोषों को नहीं कहना चाहिये। अहंभाव को छोड़ दें। इस छल–छिद्रों से भरे संसार में कृतज्ञता प्रकट करें।

मनोऽधिकुर्यान्न तु बाह्यवर्गमन्यस्य दोषे स्विदवाग्विसर्गः।
मुञ्चेदहन्तां परतां समञ्चेत्कृतज्ञतायां महती–प्रपन्चे।। 38।।

–वीरो.सर्ग. 18।

गृहस्थ किसी भी बात को अच्छी तरह जाँच कर ही उचित अनुचित का निर्णय ले। इस प्रकार की जीवन चर्या से गृहस्थ का इहलोक व परलोक दोनों सुधर जाते हैं।

श्रुतं विगाल्याम्बु इवाधिकुर्यादेतादृशी गेहमृतोऽस्तु चर्या।
तदा पुनः स्वर्गल एव गेहः क्रमोऽपि भूयादिति नान्यथेह।। 39।।
एवं समुल्लासितलोकयात्रः संन्यस्ततामन्त इयादथात्र।
समुज्झिताशेषपरिच्छदोऽपि अमुत्र सिद्धयै दुरितैकलोपी।। 40।।
निगोपयेन्मानसमात्मनीनं श्रीध्यानवप्रे सुतरामदीनम्।
इत्येष भूयादमरौ विपश्चित्र स्यात्पुनर्मारयिताऽस्य कश्चित्।। 41।।

–वीरो.सर्ग.18।

गृहस्थ इस प्रकार धर्मानुसार जीवन व्यतीत करते हुए अन्त समय में परलोक की सिद्धि के लिए सर्व परिजन व परिग्रहादि को छोड़कर तथा पांचों पापों का सर्वथा त्याग कर सन्यास दशा को स्वीकार करें अर्थात् साधु बनकर समाधि पूर्वक अपने प्राणों का विसर्जन करें।

सन्यास दशा में साधक अपने मन को दृढ़तापूर्वक श्री वीतराग प्रभु के ध्यान रूप कोट में सुरक्षित रखे और सर्व संकल्प–विकल्पों का त्याग करे। ऐसा करने वाला साधक विद्वान् नियम से अजर–अमर बन जायेगा। जो मनुष्य सन्मार्ग–गामी बनेगा वह उन्नति के उच्च पद को अवश्य प्राप्त होगा।

6. शिक्षाव्रत

देशावकाशिकं वा सामायिकं प्रोषधोपवासो वा।
वैय्यावृत्यं शिक्षाव्रतानि चत्वारि शिष्टानि।। 91।।

–रत्न. श्रा.।

1. देशावकाशिक, 2. सामायिक, 3. प्रोषधोपवास, 4. वैयावृत्य– ये चार **शिक्षाव्रत** कहे गये हैं। मुनि व्रत की शिक्षा के लिये जो व्रत होते हैं, वे **शिक्षाव्रत** कहलाते हैं। प्रयत्नपूर्वक सामायिक करना, प्रोषधोपवास धारण करना, अतिथिसंविभाग और आयु क्षय होने पर सल्लेखना धारण करना ये चार शिक्षाव्रत हैं।

1. देशावकाशिक शिक्षाव्रत

मर्यादित देश में नियत काल तक रहना **'देशावकाश'** कहलाता है। देशावकाश जिस प्रकार का प्रयोजन है, उसे **'देशावकाशिक व्रत'** कहते हैं। प्राणी को प्रतिदिन प्रातःकाल समय की अवधि में लेकर अपने यातायात की सीमा निश्चित कर क्षेत्र को संकुचित कर लेना चाहिए।

2. सामायिक शिक्षाव्रत

मर्यादा के बाहर तथा भीतर के क्षेत्र में सर्वत्र ही समस्त मन, वचन, काय, कृत, कारित, अनुमोदना द्वारा कार्य की मर्यादा करके पाँच पापों का पूर्ण त्याग करना **'सामायिक' शिक्षाव्रत** कहलाता है।

3. प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत

चारों प्रकार के आहारों का त्याग करना 'उपवास' कहलाता है, तथा एक बार भोजन करना प्रोषध कहलाता है। धारणा, पारणा के दिन एकाशन के साथ पर्व के दिन जो उपवास किया जाता है, वह **प्रोषधोपवास** है। एकासन के साथ अष्टमी व चतुर्दशी को उपवास करना भी **प्रोषधोपवास** है।

4. अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत

पूर्व–सूचना के बिना परिग्रह–रहित और सम्यग्दर्शनादि गुणों से युक्त जो मुनिराज घर आते हैं, वे अतिथि कहे जाते हैं। इनके लिये आदरपूर्वक भिक्षा, उपकरण आदि देना अतिथिसंविभाग है।

अष्ट मूलगुण

मुख्य गुणों को "मूल–गुण" कहा जाता है। जैसे नींव के बिना मकान की स्थिति नहीं होती, जड़ के बिना वृक्ष की स्थिति नहीं हो सकती।

उसी प्रकार मूलगुणों के बिना श्रावक की संज्ञा नहीं बन सकती। प्रत्येक श्रावक के लिये पाँच अणुव्रतों का पालन और मद्य, मांस, मधु का त्याग ये आठ मूलगुण आवश्यक हैं। मद्य–मांस–पांच उदुम्बर फल और रात्रिभोजन के त्याग के साथ–साथ जीवदया का पालन करना, पानी छानकर पीना और पंचपरमेष्ठियों को नमस्कार करना प्रत्येक गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य है।

भक्ष्य–अभक्ष्य विमर्श

1. जिनके खाने से त्रस जीवों का घात होता है वे पदार्थ त्रस हिंसाकारक अभक्ष्य कहलाते हैं। जैसे पञ्च उदम्बर फल, धुन लगा अन्न, अमर्यादित वस्तु जिसमें बरसात में फफूंदी लग जाती है। ऐसी कोई भी खाने की चीजें, चौबीस घंटे के बाद का मुरब्बा–आचार, बड़ी, पापड़ और द्विदल आदि के खाने से त्रस–जीवों का घात होता है। (कच्चे दूधा में या कच्चे दूध से बने हुए दही में दो दाल वाले मूँग, उड़द, चना आदि अन्न की बनी चीज मिलाने से द्विदल बनता है।)

2. जिस पदार्थ के खाने से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है उसे स्थावर हिंसा कारक अभक्ष्य कहते हैं। जैसे प्याज, लहसुन, आलू, मूली आदि कंदमूल तथा तुच्छफल खाने से अनन्तों स्थावर जीवों का घात हो जाता है। 3. जिसके खाने से प्रमाद या काम विकार बढ़ता है वे प्रमाद–कारक अभक्ष्य हैं। 4. जो पदार्थ भक्ष्य होने पर भी अपने लिये हितकर न हों वे अनिष्ट हैं। जैसे बुखार वाले को हलुआ व जुकाम में ठण्डी चींजें हितकर नहीं हैं। 5. जो पदार्थ सेवन योग्य न हों वे भी अभक्ष्य (लार, मूत्रादि) हैं। अभक्ष्य 22 हैं –

ओला, घोर, बडा, निशिभोजन, बहुबीजा, बैगन, सन्धान।
बड़, पीपल, ऊमर, कठऊमर, पाकर, फल या होय अजान।।
कंदमूल, माटी, विष, आमिष, मधु, माखन और मदिरापान।
फल अतितुच्छ, तुषार, चलित–रस ये बाईस अभक्ष्य हु जान।।

व्यसन – बुरी आदतों को कहते हैं। ये सात प्रकार के हैं। 1. जुआ

खेलना, 2. शराब पीना, 3. मांस खाना, 4. वेश्या सेवन करना, 5. शिकार खेलना, 6. चोरी करना, 7. परस्त्री सेवन करना।

अष्ट मूलगुणों, भक्ष्याभक्ष्य–विमर्श, व्यसन आदि का यद्यपि आचार्यश्री ने अलग–अलग उल्लेख नहीं किया है फिर भी महावीर के उपदेशों में उन्होंने सभी के लिए उचित–अनुचित कार्यों का संकेत अवश्य किया है। जैसे –

पलास्याशनं चानकाङ्गिप्रहारः सनाग् वा पराधिष्ठितस्यापहारः।
न कस्यापि कार्यं भवेज्जीवलोके ततस्तत्प्रवृत्तिः पतेत्किन्नसोऽके।। 21।।

–वीरो.सर्ग.16।

इस श्लोक में आचार्यश्री ने लिखा है कि माँस खाना, निरपराध प्राणियों को मारना, दूसरे के स्वामित्व वाली वस्तु का अपहरण करना इत्यादि निंद्य कार्य संसार में किसी को भी करने योग्य नहीं हैं। इन दुष्कृत्यों में प्रवृत्ति करने वाला क्यों न पाप–गर्त में गिरेगा ? इसलिये व्यक्ति को मांस आदि का भक्षण नहीं करना चाहिए। इनका सर्वथा त्याग ही पाप के दण्ड से बचने का उपाय है।

पले वा दलेवाऽस्तु कोऽसोविशेषः द्वये प्राणिनोऽङ्गप्रकारस्य लेशः।
वदन्नित्यनादेयमुच्चारमत्तु पयोवन्न किं तत्र तत्सम्भवत्तु।। 23।।

–वीरो.सर्ग.16।

अतः प्राणी–जनित वस्तुओं में जो पवित्र होती हैं वही ग्राह्य हैं, अपवित्र नहीं। अतः शाक–पत्र व दूध ग्राह्य हैं, माँस और गोबर ग्राह्य नहीं हैं।

दलाद्यग्निना सिद्धमप्रासुकत्वं त्यजेदित्यदः स्थावराङ्गस्य तत्त्वम्।
पलं जङ्गमस्याङ्गमेतत्तु पक्वमपि प्राघदं प्रासुकं तत्पुनः क्व।। 24।।

–वीरो.सर्ग.16।

शाक–पत्र आदि अग्नि में पकने के बाद प्रासुक (निर्जीव) हो जाते हैं, क्योंकि वे स्थावर ऐकेन्द्रिय जीव के अंग हैं, किन्तु मांस चलते–फिरते जंगम जीवों के शरीर का अंग है, वह अग्नि में पकने पर भी प्रासुक नहीं

होता, इसलिए शाकपत्रादि ग्राह्य हैं, मांसादि नहीं। आचार्यश्री ने इनमें भेद करते हुए कहा है कि शाक पकाने पर मांस के समान दुर्गन्ध नहीं आती है तथा शाकपत्रादि मांस के समान जल से सढ़ते भी नहीं हैं, क्योंकि उनकी उत्पत्ति जल से होती है। इस प्रकार शाकपत्रादि व मांस में भेद है, फिर भी मांस खाने वाले के दुराग्रहियों को इसका कदाचित् भी विवेक नहीं है।

न शाकस्य पाके पलस्येव पूतिर्न च क्लेदभावो जलेनात्तसूतिः।
इति स्पष्टभेदः पुनश्चापि खेदः दुरीहावतो जातुचिन्नास्ति वेदः।। 25।।

–वीरो.सर्ग.16।

कुछ मुनष्य मांस शाकपत्रादि में प्रत्यक्षों भेद देखते–जानते हुए भी मांस खाना नहीं छोड़ते। यही उनकी इन्द्रियाधीन प्रवृत्ति है और उसके वश होकर अज्ञान से कुतर्क करके मांस जैसी निंद्य वस्तु को उत्तम बताते हैं इसी भाव को इस श्लोक में प्रकट किया है –

तदेवेन्द्रियाधीनवृत्तित्वमस्ति यदज्ञानतोऽतर्क्यवस्तु प्रशस्तिः।
विपत्तिं पतङ्गादिवत्सम्प्रयाति स पश्चात्तपन् सर्ववित्तुल्यजातिः।। 26।।

–वीरो.सर्ग.16।

वीरोदय में भक्ष्याभक्ष्य पर आचार्यश्री ने अपने विचार संक्षेप में प्रस्तुत किये हैं, इन्हीं विचारों को स्पष्ट रूप देने के लिए उन्होंने "सचित्त–विवेचन एवं सचित्त–विचार" नामक ग्रन्थों की रचना की। एक अन्य श्लोक में भी ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं कि संसार में मनुष्य को पूजनीय बनना है, तो मन को कोमल रखो, मद्य आदि मादक वस्तुओं का *सेवन कभी ना करो, पलाश (ढाक–वृक्ष) की असफलता को देखकर पल* (मांस) का भक्षण कभी न करो और रात्रि में भोजन करके कौन–भला आदमी निशाचर बनना चाहेगा ? कोई भी नहीं –

कुर्यान्मनो यन्मऋनीयमञ्चे नमद्यशः संस्तवनं समञ्चेत्।
दृष्ट्वा पलाशस्य किलाफलत्वं को नाम वाञ्छेच्च निशाचरत्वम्।। 36।।

–वीरो.सर्ग.18।

मांस–भक्षण और रात्रिभोजन–त्याग के साथ ही आचार्यश्री ने जल छानकर पीने की बात भी एक श्लोक (29/18) में कही है। सुनी हुई बात को जल के समान छानकर स्वीकार करें, सहसा सुनी बात पर विश्वास न करें, खूब छानबीन कर उचित–अनुचित का निर्णय करें। जो मनुष्य इन पापों में लिप्त रहता है, और विपरीत आचरण करता है, वह संसार के दुःख–गर्त में गिरता है/दुःख भोगता है। इसके विपरीत मनुष्य सन्मार्गी होकर उच्च पद प्राप्त करता है।

मुनि–धर्म

मुनिराज अट्ठाईस मूलगुणों का पालन करते हैं। समस्त आरम्भ–परिग्रह से रहित होते हैं। वे छहों काय के जीवों का घात नहीं करते और राग, द्वेष, काम, क्रोध आदि भावों को उत्पन्न नहीं होने देते। अपने प्राणों पर संकट आने पर भी झूठ नहीं बोलते, बिना दी हुई कोई वस्तु नहीं लेते। पूर्ण शील का पालन करते हैं, अन्तरंग बहिरंग परिग्रह के त्यागी होते हैं शुद्धि हेतु कमण्डलु और प्राणि–रक्षा के लिये मयूर–पंख की पिच्छि रखते हैं।

छह आवश्यक गुण, समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, कार्योत्सर्ग/शेष सात गुण, स्नान–त्याग, भूमि शयन, नग्न रहना, केशलोंच करना, खड़े रहकर, दिन में एक बार आहार ग्रहण करना, दातोन नहीं करना, तीन गुप्तियों का पालना, सात भय का त्याग, आठ मदों का त्याग, बाईस परीषहों को सहना, चरित्र, धर्म, अनुप्रेक्षा से युक्त होना ये मुनियों के आवश्यक गुण बतलाये गये हैं।

पंच महाव्रत – मुख्य व्रतों को महाव्रत कहते हैं। मोक्ष प्राप्ति के कारणभूत हिंसादि के त्याग को व्रत कहते हैं। जिनको श्रावक अणुव्रत के रूप में ग्रहण करते हैं, उनका मुनिराज पूर्ण रूप सें पालन करते हैं, उन्हें **महाव्रत** कहते हैं इनके पाँच भेद हैं –

1. अहिंसा महाव्रत, 2. सत्य महाव्रत, 3. अचौर्य महाव्रत, 4. ब्रह्मचर्य महाव्रत, 5. अपरिग्रह महाव्रत

1. अहिंसामहाव्रत – कषाय युक्त मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को **"प्रमत्त योग"** कहते हैं, प्रमत्त योग से दश प्राणों का वियोग करना हिंसा है – ऐसी हिंसा से विरत होना, सब प्राणियों पर पूर्ण दया करना अहिंसा महाव्रत हैं। जैनधर्मामृत में अहिंसा महाव्रत का लक्षण इस प्रकार कहा है –

जन्मकाय – कुलाक्षाद्यैर्ज्ञात्वा सत्वततिं श्रुतेः।
त्यागस्त्रिशुद्धया हिंसादेः स्थानादौ स्यादहिंसनम्।। 8।।14

–सर्वार्थ.सिद्धि.7/20।

जन्म, काय, कुल और इन्द्रिय आदि के द्वारा शास्त्रानुसार जीवों के समुदाय को जानकर उनकी हिंसा आदि का मन, वचन ओर काय से सर्वथा त्याग करना **अहिंसा महाव्रत** है। द्रव्य तथा भाव हिंसा का स्थूल व सूक्ष्मरूप से त्याग कर षट्काय के जीवों की रक्षा करना **अहिंसा महाव्रत** है।

2. सत्य महाव्रत – प्राणियों को जिससे पीड़ा हो ऐसा भाषण, चाहे विद्यमान पदार्थ विषयक हो अथवा न हो उसका त्याग **करना सत्य महाव्रत** है। जैनधर्मामृत में सत्य महाव्रत के विषय में **लिखा है– कि** रागद्वेषादि से उत्पन्न असत्य को, पर के अहितकर वचन को **और तत्वों का** अन्यथा कथन करने वाले वचन को छोड़कर यथार्थ वचन **कहना सत्य महाव्रत** है।

रागद्वेषादिजासत्यमुत्सृज्यान्याहितं वचः।
सत्यं तत्त्वान्यथोक्तं च वचनं सत्यमुत्तमम्।। 4।।

–पुरूषार्थ सि.उ. 118।

3. अचौर्य महाव्रत

बह्वल्पं वा परद्रव्यं ग्रामादौ पतितादिकम्।
अदत्तं यत्तदादानं वर्जनं स्तेयवर्जनम्।। 5।।

–उपासका अ.श्लोक 405।

बिना दिये हुए किसी भी वस्तु का ग्रहण न करना **अचौर्य महाव्रत** है। बिना दिये नगर, ग्राम, पर्वत पर गिरे, रखे या भूले हुए बहुत या अल्प परद्रव्य को ग्रहण नहीं करना **अचौर्य महाव्रत** कहलाता है।

4. ब्रह्मचर्य महाव्रत

रागलोककथात्यागः सर्वस्त्रीस्थापनादिषु।
माताऽनुजा तनूजेति मत्या ब्रह्मव्रतं मतम्।। 6।।

ब्रह्मचर्य महाव्रत से तात्पर्य है मनुष्य, तिर्यञ्च, देवगति सम्बन्धी सभी प्रकार की स्त्रियों में काष्ठ, पुस्तक भित्ति आदि पर अंकित या स्थापित स्त्री–चित्रों में "यह माता है, यह बहिन है, यह पुत्री है"– इस प्रकार अवस्था के अनुसार कल्पना करके उनमें राग–भाव करने का, देखने का और उनकी कथाओं के करने का त्याग करना **ब्रह्मचर्य महाव्रत** है।

5. अपरिग्रह महाव्रत – बाह्य अभ्यंतर परिग्रहों का तथा मुनियों के अयोग्य समस्त वस्तुओं का त्याग करना अपरिग्रह महाव्रत है।

चेतनेतर–बाह्यान्तरंग संग–विवर्जनम्।
ज्ञान–संयमसंगो वा निर्ममत्वमसंगता।। 7।।

चेतन और अचेतन तथा बाह्य व अन्तरंग सर्वप्रकार के परिग्रह को छोड़ देना और निर्ममत्व–भाव को अंगीकार करना अथवा ज्ञान व संयम का ही संगम करना अपरिग्रह महाव्रत है।

पंच समितियां – प्रमाद–त्याग की हेतुभूत, पाँच समितियों का मुनिराज पालन करते हैं।

1. ईर्यासमिति – दिन में सूर्यालोक के रहने पर चार हाथ आगे भूमि देखकर गमन करना ईर्यासमिति कहलाती है।

2. भाषासमिति – हित, मित, प्रिय वचन बोलना ही भाषासमिति है।

3. एषणासमिति – छियालीस दोषों को टालकर श्रावक के द्वारा श्रद्धा और भक्ति पूर्वक दिये गये निर्दोष आहार को दिन में एक बार ग्रहण करना एषणासमिति कहलाती है।

4. आदान–निक्षेपणसमिति – जीव रक्षा का भाव होने कारण मुनिराज पिच्छि–कमण्डलु आदि को सावधानीपूर्वक रखते और उठाते हैं। यही आदान–निक्षेपण समिति है।

5. व्युत्सर्ग समिति – जीव-जन्तु से रहित भूमि पर मल–मूत्र का त्याग करना व्युत्सर्गसमिति है।

गुप्ति – मन, वचन, काय की प्रवृत्ति को रोकना गुप्ति है।

पंचेन्द्रिय निग्रह – जो विषय इन्द्रियों को लुभावने लगते हैं, उनमें मुनिराज राग नहीं करते और जो विषय इन्द्रियों को बुरे लगते हैं, उनमें द्वेष नहीं करते। यही पंचेन्द्रिय निग्रह कहलाता है।

सात भय –

1. इस लोक का भय, 2. परलोक का भय, 3. मरण भय, 4. वेदना भय, 5. अरक्षा भय, 6. अगुप्ति भय, 7. आकस्मिक भय। मुनिराज इन सात भयों का भी त्याग करते हैं।

आठ मद – ज्ञान/पूजा/कुल/जाति/बल/ऋद्धि/तप/रूप/इन आठ के आश्रय से मद होते हैं। मुनिराज इन आठों मदों का भी त्याग करते हैं।

आचार्य श्री ने वीरोदय महाकाव्य में साधु के कर्तव्य अकर्तव्य का कथन संक्षेप में किया है। यहाँ साधु–जीवन का मुख्य लक्ष्य सिद्धि पाना कहा है तथा जीव और पुदगल के विश्लेषण को सिद्धि कहा है। जीव पुद्गल का विश्लेषण ही भेद–विज्ञान है। भेद–विज्ञान से ही मोक्ष की सिद्धि होती है। इसी मोक्ष को पाना साधु जीवन का प्रमुख ध्येय होता है। यह सिद्धि (मोक्ष) ध्यान (आत्मचिन्तन) से पा सकते हैं। इसलिए साधु को सदा आत्मध्यान करना चाहिए। जब ध्यान में चित्त न लगे तब स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय और ध्यान के सिवाय और सब कार्य साधु को हेय हैं, संसार–वृद्धि के कारण हैं। यही साधु का सत्–जीवन है। (22/18) सिद्धि चाहने वाले (मुमुक्ष) साधु को सदा सांसारिक वस्तुओं की चाह छोड़कर चित्त को निस्पृह बनाना, इन्द्रियों को जीतना और प्राणायाम करना चाहिए; क्योंकि कार्यसिद्धि में ये ही उपकारी हैं। (23/18) आत्म–साधना

में शरीर–हानि होने पर भी साधु के द्वेष, खेद या असूया–भाव प्रकट नहीं होना चाहिए। आत्म–साधना के समय यही भाव होवे कि "जड़–शरीर का पुनः संयोग न होवे"। साधु को यही अमृत–वचन पेय है। (24/18)

आगे वीरोदय में साधु–चर्या के संबंध में बतलाया है कि साधु, अनादिकाल से विस्मृत या कर्मरूपी चोरों से अपहृत आत्मधन को ढूढ़ने (पाने) के लिए शरीर रूपी नौकर को भिक्षा रूपी वेतन देकर सदा उसके द्वारा अपने अभीष्ट को साधने में लगा रहता है और शरीर की स्थिति के लिए दिन में केवल एक बार ही निर्विकार, निर्दोष, सात्त्विक, आहार अल्पमात्रा में भक्तिपूर्वक दिये जाने पर ही लेता/ग्रहण करता है और बीच में अन्तराय आने पर उसे भी छोड़/त्याग देता है। (25/18) यहाँ साधु की **"एषणा समिति"** का कथन है।

सूर्योदय होने पर प्रकाश के भलीभाँति फैल जाने पर ही भूमि को सामने देखते हुए साधु को विचरना/गमन करना चाहिए। (यही **ईर्यासमिति** है) पक्षी के समान वह सदा विहार करता रहे। कहीं स्थिर होकर न रहे। आगम की आज्ञानुसार वर्षा–ऋतु के सिवाय गांव में एक दिन, नगर में तीन या पांच दिन से अधिक न ठहरे। वर्षा–ऋतु में चार माह उपयुक्त स्थान पर ठहरने की अनुमति है। किसी के पूँछने पर साधु को हित–मित–प्रिय वचन ही बोलना चाहिए। बिना पूँछे और अनावश्यक बोलना साधु को निषिद्ध है। (यही **भाषा–समिति** है)

अपने मद–मत्सर आदि भावों पर विजय पाने के लिए साधु को मन के संकल्प–विकल्पों का, वचन की संभाषण आदि क्रियाओं का तथा काय की गमनादि रूप क्रियाओं का भी विनिग्रह करना चाहिए। यही उसका प्रधान कर्त्तव्य है। अन्तरंग–विकारों को निकालने के लिए मौन–पूर्वक आत्मसाधना करना ही साधु का उत्सर्ग मार्ग है। (यहाँ त्रिगुप्ति का कथन है) यदि कदाचित् संभाषण या गमनादि करना पड़े तो उनका उपयोग परोपकार में ही होना चाहिए। परोपकार हेतु की गई मन–वचन–काय की क्रिया भी सावधानी पूर्वक होना चाहिए। (यह अपवाद मार्ग है) सावधान प्रवृत्ति ही समिति है। (27/18)

निर्जन्तु और एकान्त स्थान पर ही मल–मूत्र आदि उत्सर्ग करे, जिससे किसी जीव को कष्ट न हो। (यही व्युत्सर्गसमिति है) पीछी से परिमार्जित भूमि पर ही बैठे, वस्तु को धरे व उठावे। इनमें सदा सावधानी बरते। (यह आदान–निक्षेपण समिति है)। (28/18) वायु के समान निःसंग होकर सदा विचरण करे। स्वप्न में भी स्त्रियों की याद न करे। (29/18) ऐसी चर्या के साथ सन्यासी साधक सभी संकल्प–विकल्पों को त्यागकर मन को श्री वीतराग प्रभु के ध्यान में लगावे। (41/18) तभी सिद्धि (सिद्धगति) प्राप्त हो सकती है।

निगोपयेन्मानसमात्मनीनं श्रीध्यानवप्रे सुतरामदीनम्।
इत्येष भूयादमरो विपश्चिन्न स्थात्पुनर्मारयितास्य कश्चित्।। 41/18।

इस प्रकार आचार्य श्री ने गृहस्थधर्म व मुनिधर्म की विवेचना इस महाकाव्य में संक्षेप में की है।

दीक्षा एवं तपश्चरण –

भगवान महावीर स्वामी ने भी मगसिर मास की कृष्ण पक्ष की दशमी तिथि को दैगम्बरी दीक्षा धारण की। उन्होंने निर्जन वन में जाकर वस्त्रों का परित्याग किया, केश समूह का लोंच किया और मौन को अंगीकार कर तपस्या में लीन हो गये –

मार्गशीर्षस्य मासस्य कृष्णा सा दशमी तिथिः।
जयताज्जगतीत्येवमस्माकं भद्रताकरी।। 26/10।।
विजनं स विरक्तात्मा गत्वाऽप्यविजनाकुलम्।
निष्कपटत्वमुद्धर्तुं पटानुज्झितवानपि।। 24/10।।
उच्चखान कचौघं स कल्मषोपममात्मनः।
मौनमालब्धवानन्तरन्वेष्टुं दस्युसंग्रहम्।। 25।।

–वीरो.सर्ग. 10।

सन्दर्भ –

1. हरिवंशपुराण 3/3–7।

2. भगवती अ.सू. 9/3/6।

3. नेमिचन्द्रकृत महावीरचरित, पत्र 73–2।

4. गुणचन्द्रकृत, महावीर चरित 334।

5. आवश्यकचूर्णि उत्तर पु. 169।

6. आवश्यकचूर्णि उत्तरार्द्ध पत्र 164।

7. उवासगदसाओ (पी.एल.वैद्य सम्पादित) पृ. 4।

8. सर्वार्थ सिद्धि– 7/13/687।

9. तत्त्वार्थवार्तिक – 7।

10. सवार्थसिद्धि – 7/16/693।

11. पुरूषार्थसिद्ध्युपाय –।।110।।

12. यशस्तिलकगत–उपासकाध्ययन- 379।

13. तत्त्वार्थसूत्र, अ. 7 सूत्र – 17।

14. सर्वार्थसिद्धि– 7/20।

परिच्छेद – 3

समोशरण की रचना

तीर्थंकर महावीर ने अर्हत्व प्राप्त कर लिया। उनके ज्ञान के अपूर्व प्रकाश से सारा संसार जगमगा उठा, दिशायें शान्त एवं विशुद्ध हो गईं। मन्द–मन्द सुखद पवन बहने लगा। सौधर्म इन्द्र और अन्य चतुर्निकाय देव महावीर के केवलज्ञान की पूजा कर चुके थे। इन्द्र ने अपने कोषाध्यक्ष कुबेर को एक विशाल सभा–मण्डप (समवशरण) की रचना का आदेश दिया।[1] उसने ऋजुकूला के तट पर अविलम्ब विशाल एवं भव्य समवशरण की रचना की। उसकी शोभा अप्रतिम और सजावट अद्वितीय थी। यह विश्व के गौरव का और आत्मानुशासन का प्रतीक था। इसके चारों द्वारों के आगे धर्म–ध्वजाओं से मण्डित मानस्तम्भ और धर्मचक्र सुशोभित थे। इसमें वनवेदी, तोरण स्तूप आदि रत्नमय एवं चैत्यवृक्ष जिन–प्रतिमाओं से युक्त थे। किसी प्रकार की आकुलता यहाँ नहीं थी। सभी प्राणी शान्त, विनम्र और अनुशासित थे।

पाँच प्रकार के रत्नों से निर्मित चित्र–विचित्र वर्ण वाला प्रथम शाल (कोट) मुक्तिरूपी स्त्री का ऊपर से गिरा हुआ पवित्र कङ्कण जैसा लगता था। वह रत्नों की किरणों के समूह से आकाश में उदित हुए इन्द्रधनुष की शोभा पा रहा था। यथा –

रत्नांशकैः पञ्चविधैर्विचित्रः मुक्तेश्च्युतः कङ्कणवत्पवित्रः।
शालः स आत्मीयरूचां चयेन सजँस्तदैन्द्रं धनुरूद्गतेन।। 5।।

–वीरो.सर्ग.13।

दूसरा कोट अष्ट मंगल–द्रव्यों सहित चार गोपुर द्वारों से युक्त था, जिस पर प्रतीहार (द्वारपाल) रूप से व्यन्तर देव पहरा दे रहे थे। इसके पश्चात् नाट्यशालायें थीं, जिनमें देव–बालाएं त्रिलोकीनाथ श्री वीरप्रभु का

यशोगान करती हुई नाच रही थीं। सप्तपर्ण, आम्र, अशोक और चम्पक जाति के वृक्षों से युक्त चारों दिशाओं में चार वन थे। जिनमें उन–उन नाम वाले चैत्य–वृक्ष सुशोभित हो रहे थे –

सप्तच्छदाऽऽम्रोरूक–चम्पकोपपदैर्वनैर्यत्र कृतोपरोपः।
मनोहरोऽतः समभूत्प्रदेशस्तत्तत्कचैत्यद्रुमयुक्तलेशः।। 11।।

–वीरो.सर्ग.13।

उस समवशरण में प्रत्येक द्वार पर भवनवासी देव वीर भगवान की सेवा कर रहे थे। स्फटिक मणियों से बना तीसरा कोट इन भगवान की सेवा करते हुए कुण्डलाकार शेषनाग के समान अवस्थित था। कोट के आगे जिनेन्द्र देव को घेरे हुये चारों ओर उत्तम बारह कोठे थे। जिनमें चतुर्निकाय के देव, उनकी देवियाँ, मुनि, आर्यिका वा श्राविका, मनुष्य और पशु बैठकर भगवान का धर्मोपदेश सुनते थे।

इस समवशरण के मध्य गन्धकुटी में सिंहासन के तलभाग से ऊपर अन्तरिक्ष में अवस्थित भगवान इस समवशरण की रचना विधान को उच्छिष्ट के समान छोड़ते हुए से शोभायमान हो रहे थे।

ततः पुनर्द्वादश कोष्ठकानि जिनेन्द्रदेवं परितः शुभानि।
स्म भान्ति यद्वद्रविमाश्रितानि मेषादिलग्नानि भवन्ति तानि।। 16।।
मध्येसभं गन्धकुटीमुपेतः समुत्थितः पीठतलात्तथेतः।
बभौ विभुर्दृष्टमिदं विधानं समस्तमुच्छिष्टमिवोज्जिहानः।। 17।।

–वीरो.सर्ग.13।

वीर प्रभु के मुख के प्रभामंडल की दीप्ति कोटि–सूर्यों की दीप्ति से भी अधिक थी। इसमें लोग अपने जन्म–जन्मान्तरों को भी देखने में समर्थ थे। इसमें प्रत्येक को अपने तीन पूर्वभव, तीन आगे के भव और एक वर्तमान भव– कुल सात भव दिखाई देते थे। छत्रत्रय, लोकत्रय के नेत्रों को आनन्दकारी थे तथा दिव्यध्वनि मोह के प्रभाव की निवारक, सर्वभू–व्यापी आनन्ददायी पापरहित निर्दोष समुद्र के समान गम्भीर ध्वनिकारक थी।

प्रभोः प्रभामण्डलमत्युदात्तं न कोटिसूर्यैर्यदिहाभ्युपात्तम्।
यदीक्षणे सम्प्रभवः क्षणेन स्मो नाम जन्मान्तरलक्षणेन।। 21।।

–वीरो.सर्ग.13।

मोह प्रभावप्रसरप्रवर्जं श्रीदुन्दुभिर्यं ध्वनिमुत्ससर्ज।
समस्त भूव्यापिविधिं समर्जन्नानन्दवारा शिरिवाद्यवर्जः।। 23।।
वाचां रूचा मेघमधिक्षिपन्तं पर्याश्रयामो जगदेकसन्तम्।
अखण्डरूपेण जगज्जनेभ्योऽमृतं समन्तादपि वर्षयन्तम्।। 24।।

–वीरो.सर्ग.13।

समवशरण का वैशिष्ट्य

समवशरण में सर्वत्र ज्ञानालोक व्याप्त था। रात–दिन का भेद मिट गया था और प्रकाश ही प्रकाश सर्वत्र दिखलाई पड़ता था। समवशरण में आये प्राणियों के हृदय से वैर, द्वेष, क्रोध हिंसा एवं प्रतिशोध की भावनायें समाप्त हो गई थीं और परिणाम इतने निर्मल हो गये थे कि वे जन्मजात शत्रुता को भी विस्मृत कर चुके थे। गाय–सिंह, मृग–व्याध, मार्जार–मूषक बड़े निर्मल एवं शान्त भाव से एक साथ वहाँ बैठे थे। महावीर की सौम्य मुद्रा सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। उनकी मुखाभा दिव्यभाषा बनी हुई थी। उनकी मुद्रा अविचल, वचनातीत और भाषातीत थी। अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तमुख और अनन्तवीर्य की उज्ज्वलता सर्वत्र विद्यमान थी।

दिव्यध्वनि का प्रभाव

कसायपाहुड और तिलोयपण्णत्ती में दिव्यध्वनि को तालु–दन्त, ओष्ठ तथा कण्ठ के हलन–चलन रूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय में भव्य–जनों को आनन्द देने वाली बताया है –

अट्ठरस–महाभासा खुल्लय–भासा सयाइ सत्त–तहा।
अक्खर–अणक्खरप्पय सण्णी–जीवाण सयल–भासाओ।।

एदासिं भासाणं तालुवदंतोट्ठकंठवावारे।
परिहरिय एक्ककालं भव्व–जणे दिव्व–भासित्तं।।

–तिलोयपण्णत्ती 910–911 (अधि. 4)

हरिवंशपुराण में लिखा है कि ओठों को बिना हिलाये ही निकली हुई तीर्थंकरवाणी ने तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों का दृष्टि–मोह नष्ट कर दिया था –

जिनभाषाऽधरस्पन्दमन्तरेण विजृम्भिता।
तिर्यग्देवमनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत्।।

हरिवंश पुराण 2/113।

महापुराण में कहा है कि भगवान के मुख–कमल से बादलों की गर्जना जैसी अतिशय युक्त महा दिव्यध्वनि निकल रही थी। भव्य–जीवों के मन में स्थिति मोह रूपी अन्धकार को नष्ट करती हुई सूर्य के समान सुशोभित हो रही थी। इसमें सभी अक्षर स्पष्ट थे। लगता था मानों गुफा के अग्रभाग से प्रतिध्वनि ही निकल रही हो।

दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निर्गच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोघ्नन्नद्युतदेष यथैव तमोऽरिः।।

–महापुराण 23/69।

दिव्यध्वनि के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का अभिमत है कि यह सर्वहित करने के कारण वर्णविन्यास से रहित है। कुछ आचार्य इसे अक्षरात्मक ही मानते हैं। अक्षरात्मक शब्द संस्कृतादि भाषा के हेतु हैं। अनक्षरात्मक शब्द द्वीन्द्रियादि के शब्द–रूप होते हैं। दिव्यध्वनि को अनक्षरात्मक इसलिए कहा जाता है कि वह जब तक सुनने वाले के कर्ण–प्रदेश को प्राप्त नहीं होती, तब तक अनक्षरात्मक है और जब कर्ण–प्रदेश को प्राप्त हो जाती है, तब अक्षररूप होकर श्रोता के संशयादि को दूर करती है। अतः अक्षरात्मक कही जाती है। **आचार्य समन्तभद्र** ने अपने स्वयंभूस्तोत्र में तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि को सर्वभाषात्मक

कहा है और बतलाया है कि तीर्थंकर का वचनामृत संसार के समस्त प्राणियों को अपनी–अपनी भाषा में तृप्त करता है।

अलंकार–चिन्तामणि में भी इसे सर्वभाषात्मक, असीम सुखप्रद और समस्त नयों से युक्त बतलाया है।[2] **धवलाटीका** में आचार्य वीरसेन ने लिखा है, – "एक योजन के भीतर दूर अथवा समीप में बैठे हुए अठारह महाभाषा और सात–सौ लघु भाषाओं से युक्त तिर्यञ्च, मनुष्य और देवों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली तथा न्यूनता और अधिकता से रहित मधुर, मनोहर, गम्भीर और विशद भाषा के अतिशयों से युक्त तीर्थंकर की दिव्य–ध्वनि होती है।"[3] **महापुराण** में लिखा है कि दिव्यध्वनि एक रूप में होती हुई भी तीर्थंकर प्रकृति के पुण्य प्रभाव से समस्त मनुष्यों और पशु–पक्षियों की संकेतात्मक भाषा में परिणत हो जाती है।

एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्टबहूश्च कुभाषाः।
अप्रपिपत्तिमपास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना।।

–आदिपुराण 23/70।

तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि अर्धमागधी भाषा में होती थी।

सर्वार्धमागधीं सर्वभाषासु परिणामिनीम्।
सर्वेषां सर्वतो वाचं सार्वज्ञीं प्रणिदध्महे।।

–वाग्भट काव्यानुशासन, पृ. 2।

महावीर का जन्मस्थान वैशाली था। अर्धमागधी इसी क्षेत्र की भाषा रही होगी। तीर्थंकर महावीर अर्धमागधी में उपदेश देते थे और उनकी यह दिव्यध्वनि मनुष्य, पशु आदि की भाषा में परिणत हो जाती थी। **समवायांग** में लिखा है– महावीर की देशना अर्धमागधी में होती थी। यह शान्ति, आनन्द और सुखदायिनी भाषा आर्य, अनार्य, द्विपद्, चतुष्पद्, मृग, पशु–पक्षी आदि के लिए अपनी भाषा में परिणत हो जाती थी। दिव्यध्वनि के प्रभाव का निरूपण करते हुए **वीरोदय महाकाव्य** में लिखा है कि–

पशूनां पक्षिणां यद्वदुल्कादीनां च शब्दनम्।
शकुनिः पन्निशम्यैतदर्थयत्येष तादृशम्।। 6।।

–वीरो.सर्ग.15।

जिस प्रकार एक शकुन–शास्त्र का वेत्ता पुरूष पशु, पक्षी और बिजली आदि के शब्द को सुनकर उनके यथार्थ रहस्य को जानता है, हर एक मनुष्य नहीं। उसी प्रकार भगवान की वाणी के यथार्थ रहस्य को गौतम गणधर ही जान पाते थे।

शुश्रूषूणामनेका वाक् नानादेशनिवासिनाम्।
अनक्षरायितं वाचा सार्वस्यातो जिनेशिनः।। 8।।

वीरो.सर्ग.15।

नाना देश के निवासी श्रोता जनों की भाषा अनेक प्रकार की थी। अतएव सर्व के हितैषी जिनेन्द्रदेव की वाणी अनक्षर रूप से प्रकट हुई। (यह भगवान का अतिशय था।)

इस प्रकार दिव्य–ध्वनि का (अलौकिक प्रभाव के कारण) समस्त मानव–जगत को अपनी–अपनी भाषा में सुनाई पड़ती थी। दिव्यध्वनि का मधुर संगीत प्राणी मात्र को अपनी ओर आकृष्ट करता था और **'आत्मवत् सर्वभूतेषु'** का उद्घोष भी जनता के लिये सरल–सहज मार्ग का उद्घाटन कर रहा था। लोक–जीवन और लोक शासन पावनता का अनुभव कर अपने को निर्विकार और स्वतन्त्र समझ रहे थे।

सिद्धान्तों की प्ररूपणा

तीर्थंकर महावीर अपने समय के महान् तपस्वी होने के साथ–साथ एक उच्चकोटि के विचारक तत्त्वान्वेषी भी थे। उन्होंने धर्म और दार्शनिक विचारों को साधु जीवन के चरमोद्देश्य मुक्ति के साथ निबद्ध कर क्रियात्मक रूप दिया। उन्होंने बतलाया कि संसार के बन्धन में पड़ा हुआ जीव पुरूषार्थ द्वारा कर्मों के भार से पूर्ण मुक्त होकर शाश्वत मोक्ष–सुख को पा सकता है। उनके समय में मुक्ति, जीव–स्वरूप, जीव का अस्तित्व, जगत् का नित्यत्व–अनित्यत्व, आत्मा का शरीर से भिन्नत्व–अभिन्नत्व आदि की

चर्चा विद्यमान थी। अतः उनके मुख से पहला वाक्य – **'उप्पन्नेइ वा विगमेइ वा धुवई वा'** निकला था। अर्थात् वस्तु–प्रतिक्षण उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव रहती है। ये तीन अवस्थायें जिसमें रहती हैं, वही ज्ञेय है, वस्तु है, पदार्थ है।

नित्यत्व अनित्यत्व ध्रौव्यत्व (सत्)

जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है, वही सत् है। जो सत् है वही द्रव्य है। उत्पाद उत्पत्ति को, व्यय विनाश को और ध्रौव्य अवस्थिति को कहते हैं। इन तीनों का परस्पर में अविनाभाव है। उत्पाद के बिना व्यय नहीं होता, व्यय के बिना उत्पाद नहीं होता और ध्रौव्य (स्थिति) उत्पाद और व्यय के बिना नहीं होता। **प्रवचनसार** में कहा है –

ण भवो भंगविहीणो भंगो वा णत्थि संभव–विहीणों।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण।।

–प्रवचनसार गाथा 100।

जो उत्पाद है, वही व्यय है, जो व्यय है वही उत्पाद् है और जो उत्पाद–व्यय है, वही स्थिति है, तथा जो स्थिति है, वही उत्पाद् व्यय है।

तीर्थंकर महावीर ने अपने इस त्रिपदी मातृका वाक्य द्वारा वस्तु के एकान्त रूप नित्यत्व और अनित्यत्व (क्षणिकत्व) की समीक्षा की। उन्होंने उद्घोषित किया कि इस विश्व में न कोई वस्तु सर्वथा नित्य है और न कोई सर्वथा क्षणिक है। दोनों सम–स्वभाव हैं। जैसे आकाश द्रव्यरूप से नित्य है, उसी प्रकार दीपक भी नित्य है और जिस प्रकार पर्याय से दीपक क्षणिक है, उसी प्रकार आकाश भी क्षणिक है। प्रत्येक सत् उत्पाद–व्यय–ध्रौव्यात्मक है।[4] **'उत्पादव्यय–ध्रौव्ययुक्तं सत्'**

उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य पर्यायों में होते हैं और पर्यायें द्रव्य में स्थित हैं किसी भाव अर्थात् सत्य का अत्यन्त नाश नहीं होता और किसी अभाव अर्थात् असत् का उत्पाद नहीं होता। सभी पदार्थ अपने गुण और पर्याय रूप से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त हैं। यही त्रैकालिक सत् है। प्रत्येक सत् परिणमनशील होने से उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त है। दृव्य

को नित्यानित्य कहा जाता है। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यात्मक सत् ही द्रव्य है। महावीर ने तत्त्व को त्रयात्मक बतलाया है। इस त्रयात्मकता की सिद्धि निम्न उदाहरण द्वारा होती है।

राजा के पास एक स्वर्ण कलश है। राजपुत्री उस कलश को चाहती है, किन्तु राजपुत्र उस कलश को तोड़कर मुकुट बनवाना चाहता है। राजा पुत्र की हठ पूरी करने के लिये कलश को तुड़वाकर मुकुट बनवा देता है। कलश–नाश से कन्या दुःखी होती है। मुकुट के उत्पाद से पुत्र प्रसन्न होता है। पर राजा तो स्वर्ण का इच्छुक है, जो कलश टूट कर मुकुट बन जाने पर भी मध्यस्थ रहता है, उसे न शोक होता है और न हर्ष। अतः **वस्तु त्रयात्मक** है।

अनेक–शक्त्यात्मकवस्तु तत्त्वं तदेकया संवदतोऽन्यसत्त्वम्।
समर्थयत्स्यात्पदमत्र भाति स्याद्वादनामैवमिहोक्तिजातिः।। 8।।

–वीरो.सर्ग.19।

प्रत्येक वस्तु में अनेक गुण–धर्म या शक्तियाँ हैं। उन सबका कथन एक साथ एक शब्द से सम्भव नहीं है। इसलिए किसी एक गुण या धर्म का कथन करते समय यद्यपि वह मुख्य रूप से विवक्षित होता है, तथापि शेष गुणों या धर्मों की विवक्षा न होने से उनका अभाव नहीं हो जाता, उस समय उनकी गौणता रहती है। जैसे गुलाब के फूल में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि अनेक गुण विद्यमान हैं, तो भी जब कोई मनुष्य कहता है कि देखो यह फूल कितना कोमल है, तब उसकी विविक्षा स्पर्श गुण की है, फूल की कोमलता को कहते हुए उनके गन्ध आदि गुणों की विविक्षा नहीं है। जैसे घट भी पदार्थ है और पट भी पदार्थ है, किन्तु शीत से पीड़ित पुरूष को घट से कोई प्रयोजन नहीं होता। इसी प्रकार प्यास से पीड़ित पुरूष घट को चाहता है, पट को नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि पदार्थपना घट और पट में समान होते हुए भी प्रत्येक पुरूष अपने अभीष्ट को ही ग्रहण करता है, अनभीप्सित पदार्थ को नहीं। – यही **स्याद्वादसिद्धान्त** है।

घटः पदार्थश्च पटः पदार्थः शैत्यान्वितस्यास्ति घटेन नार्थः।
पिपासुरभ्येति यमात्मशक्त्या स्याद्वादमित्येतु जनोऽपि भक्त्या।। 15।।

–वीरो.सर्ग.19।

द्रव्य की अपेक्षा वस्तु नित्य है और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है। यदि वस्तु को सर्वथा कूटस्थ नित्य माना जाय, तो उसमें अर्थक्रिया नहीं बनती है। यदि सर्वथा क्षण–भंगुर माना जाय, तो उसमें "यह वही है"– इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं हो सकता। अतएव वस्तु को कथञ्चित् नित्य और कथञ्चित् अनित्य मानना पड़ता है। भगवान महावीर का यही अनेकान्तवाद सिद्धान्त है।

समस्ति नित्यं पुनरप्यनित्यं यत्प्रत्यभिज्ञाख्यविदा समित्यम्।
कुतोऽन्यथा स्याद् व्यवहारनाम सूक्तिं पवित्रामिति संश्रयामः।। 21।।

–वीरो.सर्ग.19।

इन परस्पर विरोधी तत्त्वों को देखने से यही सिद्ध होता है कि प्रत्येक पदार्थ में अनेक धर्म हैं और इसी अनेक धर्मात्मकता का दूसरा नाम अनेकान्त है।

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक–प्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।

–आप्तमीमांसा, पद्य 59।

द्रव्य लक्षण

जो पदार्थ अपनी पर्यायों को क्रमशः प्राप्त होता है, वह द्रव्य है। द्रव्य के **'सद्द्रव्यलक्षणं'** और **'गुणपर्ययवद्'** ये दो लक्षण प्रसिद्ध हैं। द्रव्य एक अखण्ड पदार्थ है और वह अनेक कार्य करता है। इस कारण कार्य से अनुमित कारण रूप शक्त्यंशों की कल्पना की जाती है तथा इन शक्त्यंशों को ही गुण कहते हैं। इन गुणों का समुदाय ही द्रव्य है और जो द्रव्य है, वही गुण है। द्रव्य से भिन्न गुण नहीं और गुणों से भिन्न द्रव्य नहीं। **'गुणपर्ययवद्द्रव्यम्।'**

द्रव्य निरूपण

गुण और पर्यायों को प्राप्त होने वाले द्रव्य के मूल छः भेद हैं – (1) जीव, (2) पुद्गल, (3) धर्म, (4) अधर्म, (5) आकाश और (6) काल। ये छह द्रव्य ज्ञेय या प्रमेय कहलाते हैं। इनमें जीव, पुद्गल और काल अनेक भेद स्वरूप हैं और धर्म, अधर्म एवं आकाश ये तीन द्रव्य अनेक भेदरूप न होकर एक--एक अखण्ड द्रव्य हैं।

गतेर्निमित्तं स्वसु–पुद्गलेभ्यः धर्मं जगद्–व्यापिनमेतकेभ्यः।
अधर्ममेतद्विपरीतकार्यं जगाद सम्वेदकरोऽर्हकार्यः।। 37।।

–वीरो.सर्ग.19।

जीव और पुद्गल द्रव्यों को गमन करने में जो निमित्त बनता है, उसे **धर्मद्रव्य** कहते हैं। इससे विपरीत जीव और पुद्गल के ठहरने में सहायक (निमित्त) कारण को **अधर्म–द्रव्य** कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्य सर्व जगत् में व्याप्त हैं, ऐसा विश्व–ज्ञायक अर्हद्देव ने कहा है। जो समस्त द्रव्यों को अपने भीतर अवकाश देता है उसे **आकाशद्रव्य** कहते हैं। जो सर्व द्रव्यों के परिवर्तन कराने में निमित्त कारण होता है, उसे **कालद्रव्य** कहते हैं। इस प्रकार यह समस्त जगत षट्–द्रव्यमय जानना चाहिए। यथा–

नभोऽवकाशाय किलाखिलेभ्यः कालः परावर्तनकृत्तकेभ्यः।
एवं तु षड्–द्रव्यमयीयमिष्टिर्यतः समुत्था स्वयमेव सृष्टिः।। 38।।

–वीरो.सर्ग.19।

अनेकान्त व स्याद्वाद

भगवान महावीर ने कहा है कि जो केवल उत्पाद, व्यय या ध्रौव्य रूप ही वस्तु को मानते हैं, वे वस्तु के यथार्थ स्वरूप को न जानने के कारण अज्ञानी ही हैं। कोई एक रेखा (लकीर) न स्वयं छोटी है और न बड़ी। यदि उसी के पास उससे छोटी रेखा खींच दी जाय, तो वह पहली रेखा बड़ी कहलाने लगती है और उसी के दूसरी ओर बड़ी रेखा खींच दी जाये, तो वह छोटी कहलाने लगती है। इसी प्रकार अपेक्षा–विशेष से वस्तु

में अस्तित्व और नास्तित्व धर्म सिद्ध होते हैं। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा अस्तिरूप है और पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नास्तिरूप है।

वस्तुतत्त्व अनेक शक्त्यात्मक है, अनेक शक्तियों का पुञ्ज है। जब कोई मनुष्य एक शक्ति की अपेक्षा से उसका वर्णन करता है तब वह अन्य शक्तियों से भी सत्व का अन्य अपेक्षाओं से समर्थन करता ही है। 'स्यात्'–पद (कथञ्चित्) के प्रयोग का नाम ही **"स्याद्वाद"** है। इसे ही कथञ्चिद्–वाद या अनेकान्त कहते हैं।

सातत्व व्यवस्था तथा कर्म–सिद्धान्त

जैनधर्म में कर्मसिद्धान्त का विस्तार से सूक्ष्मातिसूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। जैनदृष्टि से कर्म अचेतन या जड़ रूप है, किन्तु जीव के साथ स्वर्ण और पाषाण की तरह अनादिकाल से सम्बद्ध है। जैसे विविध उपायों से स्वर्ण को शुद्ध किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा को भी कर्मों से सर्वथा मुक्त किया जा सकता है। कर्म विषयक इस मूल चिन्तन ने सप्त तत्त्वों के सिद्धान्त को प्रतिष्ठित किया है। सात तत्त्व इस प्रकार हैं– 1. जीव, 2. अजीव, 3. आस्रव, 4. बन्ध, 5. संवर, 6. निर्जरा, 7. **मोक्ष**।

'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्'।

– त.सू.अ.–1 सूत्र.4।

अजीव रूप कर्म व कर्म से जीव को बद्ध करने के लिए उत्तरदायी आस्रव और बंध है तथा मुक्त करने लिये उत्तरदायी संवर और निर्जरा हैं। सम्पूर्ण रूप से कर्मों की निर्जरा होने पर जीव कर्ममुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त हो जाता है।

जैन–आचार कर्म–सिद्धान्त की आधार–शिला पर निर्मित हुआ है। इसलिये सामान्य रूप से कर्म–सिद्धान्त पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा। जैन–आचार्यों ने शरीर, वचन, और मन की प्रवृत्ति को कर्मों का आस्रव माना है। यह शुभ और अशुभ दो प्रकार का होता है।

'कायवाङ्मनःकर्मयोगः। स आस्रवः।' त.सू.अ. 6 सूत्र–1,2

अस्रवाश्रित कर्मों का बन्ध कषाय के आधार पर होता है। मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषाय, ये बन्ध के कारण है।

'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्लनादत्ते सः बन्धः।

–त.सू. अ.8 सूत्र–2।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि मोह सहित अज्ञान से बन्ध होता है। जो अज्ञान मोहनीय कर्म–प्रवृत्ति–लक्षण से युक्त है, वह स्थिति अनुभाग रूप स्वफलदान समर्थ कर्म बन्ध का कर्त्ता है और जो अज्ञान–मोह से रहित है वह कर्मबन्ध का कर्त्ता नहीं है। जो अल्पज्ञान मोह से रहित है उसे मोक्ष होता, परन्तु मोह–सहित अल्पज्ञान से कर्मबन्ध होता है।

अज्ञान्मोहिनो बन्धोन ज्ञानाद् वीतमोहतः।
ज्ञानस्तोकाच्च मोक्षः स्याद्मोहान्मोहिनोऽन्यथा।।

कर्म करते समय यदि जीव का भाव शुद्ध होता है तो बँधने वाले कर्म–परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। उनका फल भी शुभ होता है और यदि भाव अशुद्ध हुए तो फल अशुभ होता है। जिस प्रकार मन के क्षोभ का प्रभाव भोजन पर पड़ता है और भोजन ठीक से नहीं पचता, उसी प्रकार मानसिक भावों का प्रभाव अचेतन वस्तुओं पर पड़ता है। द्रव्य तथा भाव के भेद से कर्म के दो भेद हैं। ज्ञानावरणादि रूप पुद्गल का पिण्ड **द्रव्य–कर्म** है और द्रव्य पिण्ड में जो फल देने की शक्ति है, वह **भाव–कर्म** है। कर्म–ग्रन्थों में इनका विस्तार से विश्लेषण किया गया है।

सात तत्त्व

मुक्ति–प्राप्ति हेतु तत्त्वज्ञान की आवश्यकता होती है। वे तत्त्व सात हैं। तत्त्वज्ञान के अभाव में मोक्ष–प्राप्ति सम्भव नहीं है। जिस वस्तु का जो भाव है, वह तत्त्व कहलाता है। वस्तु के असाधारण स्वरूपभूत स्वतत्त्व को तत्त्व कहते हैं। "तत्त्व" शब्द भाव–सामान्य का वाचक है।

"तत्त्व–शब्दो भाव–सामान्यवाची। कथम् ? तदिति सर्वनाम–पदम्। सर्वनाम च सामान्ये वर्त्तते तस्य भावस्तत्त्वम्।

तस्य कस्य? योऽर्थो यथावस्थितस्तथा तस्य भवनमित्यर्थः—तत्त्वार्थ–राजवार्तिक 2/16।

'तत्' सर्वनाम पद है और सर्वनाम सामान्य अर्थ में रहता है। अतः उसका भाव तत्त्व कहा जाता है। जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसका उस रूप में होना–यही "तत्त्व" शब्द का अर्थ है। ये तत्त्व अनादि हैं। जिस प्रकार काल अनादि अनन्त है, उसी प्रकार तत्त्व भी अनादि हैं। पुण्य और पाप का अन्तर्भाव आस्रव तत्त्व में हो जाता है। अतः सात तत्त्व ही प्रमुख हैं। आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये पाँच तत्त्व भावरूप में जीव की पर्याय हैं और द्रव्यरूप में पुद्गल की।

जीव–तत्त्व – जीव–तत्त्व का अर्थ है "चैतन्य"। चैतन्य आत्मा की स्वाभाविक शक्ति है, आत्मा का विशिष्ट गुण है। यह आत्मा के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में नहीं होता। आत्मा में जानने की क्रिया निरन्तर होती रहती है। ज्ञान का प्रवाह एक क्षण के लिए भी नहीं रूकता।

अजीव–तत्त्व – अजीव–तत्त्व के अन्तर्गत पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन पाँच की गणना की गई है। पुद्गल–द्रव्य ही आत्मा के बंध का कारण है। इसी से शरीर, मन, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास और वचन आदि का निर्माण होता है। शरीर और चेतन दोनों भिन्न–धर्मक हैं। इनका अनादि–प्रवाही सम्बन्ध है। चेतन और अचेतन अत्यन्त भिन्न हैं। ये सर्वदा एक नहीं हो सकते।

आस्रव तत्त्व – जीव के द्वारा मन, वचन और काय से जो शुभाशुभ प्रवृत्ति होती है, उसे भावास्रव कहते हैं, और उसके निमित्त से विशेष प्रकार की पुद्गल वर्गणायें आकर्षित होकर उसके प्रदेशों में प्रवेश करती हैं, वह द्रव्यास्रव है। मन, वचन और काय की क्रिया को योग कहते हैं और योग ही आस्रव का कारण होने से आस्रव कहा जाता है। मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों से आत्म–परिस्पन्दन होता है और इसी परिस्पन्दन से कर्मों का आस्रव होता है। कर्मों के आने के द्वार ही आस्रव हैं। ये पाँच हैं – 1. मिथ्यात्व, 2. अविरति 3. प्रमाद, 4. कषाय 5. योग। ये पाँचों आस्रव प्रत्यय होने से बंध के हेतु हैं।

मिच्छात्ताविरदिपमादजोग – कोहादओऽथ विण्णेया।
पण पण पणदस तिय चदु कमसो भेदा दु पुव्वस्स।। 30।।

–द्रव्यसंग्रह।

बन्ध तत्त्व

दो पदार्थों के विशिष्ट सम्बन्ध को "बन्ध" कहते हैं। बन्ध के भी दो भेद हैं। (1) भावबन्ध और (2) द्रव्यबन्ध। जिन मोह, राग–द्वेष आदि विकारी भावों से कर्म का बन्ध होता है, उन भावों को "भावबन्ध" कहते हैं और कर्म–पुद्गलों का आत्म–प्रदेशों से सम्बन्ध होना **"द्रव्य–बन्ध"** कहलाता है।

द्रव्य बन्ध आत्मा और पुद्गल का सम्बन्ध है। कर्म और आत्मा के एकक्षेत्रावगाही सम्बन्ध को बन्ध कहा जाता है। जो आत्मा कषायवान् है, वही आत्मा कर्मों को ग्रहण करती है। यदि लोहे का गोला गर्म न हो, तो पानी को ग्रहण नहीं कर पाता है। पर गर्म होने पर वह पानी को अपनी ओर खींचता है, उसी प्रकार शुद्धात्मा कर्मों को ग्रहण नहीं करती, पर जब कषाय–सहित आत्मा प्रवृत्ति करती है, तो वह प्रत्येक समय में निरन्तर कर्मों को ग्रहण करती रहती है। कर्मों को ग्रहण कर उनसे संश्लेष को प्राप्त हो जाना ही बन्ध है। बन्ध के योग और कषाय ये दो प्रधान हेतु हैं। भेद विवक्षा से मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय और योग ये पाँच **बन्ध के हेतु** हैं।

संवर –आस्रव का निरोध संवर है। **'आस्रव निरोधः संवरः**[5]' जिन द्वारों से कर्मों का आस्रव होता है, उन द्वारों का निरोध कर देना **संवर** कहलाता है। आस्रव, योग से होता है। अतएव योग की निवृत्ति ही संवर है। वस्तुतः नवीन कर्मों का आत्मा में न आना ही संवर है। यदि नवीन कर्मों का आगमन सर्वदा जीव में होता रहे, तो कभी भी कर्म–बन्ध से छुटकारा नहीं मिल सकता ।

निर्जरा –निर्जरा का अर्थ है जर्जरित कर देना या झाड़ देना। बद्ध कर्मों को नष्ट कर देना या पृथक् कर देना निर्जरा तत्व है। **'तपसा निर्जरा**

च' ।[6] यह निर्जरा दो प्रकार की है – (1) अविपाक निर्जरा, (2) सविपाक निर्जरा। तप आदि साधनाओं के द्वारा कर्मों को बलात् उदय में लाकर बिना फल दिये ही झड़ा देना अविपाक निर्जरा है। गुप्ति, समिति और तप रूपी अग्नि से कर्मों को फल देने से पहले ही भस्म कर देना **अविपाक निर्जरा** है। बद्ध कर्मों का यथासमय उदय में आकर फल देकर झड़ जाना **सविपाक निर्जरा** है।

मोक्ष – जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानने के कारण जैनाचार्यों ने मोक्ष तथा मोक्षमार्ग पर विस्तार से विचार किया है। **आचार्य कुन्दकुन्द** ने लिखा है कि जब यह जीव कर्ममल से विप्रमुक्त होता है, तब सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर उर्ध्वलोक के अन्तिम भाग को प्राप्त हो जाता है और अनन्त अतीन्द्रिय–सुख को प्राप्त करता रहता है।

कम्ममल विप्पमुक्को उड्ढं लोगस्स अंतमधिगंता।
सो सव्वणाण–दरिसी लहदि सुहमणिंदियमणंतं।।

–पंचास्तिकाय गाथा. 28।

जो आत्मा संसारावस्था में इन्द्रिय- जनित बाधा–सहित पराधीन और मूर्तिक सुख का अनुभव करता था वही चिदात्मा मुक्त–अवस्था में सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होकर अनन्त, अव्याबाध, स्वाधीन और अमूर्तिक सुख का अनुभव करता है।

जदो सयं स चेदा सव्वण्हू सव्वलोग दरसी य।
पप्पोदि सुहमणंतं अव्वावाधं सगममुत्तं।।

–पंचास्तिकाय. गाथा.29।

तत्त्वार्थसूत्र के अन्तिम अध्याय में **आ. उमास्वामी** ने मोक्ष के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द की तरह ही विचार व्यक्त किये हैं। उन्होंने कहा है – मोह के क्षय से तथा ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के क्षय से जीव केवलज्ञान प्राप्त करता है, फिर बन्ध के कारणों का अभाव तथा निर्जरा के द्वारा समस्त कर्मों से मुक्त होकर लोक के अन्त में ऊपर चला जाता है।

मोहक्षयाज्ज्ञानदर्शना – वरणान्तरायक्षयाच्च केवलम्।। 1/10।।
बन्ध–हेत्वभाव–निर्जराभ्यां कृत्स्न–कर्म–विप्रमोक्षो मोक्षः।। 2/10।।
तदनन्तरमूर्ध्वं गच्छत्यालोकान्तात्।। 5/10।।

मोक्ष के लिए निःश्रेयस् शब्द का भी प्रयोग हुआ है। निःश्रेयस् का अर्थ अत्यन्त कल्याण रूप है। 'नितरां श्रेयो निश्रेयसम्'। **आचार्य समन्तभद्र** ने निःश्रेयस् शब्द का प्रयोग करते हुए उसे ही अत्यन्त कल्याण–पद प्रतिपादित किया है। उन्होंने– "जन्म, वार्धक्य, रोग, मरण, शोक, दुख और भय से परिमुक्त शुद्ध, सुख–सहित निर्वाण को निःश्रेयस माना है।

जन्म–जराभयमरणैः शोकैर्दुःखैर्भयैश्च परिमुक्तम्।
निर्वाणं शुद्धसुखं निःश्रेयसमिष्यते नित्यम्।।

–रत्नकर श्रा. 131।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है "कि यह जीव मोह के उपशम या क्षय होने पर जिनशासित मार्ग को प्राप्त करके ज्ञानमार्ग का अनुचारी होकर निर्वाण को प्राप्त करता है।"

उवसंतखीणमोहो मग्गं जिणभासिदेण समुवगदो।
णाणाणुमग्गचारी णिव्वाणपुरं वजदि धीरो।।

–पंचा. गा. 70।

सोमदेव ने लिखा है कि रागद्वेषादि रूप आभ्यन्तर मल के क्षय होने से जीव को स्व–स्वरूप की प्राप्ति होना मोक्ष है। मोक्ष में न तो आत्मा का अभाव होता है और न ही आत्मा अचेतन होता है और चेतन होने पर भी आत्मा में ज्ञानादि का अभाव भी नहीं होता है।

आत्मलाभं विदुर्मोक्षं जीवस्यान्तर्मलक्षयात्।
नाभावो नाप्यचैतन्यं न चैतन्यमनर्थकम्।।

–उपासका. 113।

उपर्युक्त विवेचन की समीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैनदृष्टि से मोक्ष जीव की पूर्णरूपेण विशुद्ध अवस्था का नाम है।

संसारी अवस्था में कर्मरूप मल से आवृत्त होने के कारण आत्मा का विशुद्ध स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता। कर्ममल के पूर्ण रूप से पृथक होने पर आत्मा का विशुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। इसीलिए मुक्त आत्मा को परमात्मा भी कहा गया है।

अहिंसा – जैनधर्म अहिंसा–प्रधान है। अहिंसा की सूक्ष्मता से विवेचना जितनी जैनधर्म ने की उतनी अन्य किसी ने नहीं की है। अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है – **'न हिंसेति अहिंसा'** अर्थात् हिंसा नहीं करना अहिंसा है। इसमें हिंसा का निषेध प्रतिपादित है। शास्त्रों में हिंसा की व्याख्या करते हुए कहा गया है –**'प्रमत्त–योगात्प्राण–व्यपरोपणं हिंसा'** – तत्त्वार्थसूत्र. अ. 7 सूत्र– 13।

अर्थात् प्रमाद के योग से प्राणों के व्यपरोपण को **हिंसा** कहते हैं। इसका सामान्य अर्थ है असावधानी पूर्वक किये गये आचरण या व्यवहार के कारण दूसरे जीवों या प्राणियों का जो घात या प्राण–हरण होता है, वह **हिंसा** कहलाता है। द्रव्य और भाव के भेद से हिंसा दो प्रकार की होती है। किसी जीव को मारना या सताना **"द्रव्य–हिंसा"** है और उसके निमित्त से रागादि भावों की उत्पत्ति होकर जो भाव–प्राणों का घात होता है वह **"भावहिंसा"** है। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है –

अप्रार्दुभावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।
तेषामोवोत्पत्ति–हिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः।। 44।।
युक्ताचरणस्य सतो रागाद्यावेशमन्तरेणापि।
न हि भवति जातु हिंसा प्राण–व्यपरोपणादेव।। 45।।

–पुरूषार्थसिद्ध–युपाय।

अर्थात् अपने शुद्धोपयोग प्राण का घात रागादिक भाव से होता है। अतएव रागादिक भावों का अभाव ही अहिंसा है और शुद्धोपयोग रूप प्राणघात होने से उन्हीं रागादिक भावों का सद्भाव हिंसा है। योग्य आचरण करने वाले सन्त–पुरूष के रागादि भावों के बिना केवल प्राण–पीड़न से हिंसा कदापि नहीं होती। दूसरी अपेक्षा भी हिंसा दो प्रकार से होती है।

एक कषाय से अर्थात् जान–बूझकर और दूसरे अयत्नाचार या असावधानी से। इसीको स्पष्ट करते हुए शास्त्रकारों ने लिखा है –

उच्चालिदम्मि पादे इरियासमिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
आवादेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोग मासेज्ज।।
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।

अर्थात् जो मनुष्य आगे देख–भालकर रास्ता चल रहा है। उसके पैर उठाने पर अगर कोई जीव पैर के नीचे आ जावे और कुचल कर मर जावे तो उस मनुष्य को जीव मारने का थोड़ा–सा भी पाप आगम में नहीं कहा। आगे कहा है –

मरदु व जीवदु जीवो अजदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्सु।।

जीव चाहे जिये चाहे मरे, असावधानी से काम करने वाले को हिंसा का पाप अवश्य लगता है, किन्तु जो सावधानी से काम कर रहा है उसे प्राणिवध होने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता क्योंकि उसे अभिप्राय में हिंसा (प्राणघात) करने का किन्चित् भी भाव नहीं है। अहिंसा को व्यवहार्य बनाने के लिये जैसे हिंसा के द्रव्यहिंसा और भाव हिंसा भेद किये गये हैं, वैसे ही अहिंसा के भी अनेक भेद किये गये हैं। गृहस्थ और साधु के भेद से अहिंसा दो भागों में विभक्त की गई है। जैनधर्म की अहिंसा या तो वीरता का पाठ पढ़ाती है या क्षमा का।

आचार्यश्री ने वीरोदय में अहिंसा के विषय में कहा है – "अहिंसा सर्व प्राणियों की संसार में रक्षा करती है, इसलिए वह माता कहलाती है। हिंसा परस्पर में खाने को कहती है और अकस्मात् ही सबसे शत्रुता उत्पन्न करती है, इसलिये वह राक्षसी है। अतएव अहिंसा उपादेय है। अहिंसा कर्त्तव्यच्युत नहीं करती, किन्तु कर्त्तव्य का बोध कराकर अकर्त्तव्य से बचाती है और कर्त्तव्य पर दृढ़ करती है। अतः अहिंसा न अव्यवहार्य है और न निर्बलता की जननी है।

सूक्तियाँ –

पापाद् घृणा किन्तु न पापिवर्गान्मनुष्यतैवं प्रभवेन्निसर्गात्।। 17/7।।

पाप से घृणा करना चाहिये, किन्तु पापियों से नहीं। मनुष्यता स्वभाव से ही यह संदेश देती है।

सन्दर्भ –

1. तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा, पृ. 181–182।
2. अलंकार चिन्तामणि, भारतीय ज्ञानपीठ संस्करण 1/102।
3. षट्खण्डागम, धवलाटीका का समन्वित, प्रथम जिल्द पृ. 6।
4. तत्त्वार्थसूत्र अ. 5 सूत्र – 30।
5. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय अ. 9 सूत्र – 1।
6. तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 9, सूत्र 3।

परिच्छेद – 4

सर्वज्ञता की सिद्धि

आचार्य ज्ञानसागर ने सर्वज्ञता की सिद्धि का प्रतिपादन करते हुये लिखा कि जब यह आत्मा समस्त मोह रागादि रूप विकारी भावों से विमुक्त हो अतीन्द्रिय सुख को प्राप्त कर लेती है, जिस निर्मल ज्ञान के प्रकाश में विश्व के समस्त ज्ञेय पदार्थ दर्पणवत् प्रतिबिम्बत होने लगते हैं उस पूर्णज्ञान से ही सर्वज्ञता की सिद्धी होती है। यथा –

नैश्चल्यमाप्त्वा विलसेद्यदा तु सदा समस्तं जगदत्र भातु।
यदीक्ष्यतामिन्धननाम बाह्यं तदेव भूयादुत बह्विदाह्यम्।। 4।।

–वीरो.सर्ग.20।

अर्थात् जब यह आत्मा क्षोभ–रहित निश्चल होकर विलसित होता है, तब उसमें प्रतिबिम्बित यह समस्त जगत् स्पष्टतः दिखाई देने लगता है; क्योंकि ज्ञेय पदार्थों को जानना ही ज्ञानरूप आत्मा का स्वभाव है। जैसे बाहिरी दाह्य ईंधन को जलाना दाहक रूप अग्नि का काम है, उसी प्रकार बाहिरी समस्त ज्ञेयों को जानना ज्ञायक रूप आत्मा का स्वभाव है।

भविष्य में होने वाले, वर्तमान में विद्यमान और भूतकाल में उत्पन्न हो चुके– ऐसे त्रैकालिक पदार्थों की परम्परा को जानना निरावरण ज्ञान का माहात्म्य है। ज्ञान के आवरण दूर हो जाने से सार्वकालिक वस्तुओं को जानने वाले पवित्र ज्ञान को सर्वज्ञ भगवान धारण करते हैं। अतः वे सर्वज्ञ होते हैं।

भविष्यतामत्र सतां गतानां तथा प्रणालीं दधतः प्रतानाम्।
ज्ञानस्य माहात्म्यमसावबाधा–वृत्तेः पवित्रं भगवानथाऽधात्।। 5।।

–वीरो.सर्ग.20।

वेदों में भी सर्ववेत्ता होने का उल्लेख है। जैसे मणि के अन्दर विद्यमान चमक शाण से प्रकट होती है, उसी प्रकार मनुष्य में सर्वज्ञ बनने की शक्ति है, वह श्रुति के निमित्त से प्रकट होती है।

न्यगादि वेदे यदि सर्ववित्कः निषेधयेत्तं च पुनः सुचित्कः।
श्रुत्यैव स स्यादिति तूपकृप्तिः शाणेन किं वा दृषदोऽपि दृप्तिः।। 11।।

–वीरो.सर्ग.20।

जैसे सुई माला बनाते समय क्रम–क्रम से एक–एक पुष्प को ग्रहण करती है, किन्तु हमारी दृष्टि तो टोकरी में रखे हुये समस्त पुष्पों को एक साथ ही एक समय में ग्रहण कर लेती है। इसी प्रकार छद्मस्थ जीवों का इन्द्रिय–ज्ञान क्रम–क्रम से एक–एक पदार्थ को जानता है, किन्तु जिनका ज्ञान आवरण से मुक्त हो गया है, वे समस्त पदार्थों को एक साथ जान लेते हैं। यथा –

सूची क्रमादञ्चति कौतुकानि करण्डके तत्क्षण एव तानि।
भवन्ति तद्वद्भुवि नस्तु बोध एकैकशो मुक्त इयान्न रोधः।। 12।।

–वीरो.सर्ग.20।

परोक्ष ज्योतिषशास्त्र आदि से ज्ञात होने वाले सूर्य–ग्रहण, चन्द्र–ग्रहण आदि बातों को स्वीकार करके भी यदि कोई अतीन्द्रिय प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा ज्ञात होने वाली वस्तुओं को स्वीकार न करें, तो उसे दुराग्रह के सिवाय और क्या कहा जाय? क्योंकि प्रत्यक्षदृष्टा के वचनों को ही शास्त्र कहते हैं। इसीलिए प्रत्यक्ष–दृष्टा सर्वज्ञ को स्वीकार करना चाहिए। जैसे गुरू के बिना शिष्य नहीं हो सकता, उसी प्रकार सर्वदर्शी के बिना शास्त्र का ज्ञान होना संभव नहीं है।

विश्व–दृष्टा सर्वज्ञ का ज्ञान प्रत्यक्ष होकर भी इन्द्रिय, आलोक आदि की सहायता के बिना ही उत्पन्न होता है। भगवान पुरू (ऋषभ) देव ने **'अक्षं आत्मानं प्रति यद् वर्तते, तत्प्रत्यक्षं'** ऐसा कहा है। जो ज्ञान केवल आत्मा की सहायता से उत्पन्न हो, वह **प्रत्यक्ष ज्ञान** कहलाता है

और जो ज्ञान इन्द्रिय, आलोक आदि की सहायता से उत्पन्न होता है, वह ज्ञान जैनागम में **परोक्ष** ही माना गया है।

आत्मानमक्षं प्रति वर्तते यत् प्रत्यक्षमित्याह पुरूः पुरेयत्।
रादिन्द्रियाद्यैरूपजायमानं परोक्षमर्थाद्भवतीह मानम्।। 21।।

–वीरो.सर्ग.20।

"श्री वर्धमान स्वामी ने सर्वज्ञता को प्राप्त किया था"– यह बात केवल श्रद्धा का ही विषय नहीं है, अपितु इतिहास से भी प्रसिद्ध है। भगवान महावीर को दिव्य ज्ञानी और जन्मान्तरों का वेत्ता कहा गया है। उनके द्वारा प्रतिपादित अनेकान्त के मार्ग से ही लौकिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक जगत की प्रवृत्ति समीचीन रूप से चल सकती है।

भगवान महावीर का मोक्ष–गमन

मानव–जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना है। मोक्ष का अर्थ है, बन्धनों का बिगलन (निर्बन्ध होना) छुटकारा प्राप्त करना। संसार के कोटि–कोटि जन को यह मुक्ति या आत्मा की स्वतन्त्रता तो अभीष्ट है, परन्तु पुरूषार्थ की ओर प्रवृत्ति अभीष्ट नहीं है।

तीर्थंकर महावीर ने अथक तप, संयम और साधना के मार्ग पर चलकर योग और कषायों के निरोध द्वारा निर्वाण की प्राप्ति की। वे स्वयं कामनाओं से लड़े, विषय–वासनाओं पर विजय प्राप्त की, हिंसा को पराजित किया, असत्य को पराभूत किया तथा निर्वाण का मार्ग प्रशस्त किया।

महावीर इस धरती को ज्ञानामृत से सिंचन करते हुए पावापुर नामक स्थान में पधारे और वहाँ के मनोरम नामक वन के मध्य अनेक सरोवरों के बीच में मणिमय शिला पर विराजमान हुए। बिहार करना छोड़कर उन्होंने कर्मों की निर्जरा को वृद्धिंगत किया।

जिनेन्द्रवीरोऽपि विबोध्य सन्ततं समन्ततो भव्यसमूहसन्ततिम्।
प्रपद्य पावावनगरीं गरीयसीं मनोहरोद्यानवने तदीयके।।

–हरिवंश पु. ज्ञा. सं. 66/15।

महावीर ने योग निरोधार्थ षष्ठोपवास धारण किया और कायोत्सर्ग द्वारा कर्म–प्रकृतियों का विनाश किया।[5]

एभिः समं त्रिभुवनाधिपतिर्विहत्य, त्रिंशत्समाः सकलसत्वहितोपदेशी।
पावापुरस्य कुसुमार्चित पादपानां, रम्यं श्रियोपवनमापि ततो जिनेंद्रः।।

अन्य आगम–ग्रन्थों से भी अवगत होता है कि तीर्थंकर महावीर ने आयु के दो दिन अवशिष्ट रहने पर विहार रूप काययोग, धर्मोपदेश रूप वचन योग एवं क्रिया रूप मनोयोग का निरोध कर प्रतिमायोग धारण किया और पावापुर के बाहर अवस्थित सरोवर के मध्य में कायोत्सर्ग ग्रहण कर अघातिया कर्मों की पचासी प्रकृतियों का क्षय किया।

कृत्वा योगनिरोधमुज्झितसभः षष्ठे न तस्मिन्वने।
व्युत्सर्गेण निरस्य निर्मलरूचिः कर्माण्यशेषाणि सः।।
स्थित्वेन्दावपि कार्तिकासित चतुर्दश्यां निशान्ते स्थिते।
स्वातौ सन्मति राससाद भगवान्सिद्धिं प्रसिद्धश्रियम्।।

भ. महावीर नें कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के अन्तिम प्रहर में स्वाति–नक्षत्र के रहते हुए ई. पू. 527 में मोक्ष–पद प्राप्त किया। श्वेताम्बर–ग्रन्थोंकी मान्यता के अनुसार तीर्थंकर महावीर पावानगरी के राजा हस्तिपाल के रज्जुक सभा–भवन में अमावस्या की समस्त रात्रि धर्म–देशना करते हुए मोक्ष पधारे।

आचार्य ज्ञानसागर ने वीरोदय महाकाव्य में भ. महावीर के मोक्ष गमन के प्रसंग में लिखा है कि शरद–ऋतु में अति मृदुल शरीर को धारण करने के लिए कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि में एकान्त स्थान को प्राप्त हुए। उसी रात्रि के अन्तिम समय में वे धीर वीर महावीर पावानगरी के उपवन में मुक्ति लक्ष्मी के अनुगामी बने और उसके मार्ग का अनुसरण करते हुए वे सदा के लिये चले गये।

अपि मृदुभावाधिष्ठशरीरः सिद्धिश्रियमनुसर्तुं वीरः।
कार्तिककृष्णाब्धीन्दुनुमायास्तिथेर्निशायां विजयनमथाऽयात्।। 20।।

–वीरो.सर्ग.21।

पौराणिक आरव्यानों का दिग्दर्शन

जैन–परम्परा अवन्ती में चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर निर्वाण के 215 वर्ष पश्चात् मानती है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्तमौर्य ने पाटिलपुत्र (मगध) में राज्यारोहण के 10 वर्ष पश्चात् अवन्ती में अपना राज्य स्थापित किया था। इस प्रकार इतिहास और जैन–परम्परा के समन्वित आलोक में महावीर का निर्वाण ई. पू. 527 सिद्ध होता है।

प्रसिद्ध इतिहासकार **डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. एच. सी. राय चौधरी** और **डॉ. के. के. दत्त** द्वारा लिखित **'एन एडवांस हिस्ट्री ऑफ इण्डिया'** – में महावीर की निर्वाण–तिथि ई. पू. 528 मानी गई है। यद्यपि इन विद्वानों ने इस तिथि को निर्विवाद नहीं बताया है और इसकी असंगतियोंकी ओर इंगित करते हुए हेमचन्द्र के उल्लेखों के साथ विरोध बतलाया है। **हेमचन्द्र** ने चन्द्रगुप्त मौर्य के 155 वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण बताया है। 215 वर्ष पूर्व नहीं। इन सब विसंगतियों के रहने पर भी उक्त विद्वान् तीर्थंकर महावीर की निर्वाण तिथि 15 अक्टूबर ई. पू. 527 ही मानते हैं।

'तित्थोगालीयपयन्ना' में बताया गया है कि जिस रात्रि में अर्हत् महावीर तीर्थंकर का निर्वाण हुआ, उसी रात में अवन्ति में पालक का राज्याभिषेक हुआ। अतः 60 वर्ष पालक के, 150 नन्दों के, 160 मौर्यों के, 35 पुष्पमित्रके, 60 बलमित्र भानुमित्र के, 40 नभसेन के और 100 वर्ष गर्दभिल्लों के व्यतीत होने पर शक राजा का शासन हुआ।

जं रयणि सिद्धिगओ, अरहा तित्थकरो महावीरो।
तं रयणिमवंतीए, अभिसित्तो पालओं राया।।
पालगरण्णो सट्ठी, पुण पण्णसयं वियाणि णंदाणं।
मुरियाणं सट्ठिसयं, पणतीसा पूसमित्ताणं (तस्य)।।
बलमित्त–भाणुमित्ता, सट्ठा चत्ता य होंति नहसेणा।
गद्दभसयमेगं पुण, पडिवन्नो तो सगो राया।।

पंच य मासा पंच य, वासा छच्चेव होंति वाससया।
परिनिव्वुअस्सऽरहितो तो उप्पन्नो सग्ग राया।।[1]

उपर्युक्त तथ्यों की पुष्टि 'तिलोयपण्णत्ती'[2], तिलोयसार[3], धवलटीका[4] और हरिवंशपुराण से भी होती है।[5] इन ग्रन्थों में बताया गया है कि निर्वाण के 605 वर्ष 5 माह बीतने पर शक राजा हुआ। इस आधार पर महावीर निर्वाण 605 वर्ष, 5 माह – 78 वर्ष – 527 ई. पू. है।

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वास सदेसु पंच–वरिसेसुं।
पणमासेसु गदेसुं संजादो सगणिओ अहवा।।[2]
पणछस्सयवस्सं पणमासजुदं गमिय वीरणिव्वुइदो।
सगराजो तो कक्की चदुणवतियमहिय सगमासं।।[3]
पंच य मासा पंच य वासा छच्चेव होंति वाससया।
सगकालेण य सहिया थावेयव्वो तदो रासी।।[4]
वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रं मासपञ्चकम्।
मुक्तिं गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत्।।[5]

डॉ वासुदेव उपाध्याय ने **'गुप्तसाम्राज्य का इतिहास'** ग्रन्थ में गुप्त संवत् पर विचार करते समय जैनग्रन्थों का आधार स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है अलबेरूनी से पूर्व शताब्दियों में कुछ जैन ग्रन्थकारों के आधार पर यह ज्ञात होता है कि गुप्त तथा शक् काल में 241 वर्ष का अन्तर है। प्रथम लेखक जिनसेन, जो 8 वीं शताब्दी में वर्तमान थे, उन्होंने वर्णन किया है कि भगवान महावीर के निर्वाण के 605 वर्ष 5 माह के पश्चात् शक् राजा का जन्म हुआ।

द्वितीय ग्रन्थकार **गुणभद्र** ने **उत्तरपुराण** में लिखा है कि महावीर निर्वाण के 1000 वर्ष बाद कल्किराज का जन्म हुआ। **'नेमिचन्द्र'** ने त्रिलोक सार में लिखा है शकराज महावीर निर्वाण के 605 वर्ष 5 मास के बाद तथा शक्काल के 394 वर्ष 7 माह के पश्चात् कल्किराज पैदा हुआ। इनके योग से 1000 वर्ष होते हैं।

विद्वान लेखक **डॉ. उपाध्याय** ने शक् संवत् सम्बन्धी जैन धारणाओं के आधार पर शक् और गुप्त संवत का सम्बन्ध व्यक्त करते हुए लिखा है – "इस समय से यह ज्ञात होगा कि गुप्त संवत् की तिथि 241 जोड़ने से शक्–काल में परिवर्तन हो जाता है। इस विस्तृत विवेचन के कारण अरूबेरूनी के कथन की सार्थकता ज्ञात हो जाती है। यह निश्चित् हो गया कि शक्–काल के 241 वर्ष पश्चात् गुप्त–संवत् का प्रारम्भ हुआ।"[6]

अतः पौराणिक आरव्यानों के आधार पर महावीर की निर्वाण तिथि कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी रात्रि का अन्तिम प्रहर, स्वाति नक्षत्र, मंगलवार 15 अक्टूबर ई. पू. 527 है।

सन्दर्भ –

1. तित्थोगालीयपयन्ना गाथा 620–623, हरिवंश पुराण 60/487–490।
2. तिलोयपण्णत्ती भाग 2 गा. 1511।
3. तिलोयसार, गाथा, 850।
4. धवलाटीका, जैन सिद्धान्त भवन आरा पत्र, 537।
5. हरिवंशपुराण, ज्ञानपीठ संस्करण 60/551।
6. गुप्त साम्राज्य का इतिहास, भाग 1, पृ. 181।

अध्याय – 4

वीरोदय का काव्यात्मक मूल्यांकन

परिच्छेद – 1

कवि की काव्यात्मकता एवं अलंकारों का प्रयोग

वीरोदय महाकाव्य बाल ब्रह्मचारी महाकवि पंडित भूरामल जी की यशस्वी लेखनी से प्रसूत है। जो क्रमशः जैनमुनि अवस्था में आचार्य ज्ञानसागर जी के नाम से प्रसिद्ध हुए। विषयों की आशा से विरक्त, अपरिग्रही, करूणा–सागर, कवि–हृदय, शान्तस्वभावी, ज्ञान–ध्यान–तप में लवलीन, साधना में कठोर, तेजस्वी महात्मा। बस यही था उनका अन्तर का आभास।

श्री भूरामल जी एक ऐसे महाकवि हैं, जिन्होंने निरन्तर आत्म–साधना की ओर अग्रसर रहते हुए एक नहीं, अनेक महाकाव्यों का सृजन किया। ऐसा प्रतीत होता है कि आत्म–साधक योगी के लिए काव्य भी आत्म–साधना का अंग बन गया है और सम्पूर्ण जीवन काव्यमय हो गया। ऐसे व्यक्तित्व के धनी योगी का जन्म राजस्थान में जयपुर के समीप सीकर जिले के राणोली ग्राम में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री चतुर्भुज एवं माता का नाम श्रीमती घृतदेवी था।[1]

ब्रह्मचर्य–व्रत अंगीकार कर आत्म कल्याण एवं जैनकाव्य–निर्माण के इच्छुक पं. भूरामल शास्त्री दुकान के काम की ओर से उदासीन होकर ज्ञानाराधन में ही लीन हो गये। उन्होंने अध्ययन एवं लेखन को ही अपनी दिनचर्या बना लिया। सरस्वती की आराधना करते हुए उन्होंने जैन–साहित्य एवं दर्शन की अभिवृद्धि की। उनके ग्रन्थ संस्कृत एवं हिन्दी दोनों ही भाषाओं में हैं।

कवि की काव्यात्मकता

महाकवि आचार्य ज्ञानसागर का काव्यत्व, काव्य की कसौटी पर खरा उतरता है। मानव–चरित तथा मानव–आदर्श प्रस्तुत करना इस महाकाव्य का प्रमुख लक्ष्य रहा है। महाकवि ने अपनी उक्तियों को लाक्षणिकता एवं व्यंजकता से मण्डित कर/ उसमें वक्रता लाकर हृदयस्पर्शी बनाया है, जिससे वीरोदय की भाषा में अपूर्व काव्यात्मकता आविर्भूत हुई है। महाकवि ने भाषा को काव्यात्मक बनाने वाले प्रायः सभी शैलीय उपादानों का प्रयोग किया है। उपचार वक्रता, प्रतीक–विधान, अलंकार–योजना, मुहावरे, लोकोक्तियाँ, सूक्तियाँ आदि सभी तत्त्वों से उनकी भाषा मण्डित है। 'काव्य' शब्द कव् धातु के ण्यत् प्रत्यय के योग से निष्पन्न हुआ है। **'कव'** का तात्पर्य है, वर्णन करना। इस प्रकार **"काव्य"–शब्द** का अर्थ है – कविकृत किसी पदार्थ का सुन्दर वर्णन।

काव्य के प्रमुख अंग – किसी भी व्यक्ति के स्वरूप का ज्ञान करने के लिए हम उसके नख–शिख का आलोचन करते हैं। इसी प्रकार काव्य का स्वरूप जानने के लिए हमें उसके प्रमुख अंगों के विषय में जानना चाहिए।

शब्द और अर्थ – किसी पदार्थ का वर्णन करने के लिये सार्थक शब्दावली का सहारा लिया जाता है जिसका कुछ न कुछ अर्थ अवश्य निकलता है।

अलंकार

पुरूष अपने को सुसज्जित करने तथा समृद्धि–बहुलता को दर्शाने को लिए और स्त्रियाँ अपने सौभाग्य को सूचित करने के लिए कटक, कुण्डल, हारादि अलंकारों का उपयोग करती हैं। इसी प्रकार कवि पाण्डित्य–प्रदर्शन के लिए अपनी कविता–कामिनी को अनुप्रास, उपमा, श्लेष इत्यादि से सुसज्जित करता है। एक यशस्वी व्यक्ति के लिए कुण्डलादि आवश्यक नहीं, इसी प्रकार कवि के काव्य का भावपक्ष प्रबल होने पर काव्य के लिए उपमा–अनुप्रासादि की आवश्यकता नहीं है।

छन्द

पुरूष को गतिशील बनाने का महत्त्वपूर्ण और मूर्त साधन है – उसके चरणद्वय। इसी प्रकार काव्य–पुरूष की गति अवरूद्ध न हो, उसमें प्रवाह हो इसके लिए कवि छन्दों का अवलम्बन लेता है। गद्य–काव्यों में इसकी आवश्यकता नहीं होती, किन्तु पद्य–काव्य पूर्णतया इनका सहारा लेकर लिखा जाता है। छन्दों की इसी महत्ता के कारण महर्षि पाणिनि ने छन्दों को वेदों का चरण कहा है।[2]

छन्द पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरूक्तं श्रोत्रमुच्यते।।
शिक्षा प्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते।।

रस

पुरूष केवल अपने **शरीर** के बल पर जीवित नहीं रह सकता। उसे जीवित रखने वाली एक **अमूर्त शक्ति** आत्मा होती है। इसी प्रकार काव्य भी केवल शब्दार्थमय शरीर से ही ग्राह्य नहीं बनता और न केवल छन्द और अलंकार ही उसे ग्राह्य बना सकते हैं। वरन् काव्य को ग्राह्य बनाने के लिए भी आत्म–शक्ति आवश्यक है। उस आत्म–शक्ति को साहित्यिक भाषा में **'रस'** कहते हैं। इसके बिना काव्य या तो निष्प्राण होता है, या बौद्धिक व्यायाम का साधन। अतः बुद्धि और सहृदयता से युक्त अच्छे पुरूष के समान एक अच्छा काव्य भी वही है, जिसमें बुद्धि–पक्ष और हृदय–पक्ष का समन्वय हो।

वर्ण्य–विषय – प्रत्येक काव्य का कोई न कोई वर्ण्य–विषय होता है। चाहे काव्य किसी कथा पर आधारित हो, या किसी की भक्ति पर, या देश–प्रेम पर। वर्ण्य–विषय न होने पर कवि किसका वर्णन करेगा ?

शैली – काव्य लिखने का मुख्य उद्देश्य है – 'सद्यः परनिर्वृत्ति।' इस उद्देश्य तक पहुँचने के लिए कवि को काव्य में कोई मार्ग चुनना पड़ता है। साहित्य में इसी मार्ग का प्रचलित नाम है **''शैली।''**

गुण–दोष – जिस प्रकार मनुष्यों में गुण–दोष होते हैं, उसी प्रकार काव्यों में भी ये पाये जाते हैं। पर जिस प्रकार 'पूज्य ऋषिजन' गुणों को ग्रहण करने का और दोषों से बचने का उपदेश देते हैं, उसी प्रकार साहित्य काव्य – शास्त्री भी अच्छे कवि को उपदेश देते हैं कि वह भी यथा–सम्भव अपने काव्य में माधुर्यादि गुणों का आराधन करे और दुष्क्रमत्वादि दोषों से बचे।

आचार्य मम्मट ने ऐसे "शब्द अर्थ युगल को काव्य माना है जो दोष रहित हो, गुण सहित हो चाहे कहीं अलंकार की योजना भले ही न हो,

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।'

साहित्य दर्पणकार **आचार्य विश्वनाथ** ने काव्य की परिभाषा देते हुये लिखा है **"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्"** जो उक्ति सहृदय को भावमग्न कर दे, मन को छू ले, हृदय को आन्दोलित कर दे, उसे **"काव्य"** कहते हैं। जब मानव–चरित, मानव–आदर्श एवं जगत के वैचित्र्य को कलात्मक रीति से प्रस्तुत किया जाता है, तब ऐसी उक्ति की रचना होती है। **कलात्मक रीति** का प्राण है, भाषा की लाक्षणिकता एवं व्यंजकता। भाषा को लाक्षणिक एवं व्यंजक बनाने के उपाय हैं :–

अन्योक्ति, प्रतीक–विधान, उपचार–वक्रता, अलंकार–योजना, बिम्ब–योजना, शब्दों के सन्दर्भ विशेष में व्यंजनात्मक गुम्फन आदि। शब्द–सौष्ठव एवं लयात्मकता भी कलात्मक रीति के अंग हैं। इन सबको **आचार्य कुन्तक** ने **"वक्रोक्ति"** नाम दिया है। सुन्दर कथन का नाम ही **"काव्य–कला"** हैं। रमणीय कथन–प्रकार में ढला कथ्य **"काव्य"** कहलाता है।

'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' (पण्डितराज जगन्नाथ) **'सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति',** ध्वन्यालोग–4) ये उक्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती है।[3]

कलात्मक अभिव्यंजना से भाषा में भावों के स्वरूप का निर्देश करने के बजाय अनुभूति कराने की शक्ति आ जाती है तथा कथन में रमणीयता का आविर्भाव होता है। किसी स्त्री के मुख को **'सुन्दर'** कहने से उसके सुन्दर होने की सूचना मात्र मिलती है, किन्तु उसे **चन्द्रमा** या **कमल** कहने से सौन्दर्य की अनुभूति होती है; क्योंकि चन्द्रमा और कमल के सौन्दर्य का हमें अनुभव होता है। अतः ये शब्द हमारे अनुभव को जगाकर मुख के सौन्दर्य को मानस–पटल पर दृश्य बना देते हैं। किसी के अत्यन्त क्रुद्ध होने पर हम यही कहें कि **"वह अत्यन्त कुद्ध हो गया"** तो इससे उसके क्रोधातिरेक की जानकारी ही मिलेगी, क्रोधाभिभूत अवस्था की अनुभूति न होगी। इसके बजाय हम यह कहें कि **'वह आग बबूला हो गया'** या **'उसकी आंखों के अंगारे जलने लगे'** तो उसकी क्रोधाभिभूत दशा आँखों के सामने साकार हो जायेगी। "कोई युवक किसी युवती से बेहद प्रेम करता है"– ऐसा कहने से उसके प्रेम की उत्कृष्टता का साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु 'वह उस पर मरता है' ऐसा कहने से उसके प्रेम की उत्कृष्टता अनुभव में आ जाती है। किसी को **"खतरनाक"** कहने से केवल उसके खतरनाक होने की सूचना मिलती है, लेकिन **"साँप"** कहने से उसके खतरनाकपन की छाया मन पर छा जाती है।

इस प्रकार जब वस्तु–स्वभाव, मानव–अनुभूतियों एवं व्यापारों को वाचक शब्द द्वारा निर्दिष्ट न कर उपमा उपचारादि (लाक्षणिक प्रयोग) जन्य बिम्बों, मनोभावों के सूचक बाह्य–व्यापार रूप अनुभावों, सन्दर्भ–विशेष के वाहक शब्दों तथा सन्दर्भ–विशेष में गुम्फित शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, तब भाषा, भावों के स्वरूप की अनुभूति कराने योग्य बनती है।

इन तत्त्वों के द्वारा वस्तु के सौन्दर्य का उत्कर्ष, मानव–मनोभावों एवं अनुभूतियों की उत्कृष्टता, तीक्ष्णता, उग्रता, कटुता, उदारता, वीभत्सता, मनोदशाओं की गहनता, किंकर्त्तव्यविमूढ़ता, परिस्थितियों और घटनाओं की हृदय–प्रभावकता, मर्मच्छेदकता और आह्लादिकता आदि अनुभूति–गम्य हो जाते हैं। इनकी अनुभूति सहृदय के स्थायीभावों को उद्‌बुद्ध करती है। अतः वह भावमग्न/रस–मग्न हो जाता है।

कथन की विशिष्ट पद्धति से आविर्भूत रमणीयता भी उसे आह्लादित करती है। यह विशिष्ट पद्धति ही **"शैली"** कहलाती है। इसमें गुम्फित भाषा **काव्य–भाषा** कहलाती है। भारतीय काव्य शास्त्रीय कुन्तक ने इस शैली को **"वक्रता"** कहा है। अन्य काव्यशास्त्रियों ने इसे **"चयन"** (सिलेक्शन) और **"विचलन"** नाम दिये हैं।

छन्द प्रयोग

काव्य में जिस प्रकार गुण और अलंकार का स्थान है, वैसे ही छन्द–योजना का भी प्रमुख स्थान होता है। छन्दों के बिना वेद–मन्त्रों का अध्ययन अध्यापन सम्भव नहीं है। वैदिक ज्ञान के लिये छन्दों का ज्ञान अनिवार्य है। इसलिए छन्द को वेद का पाद कहा गया है।

शिक्षा कल्पोऽथ व्याकरणं निरूक्तं छन्दसां चयः।
ज्योतिषाययनं चैव पादाङ्गानि षडेव तु।।

इस प्रकार काव्य के पाद का आधार भी छन्द ही है। यथा पाद के बिना सर्व साधन सम्पन्न व्य क्ेत भी अवरूद्ध गति बन जाता है, अपनी आधार–भूमि से ही वंचित हा जाता है। तद्वत् छन्द के अभाव/ विषयानुरूप छन्द की योजना न होने से समग्र रस भावादि–सम्पन्न भी काव्य स्वाभाविक अभीष्ट, समुत्कृष्ट पद्धति में शिथिल प्रतीत होता है।

'छन्द'–शब्द 'छन्द'–धातु से असुन् प्रत्यय द्वारा निष्पन्न हुआ। इस शब्द का तात्पर्य ऐसे श्लोक से है जो श्रोता को प्रसन्न कर सके। **काव्यमीमांसाकार राजशेखर** ने **'रोमांणि छन्दांसि'** कहकर छन्द को सर्व–व्यापी स्थान दिया।

श्लोकों को जब चरणों, वर्णों और मात्राओं के आकर्षक बन्धन में निबद्ध किया जाता है तब उनमें प्रवाह, सौन्दर्य व गेयता आ जाती है। फलस्वरूप पाठक व श्रोता जब ऐसे श्लोकों को पढ़ता या सुनता है, तब उसे मधुर संगीत सुनने जैसा आनन्द आता है और वह छन्दोबद्ध काव्य को पढ़ने या सुनने में ऐसा लीन हो जाता है कि अन्य सभी कार्यों को विस्मृत कर देता है। सफल कवि वही है जो अभीष्ट भाव के लिए तदनुरूप छन्दों

की योजना कर सके। अनुरूप छन्द में वर्णित विषय मर्मस्पर्शी, हृदयावर्जक व रोचक हो जाता है। अतः कवि मनोवैज्ञानिक व संगीतज्ञ भी होता है। प्राप्त मनोगत भावों के सच्चे परिवाहक छन्द ही है। लय छन्दों का प्राण है। नाद में सुसंगता और सुषमामय कम्पन को **'लय'** कहते हैं। जैसे नाद का कम्पन ही जीवन का चिन्ह है। उसी प्रकार कविता के जीवन का चिन्ह छन्द है। छन्द हमारे जीवन में विशेष प्रेरणा भरते हैं।

काव्य की पद्यात्मक विधा की रचना तो पूर्णतया छन्दोबद्ध पद्यों में ही की जाती है। अतः इस विधा में छन्दों का महत्त्व अत्यधिक है। गद्यात्मक विधा में छन्दों का इतना महत्त्व तो नहीं होता, किन्तु गद्य कवि भी अपने काव्यों में यत्र–तत्र छन्दोंबद्ध पद्यों का प्रयोग करके छन्दों के महत्त्व का उद्घोष करते हैं। जहाँ किसी न किसी वृत्त विशेष की सिद्धि होने लगती है। ऐसे ही स्थलों को **सहित्यदर्पणकार** ने **''वृत्तगन्धि''** गद्यकाव्य माना है।

नाटकों में भी जब कोई पात्र अपने कथन की पुष्टि करना चाहता है या किसी भाव विशेष का अभिनय करता है, तब शीघ्र ही छन्दोबद्ध पद्यों का प्रयोग करता है। मात्रिक–छन्दों में मात्राओं की और वर्णिक–छन्दों में वर्ण की व्यवस्था से पद्यों को निबद्ध किया जाता है। साथ ही सुकवि यह भी ध्यान रखते हैं कि कौन से छन्द वीररस के वर्णन में, कौन से प्रकृति–वर्णन में, कौन भक्ति–भाव प्रकट करने में सहायक होंगे ? आदि। काव्य को आह्लाद एवं प्राणवान बनाने में छन्द महत्त्वपूर्ण भूमिका अभिनीत करते हैं। अतः कोई काव्य–शास्त्री और काव्य–प्रणेता कला–पक्ष के इस अंग की उपेक्षा नहीं करता। आचार्यश्री ज्ञानसागर ने अपने काव्यों में प्रचलित व अप्रचलित दोनों प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है। वीरोदय में 988 श्लोकों को 18 छन्दों में निबद्ध किया है।

उपजाति छन्द

वृत्तरत्नाकर में बताया है कि जहाँ इन्द्रवज्रा व उपेन्द्रवज्रा छन्दों के चरण मिलाकर छन्द बनाये जाते हैं, वहाँ दो वृत्तों का सांकर्य होने से

उपजाति छन्द बन जाता है। आचार्यश्री ने वीरोदय के 503 श्लोकों (पद्यों) को इस छन्द में निबद्ध किया है।

लक्षण –अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यास्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिष्विदमेव नाम।।

इस छन्द का प्रयोग श्रृँगाररस के आलम्बनभूत, उदात्त नायिकाओं के रूप वर्णन, वसन्तऋतु के वर्णन में किया जाता है। वसन्त–ऋतु के वर्णन में इसका प्रयोग इस प्रकार है –

श्लोकन्तु लोकोपकृतौ विधातुं पत्राणि वर्षा कलमं च लातुम्।
विशारदाऽभ्यारभते विचारिन् भूयो भवन् वार्दल आशुकारी।। 13।।

–वीरो.सर्ग.4।

प्रयोग के अन्य स्थल – प्रायः सभी सर्गों में प्रयुक्त। द्वितीय सर्ग – 2, 5, 7। षष्ठ सर्ग – 1, 2। नवम सर्ग – 12, 14, 16, 22, 35, 44। एकोनविंश सर्ग – 2–4, 10–21, इत्यादि।

अनुष्टुप् छन्द

आचार्यश्री के ग्रन्थ में पद्यों की परिगणना से सुस्पष्ट है कि अनुष्टुप् छन्द उनका अपर प्रिय छन्द है। उन्होंने 178 पद्यों में इस छन्द को प्रयुक्त किया है।

लक्षण–श्लोके षष्ठं गुरू ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चकम्।
द्वि–चतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।

उदाहरण –

सौरभावगतिस्तस्य पद्मस्येव वपुष्यभूत्।
याऽसौ समस्तलोकानां नेत्रालिप्रतिकर्षिका।। 41।।

–वीरो.सर्ग.6।

प्रयोग स्थल – षष्ठ सर्ग सप्तम सर्ग – 37। अष्टम सर्ग – 1–45।

दशम सर्ग – 1–37। पञ्चदश सर्ग – 1–60। द्वाविंशतितम सर्ग – 28–32।

वियोगिनी

आचार्य श्री के काव्यों में तृतीय स्थान प्राप्त इस छन्द को कुछ आचार्यों ने **सुन्दरी** नाम दिया है। वीरोदय महाकाव्य के 42 पद्य वियोगिनी छन्द में निबद्ध है। उदाहरण –

अथ जन्मनि सन्मनीषिणः प्रससाराप्यभितो यशः किणः।
जगतां त्रितयस्य सम्पदा क्षुभितोऽभूत्प्रमदाम्बुधिस्तदा।। 1।।

–वीरो.सर्ग.7।

प्रयोग स्थल – चतुर्थ सर्ग – 30। सप्तम सर्ग – 1–37।

मात्रासमक – इस महाकाव्य में सर्ग समाप्ति पर 12 पद्यो में 16 मात्राओं वाले इस छन्द का प्रयोग किया गया है।

लक्षण – 'मात्रासमकं नवमोल्गान्तम्।'

उदाहरण – इति दुरितान्धकारके समये नक्षत्रौघसङ्कु लेऽघमये।
अजनि जनाऽह्लादनाय तेन वीराह्वयवरसुधास्पदेन।। 39।।

–वीरो.सर्ग.1।

प्रयोग स्थल – नवम् सर्ग – 44। दशम सर्ग – 39। तृतीय सर्ग – 34। चतुर्थ सर्ग – 61। षष्ठ सर्ग – 38, 39, 40।

द्रुतविलम्बित – इस छन्द का प्रयोग ग्रंथकार ने वीरोदय महाकाव्य में 9 श्लोकों में किया है।

लक्षण – 'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।'

उदाहरण –

न हि पलाशतरोर्मुकुलोद्गतिर्वनभुवां नखरक्षतसन्ततिः।
लसति किन्तु सती समयोचितासुरभिणाऽऽकलिताऽप्यतिलोहिता ।। 31।।

–वीरो.सर्ग.6।

प्रयोग स्थल – षष्ठ सर्ग 29, 32, 36।

आर्या – मात्रिक छंदों में गणनीय इस छन्द को आचार्य श्री ने

वीरोदय में स्वप्न–वर्णन स्थल पर 26 श्लोकों में प्रयुक्त किया है।

लक्षण –यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽर्या।।

उदाहरण –श्रीजिनपदप्रासादादवनौ कल्याणभागिनी च सदा।
भगवच्चरणपयोजभ्रमरी या संश्रृणूत तया।। 34।।

–वीरो.सर्ग.4।

प्रयोग स्थल – चतुर्थ सर्ग – 34–36, 39–56।

7. वंशस्थ – इस महाकाव्य में 25 पद्यों में इस छन्द को निबद्ध किया है।

लक्षण – 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।'

उदाहरण – समुन्नतात्मा गजराजवत्तथा धुरन्धरोऽसौ धवलोऽवनौ यथा।
स्वतन्त्रवृत्तिः प्रतिभातु सिंहवद्रमात्मवच्छश्वदखण्डितोत्सवः।। 57।।

–वीरो.सर्ग.4।

प्रयोग स्थल – चतुर्थ सर्ग – 57–60। नवम सर्ग – 1, 4, 7–13, 15, 20, 22–27।

8. बसन्ततिलका

आचार्यश्री ने इस छन्द को वीरोदय महाकाव्य में 40 पद्यों में निबद्ध किया है।

लक्षण – 'उक्ता बसन्ततिलका तभजाजगौ गः।'

उदाहरण – वीरस्तु धर्ममिति यं परितोऽनपायं विज्ञानतस्तुलितमाह जगद्–हिताय।
तस्यानुयायिधृतविस्मरणादिदोषाद्याऽभूद्दशा क्रमगतोच्यत इत्यहो सा।। 1।।

–वीरो.सर्ग.22।

प्रयोग स्थल बींसवाँ – 25। इक्कीसवाँ सर्ग – 22, 23, 24। बाइसवाँ सर्ग – 1–27।

9. शार्दूलविक्रीडितम्

वीरोदय महाकाव्य में आचार्यश्री ने इस छन्द का प्रयोग सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन के लिए और सर्ग के नामोल्लेख करने के लिए किया है। इस महाकाव्य में 38 शार्दूल विक्रीड़ित छन्द है।

लक्षण –'सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम्'

उदाहरण –श्रीमान् श्रेष्ठिचतुर्भुजः स सुषुवे भूरामलेत्याह्वयं।
वाणीभूषण–वर्णिनं घृतवरी देवी च यं धीचयम्।
श्री वीराभ्युदयेऽमुना विरचिते काव्येऽधुना नामत –
स्तस्मिन् प्राक्कथनाभिधोऽयमसकौ सर्गः समाप्तिं गतः।। 40।।

–वीरो.सर्ग.1।

प्रयोग स्थल

1. प्रत्येक सर्ग का अन्तिम श्लोक।

2. द्वितीय सर्ग – 46, 47, 48, 49।

चतुर्थ सर्ग – 28। सप्तम सर्ग – 38। नवम सर्ग – 45 इत्यादि।

10. इन्द्रवज्रा – इस महाकाव्य में 54 श्लोकों में निबद्ध इन्द्रवज्रा छन्द के निम्न उदाहरण दृष्टव्य है –

लक्षण – 'स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः'

उदाहरण – दीपोऽथ जम्बूपपदः समस्ति स्थित्यासकौ मध्यगतप्रशस्तिः।
लक्ष्म्या त्वनन्योपमयोपविष्टः द्वीपान्तराणामुपरिप्रतिष्ठः।। 1।।

–वीरो.सर्ग.2।

प्रयोग स्थल द्वितीय सर्ग – 8, 33। तृतीय सर्ग – 1, 2, 22। चतुर्थ सर्ग – 1, 8, पंचम सर्ग – 19।

11. उपेन्द्रवज्रा

लक्षण 'उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौः।

उदाहरण– सिद्धिस्तु विश्लेषणमेतयोः स्यात् सा साम्प्रतं ध्यातिपदैकपोष्या।
स्वाध्यायमेतस्य भवेदथाधो यज्जीवनं नाम समस्ति साधोः।। 22।।

–वीरो.सर्ग.18।

प्रयोग स्थल – चतुर्थ सर्ग – 5। नवम सर्ग – 33–34। षोडश सर्ग – 31।

सप्तदश सर्ग – 17, 21। उन्नीसवाँ – 1, 5, 9, 22, 30, 32। बीसवाँ सर्ग– 23।

12. भुजंगप्रयात – वीरोदय के 12 पद्यों में इस छन्द का प्रयोग हुआ है।

लक्षण – 'भुजंगप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः।'

उदाहरण –गृहस्थस्य वृत्तेरभावो ह्यकृत्यं भवेत्त्यागिनस्तद्विधिर्दुष्टनृत्यम्।
नृपः सन् प्रदद्यान्न दुष्टाय दण्डं क्षतिः स्यान्मुनेरेतदेवैम्य मण्डम्।। 19।।

–वीरो.सर्ग.16।

13. मालिनी छन्द – वीरोदय महाकाव्य में मालिनी छन्द के दो ही उदाहरण दृष्टव्य हैं।

लक्षण – "ननमयययुतेयं मालिनी भोगलोकैः"।।

उदाहरण – समवशरणमेतन्नामतो विश्रुताऽऽसी–ज्जिनपतिपदपूता संसदेषा शुभाशीः।
जनि–मरणजदुःखाद्दुःखितो जीवराशिरिह समुपगतः सन् सम्भवेदाशु काशीः।।

प्रयोग स्थल–चतुर्थ सर्ग– 63। 53 – वीरो.सर्ग.14।

14. शिखरिणी – आ. श्री ने एक–दो जगह इस छंद का भी प्रयोग किया है।

लक्षण –'रसै रूद्रैश्छिन्ना यमनसभला गः शिखरिणी'।

उदाहरण

पिता पुत्रश्चायं भवति गृहिणः किन्तु न यते –
स्तथैवायं विप्रो वणिगिति च बुद्धिं स लभते।।

य आसीन्नीतिज्ञोऽभ्युचितपरिवाराय मतिमान्।
प्रभो! रीतिज्ञः स्यात्तु विकलविकल्पप्रगतिमान्।। 46।।

–वीरो.सर्ग.17।

15. मन्दाक्रान्ता – एक ही स्थल पर प्रयुक्त मन्दाक्रान्ता छन्द का लक्षण है।

लक्षण – 'मन्द्राक्रान्ताम्बुधिरसनगैर्मोभनौ तौ ग युग्यम्।'

निःसन्देह कवि की काव्यात्मकता उन्हें महाकाव्योचित गरिमा प्रदान करने में पूर्ण समर्थ है।

सूक्तियाँ –

1. **पापप्रवृत्तिः खलु गर्हणीया** – पाप में प्रवृत्ति करना अवश्य निन्दनीय है। 17/22
2. **पापादपेतं विदधीत चित्तं समस्ति शौचाय तदेकवित्तम्।।** 17/23।। अपने चित्त को पाप से रहित करें – यही एक उपाय पवित्र (शुद्ध) होने के लिये कहा गया है।

सन्दर्भ –

1. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य – एक अध्ययन पृ. 18–36।
2. पाणिनीय शिक्षा श्लोक – 41–42।
3. आचार्य विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 3–31।

परिच्छेद – 2

अलंकार विवेचन

वाणी–भूषण बाल ब्रह्मचारी आचार्य ज्ञानसागर विरचित 'वीरोदय' महाकाव्य में अलंकारों का निर्देश करने से पूर्व अलंकार एवं उसके स्वरूप पर भी स्पष्ट प्रभाव ड़ाला गया है। भूषणार्थक 'अलम्' पूर्वक 'कृ' धातु से करण या भाव में 'घ' प्रत्यय से निष्पन्न यह **'अलंकार'**–शब्द सजावट, श्रृँगार, आभूषण, साहित्य–शास्त्र का एक अंग, काव्य का गुण–दोष विवेचक शास्त्रादि बहु–अर्थों में व्यवहृत है।[1] वेद वेदाङ्ग आदि में शतशः प्रयुक्त 'अलंकार' शब्द के आधार पर निःसन्देह कहा जा सकता है कि वेदाब्धि ही इसका स्रोत है जहाँ से प्रेरणा प्राप्त कर काव्य–शास्त्रीय आचार्यों ने इसका प्रतिपादन किया है। वेदों में अरंकृत, अरंकृति जैसे शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है।

आचार्य राजशेखर ने काव्य शास्त्र को सातवाँ वेदाङ्ग तथा पन्द्रहवाँ विद्या–स्थान बताया है।

अलंकारः सप्तममङ्गमिति यातावरीयः।
सकल–विद्या–स्थानैकायतन् पंचदशं काव्यं विद्यास्थानम्।।[2]

प्राचीनकाल में यह 'अलंकार'– शब्द सम्पूर्ण साहित्य–शास्त्र या काव्य–शास्त्र के लिए प्रयुक्त होता था। **आचार्य वामन** ने **'अलंकृतिरलंकारः'** अथवा **'अलंक्रियतेऽनेन'** व्युत्पत्ति से निष्पन्न अलंकार को शब्द–सौन्दर्य या शोभादायक कहा है। यह सौन्दर्य दोषों के त्याग एवं गुणालंकारादि के ग्रहण आदि से सम्पादित होता है। 'सालंकार काव्य ही ग्राह्य है' ऐसा स्वीकार किया है।

'आचार्य दण्डी' ने काव्य शोभाकार सभी धर्मों में अलंकार को ही प्रधान्येन स्वीकार किया है। **'काव्यशोभाकारान् धर्मानलंकारान्**

प्रचक्षते3।' काव्यादर्श में वक्रोति सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापक, **आचार्य कुन्तक** ने **'सालंकारस्य काव्यता'** कहकर काव्य में अलंकार को महत्त्व दिया है। शरीर के शोभातिशायी कटक, कुण्डल आदि की भाँति काव्य में अलंकार को भी शोभादायक माना है।[4]

आचार्य आनन्दवर्धन ने अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यों द्वारा प्रतिपादित अलंकार के अंगित्व पर आक्षेप प्रस्तुत करते हुये अलंकार को रसादि रूप काव्यात्मा का अंग रूप से होना स्वीकार किया है।[5] अलंकार से काव्य की शोभा को प्रतिपादित करते हुए **आचार्य भोजराज** ने काव्य शोभाकर गुण, रसादि को भी अलंकार की संज्ञा से अभिहित किया है।[6] **आनन्दवर्धन** तथा उनके अनुयायी अभिनवगुप्त, मम्मट आदि ने शरीर के बाह्य प्रसाधन कटक, कुण्डलादि की भाँति शब्दार्थ रूप काव्य शरीर में अलंकारों को मान्यता प्रदान की है।[7]

अलंकार का लक्षण –

अलंकार शब्द **"अलम्कार"** से बना है, जिसका शाब्दिक अर्थ होता है आभूषण। अलंकार काव्य का शोभावर्धक धर्म है। 'अलंकृतिरलंकारः' अथवा "अलंक्रियतेऽनेन" और "अलंकरोति इति अलंकारः" व्युत्पत्ति से निष्पन्न अलंकार शब्द सौन्दर्य या शोभादायक है। इसके अनुसार शरीर को विभूषित करने वाले अर्थ या तत्त्व का नाम **अलंकार** है। आचार्य मम्मट के अनुसार –

उपकुर्वन्ति तं सन्त येऽंगद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः।। 67।।[8]

काव्य में विद्यमान अंगीरस को शब्द व अर्थ रूप अंग कभी–कभी उपकृत करते हैं वे अनुप्रासदि शब्दालंकार व उपमादि अर्थालंकार शरीर के शोभावर्धक हारादि के समान काव्य के अलंकार होते हैं। आचार्य सम्मट ने काव्य के लक्षण में **'अनलंकृति पुनः क्वापि'** कहकर कहीं–कहीं काव्य में अलंकार न रहने पर भी काव्यत्व की हानि नहीं मानी है। तथापि वृत्ति में उनके इस स्पष्टीकरण से कि **'सर्वत्र सालंकारो क्वचित् तु**

स्फुटालंकारविरहेऽपि न काव्यत्वहानिः' अर्थात् काव्य में सर्वत्र शब्दालंकार और अर्थालंकार सहित शब्द व अर्थ की योजना आवश्यक है, किन्तु कहीं–कहीं स्पष्ट रूप से अलंकार योजना न हो तो भी काव्यत्व में हानि नहीं होती है, परन्तु गुणों की उपस्थिति सर्वत्र होनी चाहिए।

अलंकार शब्द तथा अर्थ रूप अंग द्वारा अंगीरस का उपकार करते हैं। कहीं–कहीं ये अलंकार उक्ति–वैचित्र्य–मात्र करते हैं और कहीं–कहीं काव्य में रस होने पर भी उत्कर्षाधायक नहीं होते हैं। कहीं अलंकारों की बहुतायत से रसास्वादन में बाधा होने लगती है। कहीं ये रूचिकर न होकर बोझ से प्रतीत होते हैं। अतः ये काव्य के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण न होकर कवि के कौशल के परिचायक होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के उपरान्त आचार्यश्री ज्ञानसागर जी ने काव्य–शास्त्रियों/अलंकारिकों द्वारा काव्य–रचना में जिन अलंकारों का होना स्वीकार किया है, वे सभी अलंकार वीरोदय महाकाव्य में गुम्फित किये हैं। उन्होंने अपनी कविता–कामिनी के सजाने के लिए निम्न अलंकारों का प्रयोग किया है। यथा–अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अपह्नुति, अतिशयोक्ति, तुल्ययोगिता, प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त, निदर्शना, अर्थान्तरन्यास, स्वभावोक्ति, तद्गुण, अप्रस्तुतप्रशंसा, दीपक, विभावना, एकावली, पुनरूक्तवदाभास आदि। अनुप्रास, यमक, उपमा, उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलंकार इनको विशेष रूप से प्रिय हैं। यहाँ कुछ अलंकारों के उदाहरण प्रस्तुत हैं –

1. अनुप्रास

लक्षण

(1) 'वर्णसाम्यमनुप्रासः'

(2) 'अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।'

साहित्यदर्पणकार के अनुसार स्वर की विषमता होने पर भी व्यंजनमात्र की समानता को "अनुप्रास–अलंकार" कहते हैं।

उदाहरण –

परागनीरोद्भरितप्रसून–श्रृँगैरनङ्गैकसखा मुखानि।
मधुर्धनी नाम वनीजनीनां मरूत्करेणोक्षतु तानि मानी।। 13।।

–वीरो.सर्ग.6।

उक्त पद्य में न्, र, एवं म, ध इत्यादि वर्णों की पुनरावृत्ति हो रही है। इसी प्रकार ग्रन्थारम्भ के मंगलाचरण वाले श्लोक में सेवा तथा मेवा और ह्रदोऽपि में भी अन्त्यानुप्रास की छटा मनोहारी है।

श्रिये जिनः सोऽस्तु यदीयसेवा समस्तसंश्रोतृजनस्य मेवा।
द्राक्षेव मृद्वी रसने ह्रदोऽपि प्रसादिनी नोऽस्तु मनाक् श्रमोऽपि।। 1।।

–वीरो.सर्ग.1।

2. यमक

लक्षण –

'अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्।'

अर्थ होने पर भिन्नार्थक वर्णों की पुनः उसी क्रम से आवृत्ति **यमक** कहलाती है।

उदाहरण –

समाश्रिता मानवताऽस्तु तेन समाश्रिता मानवतास्तु तेन।
पूज्येष्वथाऽमानवता जनेन समुत्थसामा नवताऽप्यनेन।। 12।।

–वीरो.सर्ग.17।

इस श्लोक में प्रथम चरण की आवृत्ति द्वितीय चरण में की गई है। अतः यहाँ 'मुख–यमक' है। इसी श्लोक के प्रथम चरण **का मध्य** भाग दूसरे चरणों के मध्य भाग में आवृत्त हुआ है। अतः यह **एक देशज** मध्य–यमक भी है।

3. श्लेष –

लक्षण –

वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद्भाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसावक्षरादिभिरष्टधा।।[9]

अर्थ का भेद होने पर भिन्नार्थक शब्द जब मिलकर एक हो जाते हैं तब वह **श्लेष** कहलाता है।

चन्द्रप्रभं नौमि यदंगसारस्तं कौमुदस्तोममुरीचकार।
मुखञ्जनः संलभते प्रणश्यत्तमस्तयाऽऽत्मीयपदं समस्य।। 3।।

–वीरो.सर्ग.1।

इस पद्य में **'कौमुदस्तोम'** शब्द में श्लेष है। उक्त पद को विभक्त करने पर कौ अर्थात् पृथ्वी पर मुदस्तोम अर्थात् हर्षातिरेक हो गया है। द्वितीय चन्द्रपक्ष में "कुमुदानां समूहः कौमुदः"– ऐसा समास करने पर चाँदनी श्वेत कमलों के समूह को विकसित कर रही है ऐसा उभयकोटिक अर्थ निकल रहा है। शीतकाल के वर्णन में श्लेष की छटा का एक और उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है–

शाखिषु विपल्लवत्वमथेतत् संकुचितत्वं खलु मित्रेऽतः।
शैत्युमुपेत्य सदाचरणेषु कलहमिते द्विजगणेऽत्र मे शुक्।। 43।।

–वीरो.सर्ग.9।

इस श्लोक के दो अर्थ हैं। एक शीतकाल के पक्ष में और दूसरा आपत्काल के पक्ष में। श्लोक का एक अर्थ इस प्रकार है– शीतकाल को पाकर वृक्षों का पत्तों से रहित हो जाना, दिन का छोटा होना, पैरों का ठिठुरना और दाँतों का किटकिटाना मेरे लिए शोक का कारण है। श्लोक का दूसरा अर्थ है – "कुटुम्बीजनों का विपत्ति–ग्रस्त होना, मित्र का संकुचित एवं उदासीनतामय व्यवहार, सदाचरण में शैथिल्य और ब्राह्मणों में कलह होना मेरे लिए शोचनीय है।

अर्थालंकार – अर्थ में सौन्दर्य होने से कुछ अलंकार अर्थालंकार कहलाते हैं।

4. उपमा

अर्थालंकारों में प्रधान उपमा अलंकार है। उपमा, अलंकारों में सम्राज्ञी है। उसके सग्राज्ञी पद को मुनि ज्ञानसागर ने अत्यधिक सम्मान दिया है। प्राकृतिक पदार्थों, नगरों और ऋतु–वर्णन में उन्होंने इसका खूब प्रयोग किया है।

आचार्य मम्मट के अनुसार – 'साधर्म्यमुपमा भेदे'। उपमान व उपमेय का भेद होने पर उनके साधर्म्य का वर्णन **उपमा** कहलाता है। रानी प्रियकारिणी के वर्णन में मालोपमा का एक उदाहरण –

'दयेव धर्मस्य महानुभावा क्षान्तिस्तथाऽभूत्तपसः सदा वा।
पुण्यस्य कल्याणपरम्परेवाऽसौ तत्पदाधीन समर्थ सेवा।। 16।।

–वीरो.सर्ग.3।

उदार भावों वाली वह रानी धर्म की दया के समान, तप की क्षमा के समान, पुण्य की कल्याण परम्परा के समान राजा के चरणों में रहती हुई सदा ही उसकी पूर्ण सामर्थ्य से सेवा करती थी।

प्रस्तुत श्लोक में दया, क्षमा, कल्याण परम्परा रानी के उपमान रूप में प्रस्तुत हैं। तप, धर्म, पुण्य उपमेय हैं, इव शब्द उपमा का वाचक है। "तत्पदाधीन समर्थ सेवा" साधारण धर्म है।

5. रूपक – आचार्य मम्मट ने नवम उल्लास में रूपक की परिभाषा देते हुए कहा है – जहाँ उपमेय का निषेध न कर उपमान के साथ सादृश्यातिशय के प्रभाव से तादात्म्य दिखाया जाता है। उपमान–उपमेय में अभेदारोप किया जाता है, वहाँ **रूपक अलंकार** होता है –

लक्षण – 'तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः'।

उदाहरण

यत्कृष्णवर्त्मत्वमृते प्रतापवह्निं सदाऽमुष्य जनोऽभ्यवाप।
ततोऽनुमात्वं प्रति चादभुतत्वं लोकस्य नो किन्तु वितर्कसत्त्वम्।। 6।।

–वीरो.सर्ग.3।

कवि ने राजा के प्रताप को अग्नि कहा है। उपमेय व उपमान में तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित किया है। अतः यहाँ रूपक अलंकार है। वसन्त–ऋतु के वर्णन में रूपक का एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है–

मुकुलपाणिपुटेन रजोऽब्जिनी दृशि ददाति रूचाम्बुजजिद्दृशाम्।
स्थलपयोजवने स्मरधूर्त्तराड् ढरति तद्धृदयद्रविणं रसात्।। 34।।

–वीरो.सर्ग.6।

गुलाब और कमल के पुष्पों वाले उस वन में अपनी शोभा से कमल को जीतने वाली स्त्रियों के नेत्रों में अपने मुकुलित हस्त के दोने से कमलिनी पुष्प–पराग रूपी धूल डाल रही है और कामदेव रूपी धूर्त्तराज अवसर पाते ही उनके हृदय–रूपी धन को चुरा रहा है।

प्रस्तुत श्लोक में मुकुलपट, पराग, कामदेव और हृदय का क्रमशः हाथ के दोने, धूल, धूर्त्तराज और धन से अभेद स्थापित किया गया है। इसलिए यहाँ रूपक अलंकार है।

6. उत्प्रेक्षा – कवि नें महाकाव्य में उत्प्रेक्षा अलंकार को व्यापक स्थान दिया है।

आचार्य मम्मट के अनुसार

लक्षण – 'संभावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्।'

उपमेय की उपमान के साथ एक रूपता की सम्भावना **उत्प्रेक्षा अलंकार** कहलाती है। राजा सिद्धार्थ की समृद्धिशीलता और यशस्विता के सम्बन्ध में कवि की उत्प्रेक्षा इस प्रकार है।

हे तात! जानूचितलम्बबाहो र्नाङ्गविमुञ्चेत्तनुजा तवाहो।
संभास्वपीत्थं गदितुं नृपस्य कीर्तिः समुद्रान्तमवाप तस्य।। 11।।

–वीरो.सर्ग.3।

समुद्र को सम्बोधित करते हुए कवि कहते हैं कि तुम्हारी पुत्री लक्ष्मी घुटनों तक लम्बी भुजाओं वाले राजा सिद्धार्थ के शरीर का आलिंगन करना सभाओं में भी नहीं छोड़ती। उसके इसी व्यवहार को बताने के लिए

ही मानों उस राजा की कीर्ति समुद्र तक पहुँच गई है अर्थात् सिद्धार्थ का यश समुद्र तक फैल गया है। इसलिए कवि ने उक्त उत्प्रेक्षा की है।

रसैर्जगत्प्लावयितुं क्षणेन सूत्कण्ठितोऽयं मुदिरस्वनेन।
तनोति नृत्यं मृदु–मञ्जुलापीं मृदङ्गनिःस्वानजिता कलापि।। 9।।

–वीरो.सर्ग.4।

रसों से जगत् को एक क्षण में आप्लावित करने के लिए ही मानों मृदंग की ध्वनि को जीतने वाले मेघों के गर्जन से अति उत्कंठित और मृदु मञ्जुल शब्द करने वाला इस कलापी (मयूर) के द्वारा नृत्य किया जाता है।

यहाँ वर्षाकाल की नाटक–घर के रूप में सम्भावना की गई है; क्योंकि इस समय मेघों का गर्जन तो मृदंगों की ध्वनि को गृहण कर लेता है और उसे सुनकर प्रसन्न हो मयूरगण नृत्य करते हुए सरस

संगीत रूप मिष्ट बोली का विस्तार करते हैं। वर्षा–ऋतु के वर्णन में भी कवि की उत्प्रेक्षा देखिये –

वसुन्धरायास्तनयान् विपद्य नियन्तिमारात्खरकालमद्य।
शम्पाप्रदीपैः परिणामवार्द्राग्विलोकयन्त्यम्बुमुचोऽन्तरार्द्राः।। 11।।

–वीरो.सर्ग.4

7. दृष्टान्त –

लक्षण – 'दृष्टान्तः पुरनेतेषां सर्वेषां प्रतिबिम्बनम्'

जहाँ उपमानोपमेय में विद्यमान साधारण धर्म का दो वाक्यों में बिम्ब–प्रतिबिम्ब–भाव रूप से वर्णन हो, वहाँ दृष्टान्त–अलंकार होता है।

उदाहरण –

प्रभोरभूत्सम्प्रति दिव्यबोधः विद्याऽवशिष्टा कथमस्त्वतोऽथं।
कलाधरे तिष्ठति तारकाणां ततिः स्वतो व्योम्नि धृतप्रमाणा।। 49।।

–वीरो.सर्ग.12।

भगवान को जब दिव्यबोधि प्राप्त हो गया तो संसार की समस्त विधाओं में से कोई भी विद्या अवशिष्ट कैसे रह सकती थी ? आकाश में कलाधर (चन्द्र) के रहते हुये ताराओं की पंक्ति तो स्वतः ही अपने परिवार के साथ उदित हो जाती है।

8. अतिशयोक्ति –

लक्षण –

निगीर्याध्यवसानन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्वं यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्।।
कार्य – कारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्ययः।
विज्ञेयाऽतिशयोक्तिः सा।।

उपमान के द्वारा उपमय का निगीरण करके अध्यवसान करना/प्रस्तुत अर्थ का अन्य रूप से वर्णन करना/यदि के समानार्थक शब्द लगाकर कल्पना करना,/,कार्य–कारण के पौर्वापर्य का विपर्यय करना **अतिशयोक्ति अलंकार** है।

उदाहरण

मेरोर्यदौद्धत्यमिता नितम्बे फुल्लत्वमब्जादथवाऽऽस्यबिम्बे।
गाम्भीर्यमब्धेरूत नाभिकायां श्रोणौ विशालत्वमथो धराया।। 22।।

–वीरो.सर्ग. 3।

उस रानी ने अपने नितम्ब भाग में सुमेरू की उद्धतता को, मुख–बिम्ब में कमल की प्रफुल्लता को, नाभि में समुद्र की गम्भीरता को और श्रोणिभाग में पृथ्वी की विशालता को धारण किया था।

9. अर्थान्तरन्यास –

लक्षण– सामान्यं वा विशेषो वा तदन्येन समर्थ्यते।
यत्तु सोऽर्थान्तरन्यासः साधर्म्येणेतरेण वा।।[10]

सामान्य अथवा विशेष का उससे भिन्न के द्वारा जो समर्थन किया

जाता है वह अर्थान्तरन्यास साधर्म्य व वैधर्म्य से दो प्रकार का होता है। आचार्य श्री ज्ञानसागर की किसी भी स्तुति में **अर्थान्तरन्यास** अलंकार की छटा परिलक्षित होती है –

उदाहरण –

न चातकीनां प्रहरेत् पिपासां पयोदमाला किमु जन्मना सा।
युष्माकमाशंकितमुद्धरेयं तर्के रूचिं किन्न समुद्धरेयम्।। 22।।

–वीरो.सर्ग.5।

यदि मेघमाला प्यास से व्याकुल चातकियों की प्यास नहीं बुझाती है तो उसके जन्म से क्या लाभ? तुम सबकी आशंकाओं को मैं क्यों न समाप्त करूँ और तर्क में रूचि क्यों न धारण करूँ ?

प्रस्तुत पद्य की प्रथम पंक्ति में समान्य बात कही गई है। उसका समर्थन द्वितीय पंक्ति के विशेष कथन से किया गया है। अतः यहाँ **अर्थान्तरन्यास अलंकार** है।

वीर प्रभु की माता की गर्भकालीन शारीरिक अवस्था का वर्णन करने वाला एक उदाहरण है–

कवित्ववृत्येत्युदितो न जातु विकार आसीज्जिनराजमातुः।
स्याद्दीपिकायां मरूतोऽधिकारः क्व–विद्युतः किन्तु तथातिचारः।। 11।।

–वीरो.सर्ग.6।

यहाँ ऊपर की पंक्ति रूप विशेष का नीचे की पंक्ति रूप सामान्य से समर्थन किये जाने के कारण अर्थातरन्यास है।

10. समासोक्ति –

लक्षण – 'परोक्तिर्भेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः।।'[11]

जहाँ समान विशेषांकों, समान कार्यों और समान लिंग से उपमेय से अन्य अर्थात् अप्रस्तुत अर्थ अभिव्यक्त होता है वह संक्षेप में उक्ति अर्थात् **समासोक्ति** कही गयी है –

उदाहरण

श्लोकन्तु लोकोपकृतौ विधातुं पत्राणि वर्षा कलमं च लातुम्।
विशारदाऽम्यारभते विचारिन् भूयो भवन् वार्दल आशुकारी।। 13।।

–वीरो.सर्ग.4।

जैसे कोई विशारदा (विदुषी) स्त्री लोकोपकार के हेतु श्लोक की रचना करने के लिये पत्र, मसिपात्र और कलम लाने के लिए उद्यत होती है, उसी प्रकार यह विशारदा अर्थात् शरद ऋतु से रहित वर्षा ऋतुलोकोपकार के लिए मानों श्लोक रचने को वृक्षों के पत्र रूपी कागज, बादल रूपी दवात और धान्य रूप कलम को अपना रही है। पुनः हे विचारशील मित्र! उक्त कार्य को सम्पन्न करने के लिए यह बादल बार–बार शीघ्रता कर रहा है। "आशु" नाम नाना प्रकार के धान्यों का भी है, सो यह मेघ जल–वर्षा करके धान्यों को शीघ्र उत्पन्न कर रहा है। उक्त पद्य में कहा तो गया है विशारदा स्त्री के सम्बन्ध में, किन्तु अर्थ अभिव्यक्त हो रहा है वर्षा–ऋतु सम्बन्धी। अतः यहाँ **समासोक्ति** है।

11. काव्यलिंग

लक्षण – 'काव्यलिंग हेतोर्वाक्यपदार्थता।[12]

जहाँ कोई बात कही जाये और उसका हेतु उपस्थित किया जाये वहाँ काव्यलिंग होता है।

उदाहरण

अन्येऽपि बहवो जाताः कुमारश्रमणा नराः।
सर्वेष्वपि जयेष्वग–गतः कामजयो यतः।। 41।।

–वीरो.सर्ग.8।

अन्य भी बहुत से मनुष्य कुमार श्रमण हुए हैं अर्थात विवाह न करके कुमार–काल में दीक्षित हुए हैं क्योंकि सभी विजयों में काम पर विजय पाना अग्रगण्य है।

12. अपह्नुति

लक्षण –'प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः।'

अर्थ – जहाँ उपमेय का निषेध कर उपमान की स्थापना की जाती है, वहाँ अपह्नुति अलंकार होता है। वीरोदय में आचार्यश्री ने शरत्कालीन आकाश–वर्णन में अपह्नुति का सुन्दर प्रयोग किया है।

उदाहरण –

तारापदेशान्मणिमुष्ठि नारात्प्रतारयन्ती विगताधिकारा।
सोमं शरत्सम्मुखमीक्षमाणा रूषेव वर्षा तु कृतप्रयाणा।। 9।।

–वीरो.सर्ग.21।

चन्द्रमा को शरद–ऋतु के सम्मुख देखती हुई अपने अधिकार से वंचित वर्षा–ऋतु मानों रूष्ट होकर तारों के बहाने से मुट्ठी में भरी हुई मणियों को फेंक कर प्रतारणा करती हुई चली गई।

वर्षाकाल में आकाश मेघों से ढ़का रहता है तब चन्द्रमा और तारे दिखाई नहीं देते। शरदकाल में आकाश स्वच्छ हो जाने से चन्द्रमा, तारे दिखाई देने लगते हैं। कवि ने इसी प्रस्तुत बात का निषेध कर इस अप्रस्तुत बात का विधान किया है कि पहले चन्द्रमा वर्षा के अधिकार में था और तारे उसकी मुट्ठी में थे किन्तु शरत्काल आने पर चन्द्रमा इसके अधिकार में नहीं रहा। तब क्रोध में आकर तारों के बहाने से मुट्ठी में भरी मणियों को भी उसने फेंक दिया। यहाँ पर तारों के स्थान पर मणियों का स्थापन होने से **अपह्नुति अलंकार** है।

13. एकावली अलंकार –

लक्षण –

स्थाप्यतेऽपोह्यते वापि यथापूर्वं परं परम्।
विशेषणतया यत्र वस्तु सैकावली द्विधा।।[14]

जहाँ पूर्व वस्तु के प्रति उत्तर वस्तु विशेषण रूप से रखी जाए अथवा हटायी जाय वहाँ **एकावली** अलंकार होता है। वह दो प्रकार का

होता है। द्वितीय का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है –

नासौ नरो यो न विभाति भोगी भोगोऽपि नासौ न वृषप्रयोगी।
वृषो न सोऽसख्य–समर्थितः स्यात्सख्यं च तन्नात्र कदापि न स्यात्।। 38।।

–वीरो.सर्ग.2।

उस कुण्डनपुर में ऐसा कोई मनुष्य नहीं था, जो भोगी न हो और वहाँ कोई ऐसा भोग नहीं था, जो कि धर्म संप्रयोगी अर्थात् धर्मानुकूल न हो, वहाँ ऐसा कोई धर्म नहीं था, जो कि असख्य (शत्रुता) समर्पित अर्थात् शत्रुता पैदा करने वाला हो और ऐसी कोई मित्रता न थी, जो कि कदाचित्क हो अर्थात् स्थायी न हो।

14. भ्रान्तिमान् – जब किसी वस्तु में समता के कारण अन्य वस्तु की भ्रान्ति कवि प्रतिभा के द्वारा समुत्पन्न होती है तो वहाँ **भ्रान्तिमान्** अलंकार होता है –

लक्षण – 'भ्रान्तिमानन्य संवित् तत्तुल्यदर्शने'।15

उदाहरण –

यत्खातिकावारिणि वारणानां लसन्ति शंकामनुसन्दधानाः।
शनैश्चरन्तः प्रतिमावतारान्निनादिनो वारिमुचोऽप्युदाता।। 30।।

–वीरो.सर्ग.2।

उदार, गर्जना युक्त एवं धीरे–धीरे जाते हुए मेघ नगर की खाई के जल में प्रतिबिम्बत अपने रूप से हाथियों की शंका को उत्पन्न करते हुए शोभित होते हैं। यहाँ खाई के जल में प्रतिबिम्बत मेघों में हाथी की भ्रान्ति हो रही है।

15. सन्देह –

लक्षण – 'ससन्देहस्तु भेदोक्तौ तदनुक्तौ च संशयः'।[16]

जब उपमेय में उपमान का संशय उत्पन्न किया जाता है, तब **सन्देह अलंकार** होता है।

उदाहरण –

गत्वा प्रतोलीशिखराग्रलग्नेन्दुकान्त निर्यज्जलमापिपासुः।
भीतोऽथ तत्रोल्लिखितान्मृगेन्द्रादिन्दोर्मृगः प्रत्यपयात्यथाऽऽशु।। 34।।

–वीरो.सर्ग.2।

जिनालयों की प्रतोली (द्वार के ऊपरी भाग) के शिखर के अग्रभाग पर लगे चन्द्रकान्तिमणियों से निकलते हुए जल को पीने का इच्छुक चन्द्रमा का मृग वहाँ जाकर और वहाँ पर उल्लिखित (उत्कीर्ण, चित्रित) अपने शत्रु मृगराज (सिंह) को देखकर भयभीत हो तुरन्त ही वापिस लौट आता है।

यहाँ पर चित्रित सिंह में यथार्थ सिंह का संशय होने के कारण **संदेह अलंकार** है।

16. विरोधाभास – जहाँ विरोध जैसा प्रतिभासित तो हो; किन्तु यथार्थ में विरोध न हो, वहाँ **विरोधाभास अलंकार** होता है।

लक्षण – विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरूद्धत्वेन यद्वचः।[17]

उदाहण –

नरपो वृषभावमाप्तवान् महिषीयं पुरनेतकस्य वा।
अनयोरविकारिणी क्रिया समभूत्सा द्यु सदामहो प्रिया।। 36।।

–वीरो.सर्ग.3।

यह सिद्धार्थ राजा वृषभाव (बैलपने) को प्राप्त हुआ और इसकी रानी महिषी (भैंस) हुई पर यह तो विरूद्ध है कि बैल की स्त्री भैंस हो। अतः परिहार यह है कि राजा तो परम धार्मिक था और प्रियकारिणी उसकी पट्टरानी बनी। इन दोनों राजा–रानी की क्रिया अवि (भेड़) को उत्पन्न करने वाली हो, पर यह कैसे सम्भव है। उसका परिहार है कि उसकी मनोविनोद आदि सभी क्रियाएं विकाररहित थीं। वह रानी मानुषी होकर भी देवों की प्रिया (स्त्री) थी। यह भी संभव नहीं है। इसका परिहार है कि वह अपने गुणों द्वारा देवों को भी अत्यन्त प्यारी थी।

वभूव कस्यैव बलेन युक्तश्च नाऽधुनासौ कवले नियुक्तः।
सुरक्षणोऽसावसुरक्षणोऽपि जनैरमानीति वधैकलोपी।। 48।।

–वीरो.सर्ग.12।

भगवान उस समय कबल अर्थात् आत्मा के बल से तो युक्त हुए, किन्तु कवल अर्थात् अन्न के पास से संयुक्त नहीं हुए अर्थात् केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् भगवान कवलाहार से रहित हो गये। फिर भी वे निर्बल नहीं हुए। प्रत्युत आत्मिक अनन्त बल से युक्त हो गए। वे सुरक्षित होते हुए भी असुरक्षित थे। यह विरोध है कि जो सुरों का क्षण (उत्सव–हर्ष) करने वाला हो, वह असुरों का हर्ष वर्द्धक कैसे हो सकता है ? इसका परिहार यह है कि वे देवों के हर्षवर्द्धक होते हुए भी असु–धारी (प्राणी) मात्र के भी पूर्ण रक्षक एवं हर्ष–वर्द्धक थे। इसीलिए लोगों ने उन्हें वध (हिंसा) मात्र का लोप करने वाला और पूर्ण अहिंसक माना।

यहाँ विरोध जैसा प्रतिभासित हो रहा है पर यथार्थ में विरोध नहीं है। ये विरोधाभास अलंकार है।

17. परिसंख्या अलंकार

जब पूँछी या बिना पूँछी कही गयी बात उसी प्रकार की अन्य वस्तु के निषेध में पर्यवसित होती है, तो वहाँ **परिसंख्या अलंकार** होता है।

लक्षण – किंच पृष्टमपृष्टं वा कथितं यत्प्रकल्पते।
तादृगन्यव्यपोहाय परिसंख्या तु सा स्मृता।।[18]

आचार्यश्री ने कुण्डनपुर, चम्पापुर और चक्रपुर नगरों की समृद्धि का वर्णन करते समय इस

अलंकार का प्रयोग किया है। कुण्डनपुर के वर्णन में परिसंख्या का प्रयोग इस प्रकार है –

उदाहरण

काठिन्यं कुचमण्लेऽथ सुमुखे दोषाकरत्वं परं।
वक्रत्वं मृदुकुन्तलेषु कृशता वालावलग्नेष्वरम्।।

उर्वोरेव विलोमताऽप्यधरता दन्तच्छदे केवलं।
शंखत्वं निगले दृशोश्चपलता नान्यत्र तेषां दलम्।। 48।।
वामानां सुबलित्रये विषमता शैथिल्यमङ्घ्रावुता–
प्यौद्धत्यं सुदृशां नितम्बवलये नाभ्यण्डके नीचता।।
शब्देष्वेव निपातनाम यमिनामक्षेषु वा निग्रह–
श्चिन्ता योगिकुलेषु पौण्ड्रनिचये सम्पीडनं चाह ह।। 49।।

–वीरो.सर्ग.2।

उस नगर में कठिनता केवल स्त्रियों के स्तनमण्डल में ही दृष्टिगोचर होती है। दोषाकरता (चन्द्रतुल्यता) स्त्रियों के सुन्दर मुख में ही दिखती है। वक्रता उनके सुन्दर बालों में ही है। कृशता केवल स्त्रियों के कटिप्रदेश में ही है। विलोमता स्त्रियों की जंघाओं में ही है। अधरता केवल ओठों में ही है। शंखपना कण्ठ में ही है और चपलता दृष्टि में ही है। विषमता स्त्रियों की त्रिवली में ही है। गहराई नाभि मण्डल में ही है। निपात शब्दों में है। संयमी व्यक्ति ही इन्द्रिय–निग्रह करते हैं। योगी–समूह ही चिन्तन करता है। सम्पीड़न पौण्ड्रसमूह में ही है। व्यक्ति एक दूसरे को पीड़ा नहीं पहुँचाते हैं।

18. संसृष्टि अलंकार

लक्षण – 'सेष्टा संसृष्टिरेतेषां भेदेन यदिह स्थितिः'।[19]

काव्य में दो या अधिक अलंकारों के भेद से जो स्थिति है वह **संसृष्टि** कही गई है।

आचार्यश्री ने अनुप्रास अलंकार का बहुत प्रयोग किया है। अनुप्रास के साथ ही साथ अन्य अलंकार भी निरपेक्ष रूप से स्थित हैं। जैसे –

मृगीदृशश्चापलता स्वयं या स्मरेण सा चापलताऽपि रम्या।
मनोजहारांगभृतः क्षणेन मनोजहाराऽथ निजक्षणेन।। 25।।

–वीरो.सर्ग.3।

प्रस्तुत श्लोक में अन्त्यानुप्रास और यमक की संसृष्टि स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है।

19. संकर अलंकार –

लक्षण – 'अविश्रान्तिजुषामात्मन्यंगांगित्वं तु संकरः'।[20]

अपने स्वरूप मात्र में जिसकी विश्रान्ति न हो, उनका अंगांगिभाव होने पर संकर अलंकार होता है। वीरोदय में आचार्यश्री ने अलंकारों का साक्षेप प्रयोग किया है, जो **संकर अलंकार** कहलाते हैं।

उदाहरण –

वाणिक्पथस्तूपितरत्नजूटा हरि–प्रियाया इव केलिकूटाः।
बहिष्कृतां सन्ति तमां हसन्तस्तत्राऽऽपदं चाऽऽपदमुल्लसन्तः।। 18।।

–वीरो.सर्ग.2।

विदेह देश के नगरों में बाजारों की दुकान के बाहर थोड़ी–थोड़ी दूर पर रत्नों के स्तूपाकार ढ़ेर लगाये गये थे, जो ऐसे प्रतीत होते थे मानों बहिष्कृत आपदाओं का उपहास–सा करते हुए लक्ष्मी के क्रीड़ा–पर्वत हैं। प्रस्तुत श्लोक में स्तूपाकार रत्न के ढ़ेरों की उपमा लक्ष्मी के क्रीड़ा पर्वतों से की गई है। इसके साथ ही यहाँ क्रियोत्प्रेक्षा भी है। यह उत्प्रेक्षा की सहायिका है। अतः परस्पर अंगांगिभाव होने से यहाँ **संकर अलंकार** है।

चित्रालंकार

आचार्य श्री ज्ञानसागर जी ने अपने काव्यों में शब्दालंकार व अर्थालंकारों के अलावा चित्रालंकार भी प्रयुक्त किये हैं। वीरोदय में भी उन्होंने गोमूत्रिका बन्ध, यानबन्ध, पद्मबन्ध, तालवृत्तबन्ध चित्रालंकारों का प्रयोग किया है।

1. गोमूत्रिकाबन्ध

रमयन् गमयत्वेष वाङ्मये समयं मनः।
नमनागनयं द्वेष–धाम व समयं जनः।। 37।।

–वीरो.सर्ग.22।

गोमूत्रिकाबन्ध बनाने की विधि यह कि उसमें श्लोक की प्रथम पंक्ति में पहले, तीसरे, पाँचवें सातवें, नवें इत्यादि विषम अक्षरों को रखा जाता है और दोनों पंक्तियों के बीच दूसरे, चौथे, छठे, आठवें इत्यादि सम

अक्षरों को क्रमशः द्वितीय पंक्ति में रखा जाता है। अर्थात् श्लोक का एक अक्षर लेकर, एक अक्षर छोड़ा जाता है। लिये हुये अक्षर से प्रथम व तृतीय पंक्ति बन जाती है और छोड़े हुए अक्षरों से द्वितीय पंक्ति बन जाती है। इस बन्ध में लिखित श्लोक की विशेषता यह होती है कि दूसरे चौथे आदि सम अक्षर दोनों पंक्तियों में एक ही होते हैं। अतः इस श्लोक को पढ़ते समय एक अक्षर तृतीय पंक्ति का और एक अक्षर द्वितीय पंक्ति का लेना होता है।

2. तालवृन्तबन्ध

सन्तः सदा समा भान्ति मर्जूमति नुतिप्रिया।
अयि त्वयि महावीर! स्फीतां कुरू मर्जू भयि।। 40।।

–वीरो.सर्ग 22।

इस बन्ध में श्लोक को क्रमशः दण्ड में स्थित करते हुए दण्ड और तालवृन्त की सन्धि में ले जाते हैं। तत्पश्चात् तालवृन्त में घुमाया जाता है जैसा कि उपर्युक्त श्लोक में है।

3. पद्मबन्ध

विनियेन मानहीनं विनष्टैनः पुनस्तु नः।
मुनये नमनस्थानं ज्ञानध्यानधनं मनः।। 38।।

–वीरो.सर्ग. 22।

कमल में पंखुड़ियाँ और पराग ये दो वस्तुएँ विद्यमान होती हैं। अतः पद्मबन्ध की रचना में एक अक्षर बीच में पराग के रूप में और शेष अक्षर पंखुड़ियों के रूप में विद्यमान रहते हैं। उपर्युक्त श्लोक में 'न' अक्षर पराग रूप में स्थित है शेष अक्षर अनुलोम प्रतिलोम विधि से पढ़े जाते हैं अर्थात् पंखुड़ी से मध्य में और मध्य से पंखुड़ी में पढ़ा जाता है।

यान बन्ध –

नमनोद्यमि देवेभ्योऽर्हद्भ्यः संव्रजतां सदा।
दासतां जनमात्रस्य भवेदप्यद्य नो मनः।। 38।।

–वीरो.सर्ग.22।

इसमें श्लोक को वितान और मण्डप में लिखने के पश्चात् स्तम्भों और मंच में लिखा जाता है। इसके प्रथम दो चरण मण्डप और वितान में है। तत्पश्चात् तृतीय चरण दाहिने स्तम्भ से मंच की ओर गया है। चतुर्थ चरण मंच से होता हुआ बायें स्तम्भ में लिखा गया है।

वीरोदय महाकाव्य में आचार्य श्री ने अनुप्रास, यमक, श्लेष, उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि अलंकारों के प्रयोग में अपनी काव्य–प्रतिभा का अनूठा परिचय दिया है। वसन्त, शरद तथा वर्षा–ऋतु के प्राकृतिक सौन्दर्य निरूपण में अपह्नुति अलंकार का प्रयोग कवि की श्लाघनीय लेखनी का प्रतिफल है।

रसानुभूति

रसात्मकता काव्य का प्राण है। रसानुभूति के माध्यम से ही सामाजिकों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश हृदयंगम कराया जाता है। इसीलिए कान्ता–सम्मित उपदेश को काव्य का प्रमुख प्रयोजन माना गया है। वीरोदयकार इस तथ्य से पूरी तरह अवगत थे। इसलिए उन्होंने अपने काव्य में श्रृँगार से लेकर शान्त तक सभी रसों की मनोहारी व्यंजना की है। 'रस–शब्द' की प्राचीनता वेदों से उपलब्ध है। लौकिक रस एवं काव्य जगत के रस में महान भेद है तो भी वेद में रस शब्द का उल्लेख सोमरस के अर्थ में किया गया है।

'दधानः कलशे रसम् ऋग्वेद' 9/63/12

वैदिक साहित्य में काव्य जगत में प्रकाशमान रस का भी स्थान है। यहाँ वह आनन्दार्थ में भी अभिव्यक्त है। वैदिक–साहित्य में रस–भावादि शब्दों का यद्यपि उल्लेख अवश्य है तथापि साहित्यिक सम्प्रदाय में इसके स्वरूप आदि के निर्णय का श्रेय सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र प्रणेता आचार्य भरत–मुनि को ही है। नाट्य–शास्त्र के छठे–सातवें अध्याय में रस का वितृत विवेचन है। इसकी निष्पत्ति के सम्बन्ध में भरत मुनि का सूत्र इस प्रकार है –

'विभावानुभाव–व्यभिचारिसंयोगाद्रस–निष्पत्तिः'।[21]

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

भारतीय काव्य–शास्त्र में रस का महत्त्व बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा है, क्योंकि उपनिषदों में **'रसो वयसः'** कहकर रस को ब्रह्मानन्द सहोदर या अलौकिक आनन्द के रूप में संकेत किया गया है। महर्षि बाल्मीकि ने बाल्मीकि रामायण में कहा है –

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वती सभाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।

ऐसा कहकर रस का संकेत दिया है। भरत ने नाट्य–शास्त्र में रस का विवेचन बृहद् रूप में किया है। इसीलिए भरत मुनि को रस का आद्य आचार्य माना गया है। उन्होंने आस्वाद को ही **रस** माना है। **'आस्वादेव रसः'**।

आचार्य मम्मट ने **'रसस्यते इति रसः'** "जिसका आस्वादन किया जा सके वह **रस** है।" ऐसा मानते हुए लोक में जो कारण, कार्य और सहकारी कारण होते हैं वे ही जब नाटक और काव्य में रति आदि स्थायी भाव के होते हैं, तब उन्हें विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव कहते हैं तथा उनसे व्यक्त होने वाला स्थाई भाव ही रस कहलाता है। साहित्य दर्पणकार **विश्वनाथ** ने रस का लक्षण इस प्रकार कहा है –

विभावेनानुभावेन व्यक्तः सञ्चारिणा तथा।
रसतामेति रत्यादिः स्थायिभावः सचेतसाम्।। 3/1।

सहृदय के हृदय में वासनारूप में स्थित रति आदि **स्थायी** भाव काव्य में वर्णित विभाव, अनुभाव एवं व्यभिचारी भावों द्वारा उद्बुद्ध होकर आनन्दात्मक अनुभूति में परिणत हो जाता है उसे ही **'रस'** कहते हैं। अर्थात् विभावादि के द्वारा व्यक्त हुआ सहृदय सामाजिक का **स्थायीभाव** ही आनन्दात्मक अनुभूति में परिणत हो जाने के कारण **रस** कहलाता है। इस प्रकार काव्यगत और नाट्यगत विभावादि तथा सामाजिक का **स्थायीभाव** रस सामग्री है। सामाजिक का स्थायी भाव रस का उपादान कारण है,

काव्य–नाट्य में वर्णित विभावादि निमित्त कारण है। इसके स्वरूप को समझने के लिए विभावादि के स्वरूप को समझना आवश्यक है।

विभाव

रसानुभूति के कारणों को विभाव कहते हैं। ये दो प्रकार के होते हैं – एक **आलम्बन–विभाव** और दूसरा **उद्दीपन–विभाव**। जिसको आलम्बन करके रस की उत्पत्ति होती है उसको **'आलम्बन–विभाव'** कहते हैं। जैसे सीता को देखकर राम के मन में और राम को देखकर सीता के मन में रति की उत्पत्ति होती है और उन दोनों को देखकर सामाजिक के भीतर रस की अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए सीता राम आदि श्रृँगार रस के **आलम्बन विभाव** हैं। चाँदनी, उद्यान एकान्त आदि के द्वारा उस रति का उद्दीपन होता है। इसलिए उसे श्रृँगार रस का **'उद्दीपन' विभाव** कहा जाता है।[22]

अनुभाव

स्थायीभाव रसानुभूति का प्रयोजक अन्तरंग कारण है। आलम्बन व उद्दीपन विभाव उसके बाह्य कारण हैं। अनुभाव उस आन्तरिक रसानुभूति से उत्पन्न, उसकी बाह्याभिव्यक्ति के प्रायोजक शारीरिक व मानसिक व्यापार हैं। साहित्य–दर्पणकार के अनुसार अनुभाव का लक्षण इस प्रकार है –

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिभावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।। 3/32।

लोक में यथायोग्य कारणों से स्त्री–पुरूषों के हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले जो शारीरिक व्यापार होते हैं वे लोक में रत्यादि भावों के कार्य तथा काव्य–नाट्य में **अनुभाव** कहे जाते हैं। काव्य–नाट्य में इनकी अनुभाव संज्ञा इसीलिये की है कि वे विभावों द्वारा रसास्वादन रूप में अंकुरित किये गए सामाजिक आदि के स्थायीभाव को रस रूप में परिणत करने का अनुभवनरूप व्यापार करते हैं।

'अनुभावनमेवम्भूतस्य इत्यादिः समनन्तरमेव रसादि रूपतया भावनम्'[23]

1. चित्तारम्भक, जैसे हाव–भाव आदि।
2. गात्रारम्भक, जैसे लीला, विलास–विच्छिति आदि।
3. वागारम्भक, जैसे आलाप, विलाप, संलाप आदि।
4. बुद्ध्यारम्भक, जैसे रीति, वृत्ति आदि।

व्यभिचारी भाव

लोक में आलम्बन व उद्दीपन कारणों से रत्यादि भाव के उद्‌बुद्ध होने पर जो क्रीड़ा, चपलता, औत्सुक्य, हर्ष आदि भाव साथ में उत्पन्न होते हैं, उन्हें लोक में **सहकारी–भाव** तथा काव्य–नाट्य में **व्यभिचारी–भाव** कहते हैं। इनका दूसरा नाम **संचारी–भाव** भी है। काव्य या नाट्य में इनकी यह संज्ञा इसलिये है कि वे विभाव तथा अनुभावों द्वारा अंकुरित एवं पल्लवित सामाजिक के रत्यादि स्थायीभावों को सम्यक् रूप से पुष्ट करने का संचरण (व्यापार) करते हैं। भरतमुनि ने इनकी संख्या 33 कही है–

निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, क्रीड़ा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्त, विबोध, अमर्ष, अवहित्थ, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास व वितर्क।

स्थायीभाव

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारीभाव रस के निमित्त कारण हैं। स्थायीभाव उपादान कारण है। स्थायीभाव मन के भीतर स्थायी रूप से रहने वाला प्रसुप्त संस्कार है, जो अनुकूल आलम्बन तथा उद्दीपन रूप उद्‌बोधक सामग्री को प्राप्त कर अभिव्यक्त होता है और हृदय में अपूर्व आनन्द का संचार करता है। इस स्थायीभाव की अभिव्यक्ति ही रसास्वाद–जनक या रस्यमान होने से 'रस'–शब्द से बोध्य होती है। आठ प्रकार के स्थायीभाव साहित्य–शास्त्र में माने गये हैं। काव्य–प्रकाशकार ने इनकी गणना इस प्रकार की है –

रति हासश्च शोकाश्च क्रोधोत्साहो भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायीभावा प्रकीर्तिताः।।[24]

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा व विस्मय ये **आठ स्थायीभाव** कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त **निर्वेद को भी** नवमा स्थायीभाव माना गया है। काव्यप्रकाशकार ने लिखा है –

'निर्वेदस्थायी भावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः'[25]

इस प्रकार **नौ स्थायीभाव** व उनके श्रृँगार, हास्य, करूण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स अद्‌भुत व शान्त ये नौ ही रस माने गये हैं।

अंगरस

वीरोदय में प्रधान रस शान्तरस है जो इस महाकाव्य का अंगीरस है। इसके अतिरिक्त कुछ और रस भी इस महाकाव्य में हैं, जो शान्त रस की अपेक्षा अप्रधान है। इसीलिये वे रस शान्तरस के अंग– रस के रूप में उपस्थित हुए हैं। जैसे– हास्य रस, अद्‌भुत रस, वात्सल्य रस, श्रृँगार रस व करूण रस इत्यादि। शान्त रस का रंग कुन्द–पुष्प के समान श्वेत है अथवा चन्द्रमा के समान है, जो सात्विकता का द्योतक है।

पुरूषों को मोक्षरूप पुरूषार्थ की प्राप्ति कराने वाले श्री भगवान नारायण ही रस के देवता हैं। संसार की निःसारता, दुःखमयता और तत्त्वज्ञानादि इसके आलम्बन विभाव हैं। महर्षियों के आश्रम, भगवान के क्रीड़ाक्षेत्र, तीर्थस्थान, तपोवन, सत्संग आदि इसके उद्दीपन विभाव है। यम–नियम, यतिवेष का धारण करना, रोमाञ्च आदि इसके अनुभाव हैं। निर्वेद, स्मृति, धृति, स्तम्भ, जीवदया, मति, हर्ष आदि

इसके व्यभिचारीभाव हैं।

इस रस का का प्रादुर्भाव होने पर व्यक्ति में ईर्ष्या, द्वेष, ममत्व आदि भावों का सर्वथा अभाव हो जाता है। वह सुख–दुख से रहित एक विलक्षण ही आनन्द की प्राप्ति करता है। इसके अतिरिक्त श्रृँगार आदि सांसारिक रस हैं, किन्तु अलौकिक आनन्द की अनुभूति कराने वाले शान्त रस में हम सर्वश्रेष्ठ पुरूषार्थ मोक्ष की झलक देखते हैं। श्रृँगार को यदि रसराज की पदवी दी गई है तो इसे (शांत रस) रसाधिराज कहना चाहिये; क्योंकि इसके प्रादुर्भाव के समय अन्य सभी रसों की सत्ता **इसी में विलीन** हो जाती है।

किसी राज्य के संचालन में जो स्थिति सम्राट और सामन्तों की होती है। काव्यों में वही स्थिति प्रधानरस और सहायक रसों की होती है। प्रधानरस को ही अंगीरस कहा जाता है। अन्य सहायक रस इसके अंगरस होते हैं। उत्तम कवि यह प्रयास करते हैं कि उनके काव्य को पढ़कर पाठक एक रस का अच्छी प्रकार आनन्द उठा सके, इसलिए वे सहायक रसों को इस प्रकार उपस्थित करते हैं कि उनसे मिलने वाला आनन्द, अंगीरस से मिलने वाले आनन्द को कम न करे।

वीरोदय महाकाव्य आद्योपान्त शान्तरस प्रधान महाकाव्य है। शान्तरस के अतिरिक्त भी अन्य कुछ रसों के मिश्रित रूप का चित्रण भी प्रस्तुत काव्य में मिलता है।

धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चार पुरूषार्थों में से चतुर्थ पुरूषार्थ ही मानव–जीवन का साध्य है। धर्म, अर्थ व काम इन तीन पुरूषार्थों की पराकाष्ठा विषय–भोगों के प्रति विरक्ति उत्पन्न करती है और मनुष्य उन्हें विनाश–शील समझने लगता है। काव्यों की यह विशेषता है कि उनमें अंगीरस के रूप में शान्तरस का ही प्रयोग हुआ है; क्योंकि चतुर्थ पुरूषार्थ मोक्ष ही उनका साध्य है। भव्य पुरूष किसी निमित्त को पाकर वैराग्य को प्राप्त हो जाते हैं और तपश्चरण आदि के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

शान्तरस का प्रयोग

इस काव्य के नायक भगवान महावीर के हृदय में स्थित शम नामक स्थायीभाव विशिष्ट वातावरण में प्रबुद्ध होकर शान्तरस का रूप धारण करता है। क्षण–भंगुर संसार इस रस का **आलम्बन–विभाव** है। लोगों की स्वार्थपरता, धर्मान्धता, इत्यादि **उद्दीपन–विभाव** हैं। त्याग की इच्छा, तपश्चरण की ओर उन्मुख होना इत्यादि **अनुभाव** है। निर्वेद, स्मृति इत्यादि **व्यभिचारी भाव** हैं। वीरोदय महाकाव्य में शान्तरस के कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं –

(क) भगवान महावीर पिता के विवाह–प्रस्ताव का विरोध करते हुए समझाते हैं –

पुरापि श्रूयते पुत्री ब्राह्मी वा सुन्दरी पुरोः।
अनुचानत्वमापन्ना स्त्रीषु शस्यतमा मता।। 39।।
उपान्त्योऽपि जिनो बाल–ब्रह्मचारी जगन्मतः।
पाण्डवानां तथा भीष्म–पितामह इति श्रुतः।। 40।।
अन्येऽपि बहवो जाताः कुमारश्रमणा नराः।
सर्वेष्वपि जयेष्वग्र–गतः कामजयो यतः।। 41।।
राज्यमेतदनर्थाय कौरवाणामभूदहो।
तथा भरत–दोःशक्तयोः प्रपञ्चाय महात्मनोः।। 44।।
राज्यं भुवि स्थिरं क्वाऽऽसीत्प्रजायाः मनसीत्यतः।
शाश्वतं राज्यमध्येतु प्रयते पूर्णरूपतः।। 45।।

–वीरो.सर्ग.8।

इन पद्यों में जगत की निःसारता (आलम्बन) का वर्णन है। भीष्म पितामह, कौरव, बाहुबली के वृत्तान्त उद्दीपन विभाव हैं, मति रूप व्यभिचारी भाव है। अतः यहाँ शान्तरस की स्पष्ट अभिव्यंजना है। (ख) वीरोदय में इसका दूसरा उदाहरण वहाँ है जब भगवान महावीर विवाह के प्रस्ताव को अस्वीकार कर संसार की दीन–दशा का अवलोकन करते हैं –

स्वीयां पिपासां शमयेत् परासृजा क्षुधां परप्राणविपत्तिभिः प्रजा।
स्वचक्षुषा स्वार्थपरायणां स्थितिं निभालयामो जगतीदृशीमिति।। 3।।
अजेन माता परितुष्यतीति तन्निगद्यते धूर्तजनैः कदर्थितम्।
पिबेन्नु मातापि सुतस्य शोणितमहो निशायामपि अर्यमोदितः।। 4।।
जाया–सुतार्थं भुवि विस्फुरन्मनाः कुर्यादजायाः सुतसंहृतिं च ना।
किमुच्यतामीदृशि एवमार्यता स्ववाञ्छितार्थं स्विदनर्थकार्यता।। 5।।
स्वरोटिकां मोटयितुं हि शिक्षते जनोऽखिलः सम्वलयेऽधुना च ना।
न कश्चनाप्यन्यविचारतन्मना नृलोकमेषा ग्रसते हि पूतना।। 9।।

अहो पशूनां ध्रियते यतो बलिः श्मसानतामञ्चति देवतास्थली।
यमस्थली वाऽतुलरक्तरञ्जिता विभाति यस्याः सततं हि देहली।। 13।।
एकः सुरापानरतस्तथा वत पलंकषत्वात्कवरस्थली कृतम्।
केनोदरं कोऽपि परस्य योषितं स्वसात्करोतीतरकोणनिष्ठितः।। 14।।
कुतोऽपहारो द्रविणस्य दृश्यते तथोपहारः स्ववचः प्रपश्यते।
परं कलत्रं ह्रियतेऽन्यतो हटाद्विकीर्यते स्वोदरपूर्तये सटा।। 15।।

–वीरो.सर्ग.9।

आज लोग दूसरे के रक्त व मांस से अपनी पिपासा एवं क्षुधा को शान्त करना चाहते हैं। संसार में यही स्वार्थ–परायणता दृष्टिगोचर हो रही है। धूर्त लोगों का कहना है कि बकरे की बलि से जगदम्बा प्रसन्न होती है। यदि माता अपने ही पुत्र का खून पीने लगे, तो यह वैसा ही होगा जैसे रात्रि में सूर्य का उदय होना। स्वार्थी मनुष्य अपनी स्त्री के पुत्र के लोभ में बकरी के पुत्र का हनन कर रहा है।

संसार में जिसे देखो वही अपना स्वार्थ सिद्ध करने में लगा हुआ है। मन्दिरों की पवित्र भूमि पशुओं की बलि से शमशान की ही श्रेणी में पहुँच रही है। उन मन्दिरों की देहली रक्त से रंजित होकर यमलोक जैसी लग रही है।

1. हास्य रस

वीरोदय में हास्यरस का केवल एक उदाहरण मिलता है। देवगण भगवान महावीर के जन्माभिषेक हेतु कुण्डलपुर जा रहे थे। मार्ग में इन्द्र के ऐरावत हाथी ने सूर्य को कमल समझ कर अपनी सूँड से उठा लिया, पर उसकी अतिशय उष्णता का अनुभव कर सूँड को हिलाकर उसे छोड़ भी दिया। उसकी इस चेष्टा से देवगण हंसने लगे।

अरविन्दधिया दधद्रविं पुरनैरावण उष्णसच्छविम्।
धुतहस्ततयात्तमुत्यजन्ननयद्धास्यमहो सुरव्रजम्।। 10।।

–वीरो.सर्ग.7।

यहाँ देवगण हास्यरस के आश्रय हैं। ऐरावत हाथी आलम्बन–विभाव है। उसकी भ्रमपूर्ण चेष्टा उद्दीपन विभाव है।

2. अद्भुत रस – वीरोदय में अद्भुतरस का वर्णन दो स्थलों पर उपलब्ध होता है।

(क) भगवान महावीर के गर्भावतरण के पश्चात् आकाश में सूर्य को पराभूत करने वाला एक ऐसा प्रकाश पुन्ज दिखाई दिया, जिसे लोगों ने प्रश्न भरी दृष्टि से देखा –

अथाभवद् व्योम्नि महाप्रकाशः सूर्यातिशायी सहसा तदा सः।
किमेतदित्थं हृदि काकुभावः कुर्वन् जनानां प्रचलत्प्रभावः।। 1।।

–वीरो.सर्ग. 5।

यहाँ अद्भुत रस का आश्रय कुण्डनपुर का जनसमूह है। आकाश का प्रकाशपुंज आलम्बन विभाव है। उसकी अनायास उपस्थिति उद्दीपन विभाव है। कुतूहलपूर्वक देखना अनुभाव है। वितर्क और आवेग व्यभिचारी भाव हैं। अद्भुत रस की अनुपम छटा भगवान महावीर के समवशरण में उनकी दिव्य विभूति देखकर गौतम इन्द्रभूति के मन में होने वाले तर्क–वितर्क में दिखाई देती है।

चचाल दृष्टुं तदतिप्रसङ्गमित्येवमाश्चर्य परान्तरंग।
स प्राप देवस्य विमानभूमिं स्मयस्य चासीन्मतिमानभूमिः।। 27।।

–वीरो.सर्ग.13।

भगवान की दिव्य–विभूति के विषय में लोगों से सुनकर इन्द्रभूति विचारता है कि वेद–वेदांग का ज्ञाता होते हुए भी मुझे आज तक इस प्रकार की दिव्य विभूति नहीं मिली। इसके विपरीत वेद–शास्त्र–विहीन भगवान महावीर के पास यह सम्पूर्ण विभूति है। यह आश्चर्यजनक बात है। ऐसा सोचकर आश्चर्य चकित हो इन्द्रभूति भगवान का वैभव देखने के लिए चल पड़ा। उनके दिव्य समवशरण मण्डप में उसे अत्यधिक आश्चर्य हुआ। वहाँ उसका अभिमान नष्ट हो गया।

यहाँ गौतम इन्द्रभूति, अद्भुतरस के आश्रय हैं। भगवान महावीर आलम्बन विभाव हैं। उनकी दिव्य विभूति उद्दीपन विभाव है। भगवान की विभूति का कारण जानने की जिज्ञासा अनुभाव है। वितर्क, आवेग इत्यादि व्यभिचारी भाव हैं।

3. वात्सल्य रस

कुछ आचार्यों ने स्फुट चमत्कारी होने के कारण वात्सल्यरस को भी रस मान लिया है –

'स्थायी वत्सलताः स्नेहः'।[26]

वात्सल्य रस का स्थायीभाव वत्सलता है। वात्सल्यरस की देवता, लोक–मातायें मानी गई हैं, जो शैयादि षोडश मात्रिका रूप में प्रसिद्ध हैं। वर्ण कमल–कोश के समान कान्त अर्थात् शुभपीत के सदृश हैं, क्योंकि लोकमातायें इसी रूप की हैं। पुत्र, अनुज, व अनुज–पुत्र आदि आलम्बन–विभाव हैं। उनकी चेष्टायें क्रीड़ा, कूदना, हास्य, विद्या, शास्त्र–दिक–ज्ञान, शूरता, अभ्युदय, धनोपार्जनादि एवं सेवादि उद्दीपन–विभाव हैं। आलिंगन, अंग–स्पर्श, सिर चुम्बन, देखना, रोमांच, आनन्द्राश्रु, हर्षाश्रु, वस्त्राभूषण दानादि अनुभाव कहे गये हैं। अनिष्ट की शंका, हर्ष, गर्व, धैर्यादि इसके व्यभिचारी–भाव हैं।

वीरोदय में वात्सल्यरस का वर्णन दो स्थलों पर मिलता है। एक स्थान वह है जहाँ रानी प्रियकारिणी सोलह स्वप्न–दर्शन का ज्ञान राजा सिद्धार्थ को कराती हैं। राजा प्रसन्न होकर कहते हैं कि ऐसे स्वप्न पुत्रोत्पत्ति से पूर्व देखे जाते हैं। अतः वह एक लोक–विश्रुत पुत्र को जन्म देगी। स्वप्न का अर्थ जानकर रानी प्रियकारिणी भी अत्यन्त प्रसन्न होती है। चतुर्थ अध्याय में (37 से 62 तक) राजा सिद्धार्थ व रानी प्रियकारिणी का वार्तालाप है। यहाँ उदाहरणार्थ एक श्लोक प्रस्तुत है।

अंकप्राप्तसुतेव कण्टकितनुर्हर्षाश्रुसम्वाहिनी।
जाता यत्सुतमात्र एव सुखदस्तीर्थेश्वरे किम्पुनः।। 62।।

–वीरो.सर्ग.4।

रानी प्रियकारिणी प्राणनाथ के मुख से मंगलमयी मधुर वाणी सुनकर हर्षाश्रुओं को बहाती हुई गोद में आये पुत्र के समान आनन्द से रोमांचित हो गई।

यहाँ पर राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी वात्सल्यरस के आश्रय हैं। उत्पत्स्यमान पुत्र आलम्बन–विभाव है, सोलह स्वप्न उद्दीपन–विभाव हैं। रोमांचित होना, आनन्दाश्रु प्रवाहित करना इत्यादि अनुभाव हैं। हर्ष, गर्व, आवेग व्यभिचारी भाव हैं।

(ख) महावीर की बाल–क्रीड़ाएँ वात्सल्य रस का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत करती हैं –

उदाहरण

निशम्य युक्तार्थधुरं पिता गिरं पस्पर्श बालस्य नवालकं शिरः।
आनन्दसन्दोहसमुल्लसद्वपुस्तया तदास्येन्दुमदो दृशः पपुः।। 46।।

–वीरो.सर्ग.8।

यहाँ महावीर आलम्बन–विभाव, उनकी बाल–लीला एवं मधुर–वाणी उद्दीपन विभाव है। रोमांचादि सात्विक–अनुभाव तथा पुत्र के शरीर, केश का स्पर्श असात्विक अनुभाव हैं। हर्ष, प्रबोधादि व्यभिचारी भावों के सम्मिश्रण से राजा सिद्धार्थ के हृदय में जन्म–जन्मान्तर से संचित वत्सलता, स्नेह स्थायीभाव के रूप में परिणत होकर आस्वादनोन्मुख होता है। अष्टम अध्याय में भगवान महावीर की बाल–चेष्टाओं से वात्सल्यरस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

4. वीर रस

प्रस्तुत महाकाव्य में यद्यपि शान्तरस की ही प्रधानता है। इसलिये उसे अंगीरस का स्थान प्राप्त हुआ है, फिर भी आचार्यश्री ने यत्र–यत्र अन्य अंग–रसों का वर्णन अल्परूप में करके महाकाव्यीय लक्षणों का भी पालन किया है। यहाँ वीररस का उदाहरण प्रस्तुत है –

विभेति मरणाद्दीनो न दीनोऽथामृतस्थितिः।
सम्पदयन्विपदोऽपि सरितः परितश्चरेत्।। 31।।

–वीरो.सर्ग.10।

यहाँ कवि का अभिप्राय है कि दीनपुरूष मृत्यु से डरते हैं और वीरपुरूष मृत्यु को ही अमृत के समान मानते हैं वे मृत्यु से नहीं डरते। मृत्यु, आत्मा को अमर बनाती है। शूरवीर विपत्तियों को भी सम्पत्ति–प्रद मानते हैं। जैसे चारों ओर से समुद्र को क्षोभित करने के लिये आयी हुई नदियाँ समुद्र को क्षोभित न करके उसी की सम्पत्ति बन जाती हैं।

यहाँ वीर–पुरूष आलम्बन–विभाव हैं। उनकी अभयता एवं विपत्तियों को भी सम्पत्ति समझना अनुभाव है। हर्ष, मद, आदि व्यभिचारीभाव हैं। इन सबके सम्मिलन से पाठकों में जन्म–जन्मान्तर के संस्कार के रूप में अवस्थित उत्साह वीररस के रूप में परिणत होकर आस्वादनोन्मुख होता है।

5. करूण रस

संसार की शोचनीय दशा देखकर भगवान का हृदय करूणा से भर उठता है। अतः उक्त स्थल पर कवि ने करूण–रस को चित्रित किया है। यहाँ एक पद्य दर्शनीय है –

जाया–सुतार्थं भुवि विस्फुरन्मनाः कुर्यादजायाः सुतसंहृतिं च ना।
किमुच्यतामीदृशि एवमार्यता स्ववांछितार्थं स्विदनर्थकार्यता।। 5।।

–वीरो.सर्ग.9।

कवि द्वारा पुत्र–प्राप्ति हेतु अजा के पुत्र की हिंसा एवं अन्यान्यवांछित प्रयोजनों की रिद्धि–हेतु हिंसा का आश्रय उल्लिखित है।

इसमें यज्ञीय पशु सभी सहृदयों को आलम्बन विभाव बनता है। पशुओं का छटपटाना, भागने के लिये उद्यत होना आदि उद्दीपन विभाव हैं। दर्शकों के शरीर में उत्पन्न होने वाला कम्पन, रोमांच, अश्रुपात, सात्विक अनुभाव हैं। निर्वेद, ग्लानि, दैन्य, चिन्ता आदि व्यभिचारी भावों के संयोग से शोकरूपी स्थायीभाव करूणरस का परिपाक करता है।

6. श्रृँगार रस

प्रस्तुत महाकाव्य में श्रृँगार का चित्रण विस्तार के साथ भव्यरूप में किया गया है। पूरे काव्य में पाँच ऋतु–वर्णनों में श्रृँगाररस का वर्णन करके कवि ने अपनी साहित्यिक प्रतिभा को प्रकट किया है। वे श्रृँगार को रसराज (6–37) एवं उसके अधिष्ठातृ देवता काम को जगत् का शासक तक कहते हैं। (**स्मरस्तु साम्राज्यपदे नियुक्तः** 21–18)

कुचं समुद्घाटयति प्रिये स्त्रियाः समुद्भवन्ती शिशिरोचितश्रियाः।
तावत्करस्पर्शसुखैकलोपकृत् सूचीव रोमाञ्चततीत्यहो सकृत्।। 20।।

–वीरो.सर्ग.9।

इस श्लोक में शीतकाल में रमणी विशेष के साथ उसके पति द्वारा विविध काम–लीलाओं का सेवन वर्णित है। यहाँ पति–पत्नी एक दूसरे के लिए आलम्बन–विभाव हैं। वस्त्र का निस्सारण एवं पति की मन्द मुस्कान क्रमशः एक दूसरे के प्रति उद्दीपन–विभाव है। रोमांच, कर–स्पर्शादि अनुभाव हैं। हर्ष, स्मृति आदि व्यभिचारी–भाव हैं। भावों के सम्मिश्रण से परस्पर एक दूसरे के प्रति रतिभाव की पुष्टि होने से श्रृँगाररस की अनुभूति/प्रतीति होती है। कुण्डनपुर के वर्णन में –

प्रासादश्रृँगाग्रनिवासिनीनां मुखेन्दुमालोक्य विधुर्जनीनाम्।
नम्रीभवन्नेष ततः प्रयाति ह्रियेव सल्लब्धकलंकजातिः।। 43।।
सौधाग्रलग्नबहुनीलमणिप्रभाभिर्दोषायितत्वमिह सन्ततमेव ताभिः।
कान्तप्रसंगरहिता खलु चक्रवाकी वापीतटेऽप्यहनि ताम्यति सा वराकी।। 45।।

–वीरो.सर्ग.2।

7. रौद्र रस

रौद्ररस महावीर के पूर्व–भवों के चिन्तन में विशाखनन्दी–प्रकरण में देखने को मिलता है। एक उदाहरण प्रस्तुत है –

हन्ताऽस्मि रे त्वामिति भावबन्धमथो समाधानि मनः प्रबन्धः।
तप्त्वा तपः पूर्ववदेव नामि स्वर्गं महाशुक्रमहं स्म यामि।। 16।।

–वीरो.सर्ग.11।

यहाँ आलम्बन–विभाव विशाखनन्दी है। उसके विरोधी क्रिया–कलाप उद्दीपन–विभाव हैं। स्तम्भ, कम्प अनुभाव हैं। चिन्ता, उद्वेग, चपलता आदि व्यभिचारीभाव हैं। पूर्वजन्म में संस्कार रूप में महावीर महापुरूष की आत्मा में विद्यमान क्रोध रूपी स्थायीभाव रौद्ररस का पोषक है।

सन्दर्भ –

1. संस्कृत शब्द कोश, पृष्ठ सं. 135।
2. का.मी.द्वि.अ. पृष्ठ 7।
3. काव्य द. 2/1।
4. वक्रोक्ति जी. 1/6 तथा 2 की वृत्ति।
5. ध्वन्या. 2/19।
6. सरस्वती कण्ठाभरण 5/11 की वृत्ति।
7. का. मी. पृ. 14।
8. आचार्य मम्मट, काव्यप्रकाश अष्टम उल्लास कारिका 87 सूत्र 67।
9. काव्यप्रकाश नवम उल्लास 84 कारिका सूत्र 119।
10. काव्यप्रकाश 10/109।
11. आचार्यमम्मट, काव्यप्रकाश दशम कारिका 97 सूत्र 147।
12. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 114 सूत्र 173।
13. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 96 सूत्र 145।
14. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 131 सूत्र 197।
15. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 132 सूत्र 199।
16. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 92 सूत्र 137।
17. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 110 सूत्र 165।
18. काव्यप्रकाश दशम उल्लास कारिका 119 सूत्र 184।
19. वही. 139 सूत्र 206।

20. वही 140 सूत्र।

21. भरतमुनि नाट्य शास्त्र षष्ठ अध्याय।

22. आचार्यमम्मट का प्र. पृ. 98।

23. साहित्यदर्पण–वृत्ति 3/132।

24. का. प्र. च. उ. 45 पृ. 96।

25. वही. 45 पृ. 97।

26. विश्वनाथ साहित्य द. 3/25।

परिच्छेद – 3

भाषा शैली

भाषा विचारों की अभिव्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन है। भाषा ही शब्द–समूह का नाम है। साहित्यकार के लिये तो भाषा का महत्त्व अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा और भी अधिक है। योद्धा के हाथ में तलवार का जो महत्त्व है, काव्यकार के काव्य में वही महत्त्व भाषा का है। अपनी भाषा के माध्यम से ही साहित्यकार अन्य व्यक्तियों के समीप आ पाता है।

जिस कवि में उचित व सार्थक शब्दों के प्रयोग की जितनी अधिक क्षमता होगी, उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही उत्कृष्ट होगी। उसकी रचना में उतना ही अधिक समता का भाव रहेगा एवं प्रेषणीयता का गुण भी उसी के अनुसार विद्यमान रहेगा। 'भाषा' के रथ पर बैठकर ही भाव यात्रा करते हैं। 'भावों' के बिना भाषा विधवा है और भाषा के बिना भाव अमूर्त्त। भाषा एक ऐसा रम्य उद्यान है जिसमें साहित्यरूपी सुमन विकसित होते हैं। यदि भाव कविता के प्राण हैं तो भाषा शरीर। भाषा अभिव्यक्ति का साधन होने से व्यक्ति अन्य बातों में अशक्त होने पर भी सशक्त भाषा–भाषी होकर जीवन के कई क्षेत्रों में विजय पा लेता है। अतः सामाजिक प्राणी होने से प्रत्येक काव्यकार का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह अपने काव्य में ऐसी भाषा का प्रयोग करे, जिससे हृदय की आवाज जनता तक पहुँच सके। यदि पाण्डित्य–प्रदर्शन के साथ कुछ सन्देश देना हो, तो उस परिस्थिति में कवि को सावधानी बरतनी चाहिए।

आचार्यश्री ज्ञानसागर ने अपने काव्यों में लौकिक संस्कृत भाषा का प्रयोग किया है। फिर भी उनके महाकाव्य में समाज में समाई हुई उर्दू भाषा के भी कुछ शब्द आ गये हैं। मेवा[1], अमीर[2], नेक[3], शतरंज[4], बाजी[5], कुशनप[6], फिरंगी[7], इत्यादि।

वीर! त्वमानन्दभुवामवीरः मीरो गुणानां जगतामभीरः।
एकोऽपि सम्पातितमामनेक–लोकाननेकान्तमतेन नेक।। 5।।

–वीरो.सर्ग.1।

एवं समुत्थान–निपात पूर्णे धरातलेऽस्मिन् शतरंजतूर्णे।
भवेत्कदा कः खलु वाजियोग्यः प्रवक्तुमीशो भवतीति नोऽज्ञः।। 14।।

–वीरो.सर्ग.17।

कवि की भाषा सरल और विषय–वर्णन के अनुरूप है। इसमें मधुरता प्रासादिकता अलंकारिता आदि गुण भी हैं। लोकोक्तियों और मुहावरों का प्रयोग भाषा को प्रभावक बनाने के लिए किया है। समस्त पदों का प्रयोग अत्यल्प है। देश, काल एवं विषयवस्तु के अनुरूप ही भाषा का प्रयोग है।

शैली

साहित्य के क्षेत्र में अपने विचारों को प्रकट करने के ढंग को **शैली** कहते हैं। यह भावपक्ष और कलापक्ष को जोड़ने का एक साधन है। इसके द्वारा हम कवि की मौलिकता की परीक्षा कर पाते हैं। "शैली" शब्द का तात्पर्य है ढंग। प्रत्येक कवि या लेखक की अपनी–अपनी शैली होती है। किसी की शैली भावपक्ष की अभिव्यंजना कराने में समर्थ होती हैं, तो किसी की शैली उसके पाण्डित्य प्रदर्शन का साधन होती है। कवि के कथन के इस ढंग को काव्य–शास्त्रीय दृष्टि से तीन प्रकार का कहा गया है –
(क) वैदर्भी शैली (ख) गौड़ी शैली (ग) पांचाली शैली।

1. वैदर्भी शैली

इस शैली में कवि माधुर्य गुण के व्यंजक शब्दों का प्रयोग करता है। इसमें समासों की छटा दृष्टिगोचर होती है। यह शैली सरसता व मधुरता के कारण काव्य को आह्लादक बना देती है। इसमें कलापक्ष को भावपक्ष के अनुरूप ही प्रस्तुत किया जाता है।

आचार्यश्री ने अपने काव्यों में अधिकांशतया वैदर्भी–शैली का ही प्रयोग किया है। गौड़ी व पांचाली का प्रयोग अत्यल्प हो है। वसन्त–ऋतु

के मनोरम दृश्यों के चित्रण में कवि की वैदर्भी–शैली के प्रयोग की छटा अवलोकनीय है –

नवप्रसंगे परिहृष्टचेता नवां वधूटीमिव कामि एताम्।
मुर्हुर्मुहुश्चुम्बति चन्चरीको माकन्दजातामथ मंजरीं कोः।। 20।।
आम्रस्य गुंजत्कलिकान्तराले र्नालीकमेतत्सहकारनाम।
दृग्वर्त्मकर्मक्षण एव पांथांगिने परासुत्वभृतो वदामः।। 21।।

–वीरो.सर्ग.6।

यहाँ पाठक के मन में आह्लाद उत्पन्न करने में मधुर शब्दावली से युक्त प्रवाह पूर्ण वैदर्भी–शैली पूर्णतया सफल हुई है। भगवान महावीर के बाल्यावस्था की सुन्दर चेष्टाओं को कवि ने वैदर्भी–शैली में इस प्रकार प्रस्तुत किया है –

रराज मातुरूत्संगे महोदारविचेष्टितः।
क्षीरसागरवेलाया इवांके कौस्तुभो मणिः।। 8।।
अगादपि पितुः पार्श्वे उदयाद्रेरिवांशुमान्।
सर्वस्य भूतलस्यायं चित्ताम्भोजं विकासयन्।। 9।।

–वीरो.सर्ग.8।

वैदर्भी–शैली के उदाहरणों में माधुर्य गुण की प्रधानता हैं। समास अत्यल्प है। अलंकार स्वभावतः आये हैं। फलस्वरूप सरलता एवं प्रवाह स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता है।

2. गौड़ी शैली

इस शैली में ओज–गुण के अभिव्यंजक वर्णों का प्रयोग किया जाता है। दीर्घ समासों का इसमें अधिक उपयोग होता है। यह आड़म्बर–पूर्ण होती है। कवि को इसमें पाण्डित्य–प्रदर्शन का भी अवसर मिल जाता है। वीरोदय महाकाव्य में गौड़ी–शैली के उदाहारण दृष्टव्य नहीं हैं।

3. पांचाली शैली

इस शैली में प्रासाद–गुण के अभिव्यंजक वर्णों का प्रयोग किया

जाता है। इसमें पाँच–पाँच और छह–छह पदों के समास भी मिलते हैं। साथ–साथ मधुर वर्णों का भी प्रयोग पाया जाता है। यह शैली वैदर्भी व गौड़ी का मिश्रित रूप है। इसमें रचित काव्य को पढ़ने से वर्ण्य–विषय आसानी से समझ में आ जाता है। **जैसे** –

अरविन्दधिया दधद्रविं पुनरैरावण उष्णसच्छविम्।
धुतहस्ततयात्तमुत्यजन्ननयद्धास्यमहो सुरव्रजम।। 10।।
झषकर्कटनक्रनिर्णये वियदब्धावुत तारकाचये।
कुवलप्रकरान्वये विधुं विबुधाः कौस्तुभमित्थमभ्यधुः।। 11।।
पुनरेत्य च कुण्डिनं पुराधिपुरं त्रिक्रमणेन ते सुराः।
उपतस्थुरमुष्य गोपुराग्रभुवीत्थं जिनभक्तिसत्तुराः।। 12।।

–वीरो.सर्ग.7।

आचार्यश्री ने वीरोदय महाकाव्य में वैदर्भी–शैली का प्रयोग अधिक किया है, क्योंकि वे शब्दाडम्बरों पर ज्यादा विश्वास नहीं करते। यदि कहीं वे दीर्घ समास का प्रयोग करते हैं, तो वे सुगमता से पढ़े जा सकते हैं। अतः इसे गौड़ी–शैली के अन्तर्गत नहीं गिन सकते हैं।

संवादों की विशिष्टता

वीरोदय में संवादों की विशिष्टता भी कई स्थानों पर दृष्टव्य है। विशेष रूप से (1) रानी प्रियकारिणी व राजा सिद्धार्थ का संवाद (2) रानी प्रियकारिणी व देवी संवाद (3) राजा सिद्धार्थ व वर्धमान संवाद। इनका वर्णन बड़े ही रोचक ढंग से हुआ है।

एक दिन सुख से सोती हुई प्रियकारिणी रानी ने पिछली रात्रि में सोलह स्वप्नों की सुन्दर परम्परा देखी। जागकर प्रातःकालीन क्रियाओं को करके अर्हन्त जिनेन्द्रों की अष्ट–द्रव्य से पूजा–अर्चना की। तत्पश्चात् उत्तमोत्तम आभूषणों से आभूषित होकर विनय से नम्रीभूत प्रियकारिणी देवी ने सहेलियों के साथ स्वप्नों का फल जानने की इच्छा से राजसभा में अपने प्राणनाथ सिद्धार्थ की ओर प्रस्थान किया।

राजा सिद्धार्थ ने, नेत्रों को आनन्द देने वाली और सूर्य की प्रभा के

समान आती हुई रानी को देखकर पाप–रहित एवम् पुण्य–स्वरूप अपने आसन के अर्ध–भाग पर बैठाया।

रानी प्रियकारिणी व राजा सिद्धार्थ का संवाद

रानी प्रियकारिणी ने महाराज सिद्धार्थ के सन्मुख उचित अवसर प्राप्त कर स्वप्नों का वृत्तान्त कहा–

उद्योतयत्युदित दन्तविशुद्धरोचि–रंशैर्नृपस्य कलकुण्डलकल्पशोचिः।
चिक्षेप चन्द्रवदना समयानुसारं तत्कर्णयोरिति वचोऽमृतमप्युदारम्।। 33।।

–वीरो.सर्ग.4।

प्रियकारिणी द्वारा विशाल अर्थ को कहने वाली तत्त्व प्रतिपादक वाणी को सुनकर हर्ष से रोमांचित प्रफुल्लित कमल के समान विकसित नेत्रवाले राजा सिद्धार्थ अपनी निर्दोष वाणी से उत्तम मंगल स्वरूप अर्थ प्रतिपादक वचनों को इस प्रकार कहने लगे –

"हे कृशोदरि, तुमने सोते समय जो अनुपम स्वप्नावली देखी है, उससे तुम अत्यन्त सौभाग्यशाली प्रतिभासित होती हो। हे प्रसन्नमुखि, हे कल्याणशालिनी, मेरे मुख से उनका अति सुन्दर फल सुनो।"

त्वं तावदीक्षितवती शययेऽप्यनन्यां, स्वप्नावलिं त्वनुदरि प्रतिभासि धन्या।
भो भो प्रसन्नवदने फलितं तथाऽस्याः, कल्याणिनीह श्रृणु मंजुतमं ममाऽऽस्यात्।। 38।।

–वीरो.सर्ग.4।

" हे सुभगे, तुम आप्तमीमांसा के समान प्रतीत हो रही हो। जैसे समन्तभद्र स्वामी के द्वारा की गई आप्त की मीमांसा अकलंकदेव–द्वारा अलंकृत हुई है, उसी प्रकार तुम भी निर्मल आभूषणों को धारण करती हो। आत्ममीमांसा सन्नय से (सप्तभंगी रूप स्याद्वाद न्याय के द्वारा) निर्दोष अर्थ को प्रकट करती है और तुम अपनी सुन्दर चेष्टा से निर्दोष तीर्थंकर देव के आगमन को प्रकट कर रही हो ।"

अकलंकालंकारा सुभगे देवागमार्थमनवद्यम्।
गमयन्ती सन्नयतः किलाऽऽप्तमीमांसिताख्या वा।। 39।।

–वीरो.सर्ग.4।

हे प्रफुल्लित कमलनयने! तीनों लोकों का अद्वितीय तिलक ऐसा तीर्थंकर होने वाला बालक आज तुम्हारे गर्भ में अवतरित हुआ हैं– ऐसा संकेत यह स्वप्नावली दे रही है।

लोकत्रयैकतिलको बालक उत्फुल्लनलिननयनेऽद्य।
उदरे तवावतरितो हींगितमिति सन्तनोतीदम्।। 40।।

–वीरो.सर्ग.4।

प्रियकारिणी! तुमने जो ऐरावत हाथी देखा है, उसी के समान तुम्हारा पुत्र भी इस मही–मण्डल पर सभी दिशाओं में दान (मद–जल) को वितरण करने वाला निष्पाप महान आत्मा होगा।

द्वितीय स्वप्न में बैल, **तृतीय** स्वप्न में सिंह, **चतुर्थ** स्वप्न में हाथियों द्वारा अभिषेक की जाती हुई लक्ष्मी देखी है। उससे क्रमशः धर्म की धुरा को धारण करने वाला, उन्मत्त कुवादि–रूप हस्तियों के मद को निर्दयता से भेदने में दक्ष, तुम्हारे पुत्र का सुमेरू के शिखर पर इन्द्रों द्वारा निर्मल जल से अभिषेक होगा। **पाँचवें** स्वप्न में भ्रमरों से गुजार करती दो मालायें, **छठवें** स्वप्न में चन्द्रमा, **सातवें** स्वप्न में सूर्य, **आठवें** स्वप्न में जल से परिपूर्ण दो कलश, **नवें** स्वप्न में जल में क्रीड़ा करती हुई दो मछलियाँ, **दशवें** स्वप्न में सहस्र कमलों से परिपूर्ण सरोवर देखा है, वह पुत्र भी सुगन्ध से समस्त जगत् को व्याप्त करने वाला, धर्मामृत से जगत को सींचने वाला और तृष्णातुर जीवों को अमृत रूप सिद्धि को देने वाला होगा।

इसी प्रकार **ग्यारहवें** स्वप्न में समुद्र, **बारहवें** स्वप्न में सिहांसन, **तेरहवें** स्वप्न में सुर–सेवित विमान, **चौदहवें** स्वप्न में धवल वर्णमाला, **पन्द्रहवें** स्वप्न में निर्मल रत्नों की राशि देखी है, उसके समान ही तुम्हारा पुत्र भी समस्त लोगों के मनोऽनुकूल आचरण करने वाला, अनन्त निर्मल गुण रूप रत्नों से परिपूर्ण एवं महारमणीक होगा।[9] प्रियकारिणी रानी अपने प्राणनाथ के श्रीमुख से मंगलमयी मधुरवाणी सुनकर हर्षाश्रुओं को बहाती हुई गोद में प्राप्त हुए पुत्र के समान रोमांचित हो गई।

रानी प्रियकारिणी और देवी संवाद

वीरोदय महाकाव्य में पट्टरानी प्रियकारिणी और श्री ही लक्ष्मी आदि देवियों के संवाद का बड़ा ही रोचक चित्रण किया गया है। रानी प्रियकारिणी के गर्भ में जब वीर प्रभु का अवतरण होता है, तब श्री, ही, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी आदि देवियाँ आती हैं और निष्काम भाव से माता की सेवा करती हैं, जिससे यह प्रतीत होता है कि उन देवियों में चतुराई, ज्ञानार्जन के प्रति जिज्ञासु प्रवृत्ति विनम्रता व्यावहारिक ज्ञान से परिपूर्ण कार्य–कुशलता एवं सेवाभावी गुणों का मंजुल समन्वय है।

देवियों ने कहा–हम सब आपको दुःख पहुँचाने वाला कोई काम नहीं करेगीं, किन्तु आपको सुखदायक कार्य ही करेंगी। इस प्रकार विनम्र एवं प्रशंसनीय वचनों से माता को अपना अभिप्राय कहकर और उनके हृदय में अपना स्थान जमा कर वे देवियाँ माता की सेवा में लगकर अपने को सुधन्य मानने लगीं।

दत्वा निजीयं हृदयं तु तस्यै लब्ध्वा पदं तद्–हृदि किंच शस्यैः।
विनत्युपज्ञैर्वचनैर्जनन्याः सेवासु देव्यो विभवुः सुधन्याः।। 8।।

–वीरो.सर्ग.5।

प्रगै ददौ दर्पणमादरेण दृष्टुं मुखं मंजुदृशो रयेण।
रदेषु कर्तुं मृदु मंजनं च वक्त्रं तथा क्षालयितुं जलं च।। 9।।

–वीरो.सर्ग.5।

उन देवियों में से किसी ने प्रातःकाल माता के शयन कक्ष से बाहर आते ही उन्हें मुख देखने के लिए आदर के साथ दर्पण दिया, तो किसी ने शीघ्र दांतों की शुद्धि के लिए मंजन दिया और किसी अन्य देवी ने मुख को धोने के लिए जल दिया। कोई देवी माता के शरीर का उबटन करने लगी, तो कोई स्नान को जल लाने को उद्यत हुई। किसी ने स्नान कराया, तो किसी ने माँ के प्रशंसनीय शरीर पर पड़े जल को यह विचार करके कपड़े से पोंछा कि इस पवित्र उत्तम माता के साथ जड़ का प्रसंग क्यों रहे

? किसी देवी ने स्वभाव से माता के वक्रिम (कुटिल) दिखने वाले घुंघरूले बालों का जूड़ा बाँधा, तो किसी चतुर देवी ने माता के चंचल नेत्रों में अत्यन्त काला अंजन लगाया।

बबन्ध काचित्कबरी च तस्या निसर्गतो वक्रिमभावदृश्याम्।
तस्याः दृशोश्चन्चलयोस्तथाऽन्याऽञ्जनं चकारातिशितं वदान्या।। 12।।

–वीरो.सर्ग.5।

उत्साह संयुक्त वे सुदेवियाँ पूजन के योग्य उचित वस्तुओं को देकर माता के साथ ही परम सेव्य जिनेन्द्र देव की पूजा उपासना करने लगीं। किसी देवी ने मृदंग लिया तो किसी दूसरी ने वीणा उठाई, तीसरी ने मंजीरे उठाये और जिनेन्द्रदेव की भक्ति रस से युक्त होकर माता के साथ गाने लगीं।

एका मृदंगं प्रदधार वीणामन्या सुमञ्जीरमथ प्रवीणा।
मातुः स्वरे गातुमभूत् प्रयुक्ता जिनप्रभोर्भक्तिरसेण युक्ता।। 17।।

–वीरो.सर्ग.5।

उन देवियों ने माता से अनेक प्रश्न पूँछना प्रारम्भ किया– हे माता! जीव दुःख को किस प्रकार प्राप्त होता है ? **उत्तर**– पाप करने से। **प्रश्न**– पाप में बुद्धि क्यों होती है ? **उत्तर**– अविवेक के प्रताप से। **प्रश्न**– अविवेक क्यों उत्पन्न होता है ? **उत्तर**– मोह के शाप से अर्थात् मोह कर्म के उदय से जीवों के अविवेक उत्पन्न होता है। इस मोह का विनाश करना जगत–जनों लिए बड़ा कठिन है।

दुःख जनोऽम्येति कुतोऽथ पापात्, पापे कुतो धीर–विवेक–तापात्।
कुतोऽविवेकः स च मोहशापात्, मोहक्षतिः किं जगतां दुरापा।। 28।।

–वीरो.सर्ग.5।

इस प्रकार प्रश्नोत्तर काल में ही उन विज्ञ देवियों ने माता को विश्राम का इच्छुक जानकर प्रश्न पूँछने से विराम लिया। रात्रि में किसी

देवी ने सोने के लिए उत्तम पुष्पों द्वारा शैया को अच्छी तरह सजाया। माता के उस पर लेट जाने पर कुछ देवियाँ उनके चरणों को दबाने लगीं।

माता अपने मुख में श्री को, नेत्रों में ह्री को, मन में धृति को, दोनों उरोजों (कुचों) में कीर्ति को , कार्य सम्पादन में बुद्धि को, और धर्म–कार्य में लक्ष्मी को धारण करती हुई गृहाश्रम में शोभित हुई।

श्रियं मुखेऽम्बा ह्रियमत्र नेत्रयोर्धृतिं स्वके कीर्तिमुरोजराजयोः।
बुद्धिं विधाने च रमां बृषक्रमे समादधाना विबभौ गृहाश्रमो।। 40।।

–वीरो.सर्ग.5।

माता की सेवार्थ आई श्री ह्री आदि देवियों को मानों माता ने उक्त प्रकार से आत्मसात् कर लिया।

राजा सिद्धार्थ व वर्धमान संवाद

महाकवि आचार्यश्री ज्ञानसागर ने वीरोदय के अष्टमसर्ग में राजा सिद्धार्थ व वर्धमान के बीच हुए संवाद को निम्न प्रकार से चित्रित किया है –

बालक वर्धमान धीरे–धीरे युवावस्था की ओर अग्रसर हुए। पुत्र को युवावस्था में देखकर पिता सिद्धार्थ ने उन्हें विवाह–योग्य कन्या देखने को कहा। पिता के इस विवाह–प्रस्ताव को सुनकर वर्धमान बोले – "हे तात! यह आप क्या कहते हो ? लोक की ऐसी दारूण स्थिति में, मैं क्या सदारता अर्थात् करपत्रता या करोंतपना अंगीकार करूँ ? जैसे लकड़ी करोंत से कटकर खंड–खंड हो जाती है, वैसे ही क्या मैं भी सदारता को प्राप्त करके उसी प्रकार की दशा को प्राप्त होऊँ।" **यथा** –

सुतरूपस्थितिं दृष्टवा तदा रामोपयोगीनीम्।
कन्या समितिमन्वेष्टुं प्रचक्राम प्रभोःपिता।। 22।।
प्रभुराह निशम्येदं तात! तावत्किमुद्यते।
दारूणेत्युदिते लोके किमिष्टेऽहं सदारताम्।। 23।।

–वीरो.सर्ग.8।

वर्धमान ने पिता के इस प्रस्ताव का अनुमोदन नहीं किया। पिता ने पुनः कहा– हे आत्मज! बिना कारण के ही क्या राजकुल में उत्पन्न यह युवातीर्थ (युवावस्थारूपी तीर्थ) युवती रहित ही रहेगा ? अविवाहित रहने का तुम्हें कोई कारण तो बतलाना चहिए। पिता के (पुत्र–प्रेम से उत्पन्न) इस मोह को देखकर महामना वर्धमान ने पुनः विनय के साथ इस प्रकार कहा –

करत्रमेकतस्तात! परत्र निखिलं जगत्।
प्रेमपात्रं किमित्यत्र कर्त्तव्यं ब्रूहि धीमता।। 28।।[1]
हृषीकाणि समस्तानि माद्यन्ति प्रमदाऽऽश्रयात्।
नो चेत्पुनरसन्तीव सन्ति यानि तु देहिनः।। 31।।

–वीरो.सर्ग.8

"हे तात्! एक ओर कलत्र (स्त्री) है और दूसरी ओर यह सर्व दुःखी जगत है। हे श्रीमन्! इनमें से किसे अपना प्रेमपात्र बनाऊँ ? मेरा क्या कर्त्तव्य है ? इसे आप ही बतलाइये। प्रमदा (स्त्री) के आश्रय से ये समस्त इन्द्रियां मद को प्राप्त होती हैं। यदि स्त्री का सम्पर्क न हो तो फिर ये देहधारी के होती हुई भी नहीं होती हुई सी रहती हैं।" " हे तात्! सच तो यह है कि जो इन्द्रियों का दास है, वह सर्व जगत का दास है। किन्तु इन्द्रियों को जीत करके ही मनुष्य जगज्जेतृत्व को प्राप्त कर सकता है। जो पुरूष ब्रह्मचारी रहता है, उसके देवता भी शीघ्र वश में हो जाते हैं, फिर मनुष्यों की तो बात ही क्या है ? इसीलिये ब्रह्मचर्य सर्व व्रचातरणों में श्रेष्ठ माना गया है। इसलिए हे पिता! हमारा यह दृढ़ विचार है कि मनुष्य–जन्म को धारण करता हुआ मैं स्त्री के वशंगत नहीं होऊँगा।" **जैसे** –

इन्द्रियाणां तु यो दासः स दासो जगतां भवेत्।
इन्द्रियाणि विजित्यैव जगज्जेतृत्वमाप्नुयात्।। 37।।
सद्योऽपि वशमायान्ति देवाः किमुत मानवाः।
यतस्तद् ब्रह्मचर्यं हि व्रताचारेषु सम्मतम्।। 38।।

हे पितोऽयमितोऽस्माकं सुविचारविनिश्चयः।
नरजन्म दधानोऽहं न स्यां भीरूवशंगतः।। 42।।

–वीरो.सर्ग.8।

पुत्र की ब्रह्मचर्य–व्रत के प्रति ऐसी निष्ठा देखकर पिता ने हर्षित होकर उनके सिर का स्पर्श करके यथेच्छ जीवन–यापन करने की अनुमति दे दी।

वीरोदय महाकाव्य की अन्य काव्यों से तुलना

महाकवि आचार्य **ज्ञानसागरकृत** वीरोदय महाकाव्य संस्कृत भाषा का एक उच्चकोटि का महाकाव्य है। यह अन्य महाकाव्यों की तुलना में खरा उतरता है। महाकवि **कालिदासकृत** रघुवंश महाकाव्य, मेघूदत व कुमारसम्भव, **श्रीहर्षकृत** नैषधीयचरित, महाकवि **माघकृत** शिशुपाल–वध आदि से संक्षिप्त तुलना निम्न प्रकार है –

1. रघुवंश व वीरोदय महाकाव्य

रघुवंश के द्वितीय सर्ग में राजा दिलीप नन्दिनी का छाया के समान अनुगमन करते हैं।[2]

स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां निषेदुसीमासनबन्ध धीरः।
जलाभिलाषी जलमाददाना छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्।। 12–6।।

वीरोदय में रानी प्रियकारिणी छाया के समान राजा सिद्धार्थ का अनुगमन करती हैं।

छायेव सूर्यस्य सदाऽनुगन्त्री बभूव मायवे विधेः सुमन्त्रिन्।
नृपस्य नाना प्रियकारिणीति यस्याः पुनीता प्रणयप्रणीतिः।। 15।।

–वीरो.सर्ग.3।

हे सुमन्त्रिन्! सिद्धार्थ राजा की प्रियकारिणी नाम की रानी थी, जो सूर्य की छाया के समान एवं विधि की माया के समान पति का सदा अनुगमन करती थी और जिसका प्रणय–प्रणयन (प्रेम–प्रदर्शन) पवित्र था। अतः वह अपने "प्रियकारिणी" नाम को सार्थक करती थी।

रघुवंश के राजकुमार **"प्रजायै गृहमेधिनाम्"** सन्तानोत्पत्ति के लिए गृहस्थ–धर्म को स्वीकार करते हैं,[8] तो वीरोदय के नायक महावीर प्रजा की सेवा के लिए ब्रह्मचर्य की आराधना करते हैं –

किं राजतुक्तोद्वाहेन प्रजायाः सेवया तु सा!
तदर्थमेवेदं ब्रह्मचर्यमाराधयाम्यहम्।। 43।।

–वीरो.सर्ग.8।

कालिदास ने रघुवंश में दिलीप और सुदक्षिणा के मध्य में विद्यमान नन्दिनी की उपमा दिन और रात्रि के मध्य में विद्यमान सन्ध्या से दी है –

'तदन्तरे सा विरराजधेनु–र्दिनक्षपामध्यगतेव सन्ध्या'।।[8] 12–20।।

महाकवि ज्ञानसागर ने सम्पत्ति व विपत्ति के बीच में रूचिकर मनुष्यता की कल्पना रात व दिन के मध्य स्थित सन्ध्या से की है –

विपन्निशेवाऽनुमिता भुवीतः सम्पत्तिभावो दिनवत्पुनीतः।
सन्ध्येव भायाद् रूचिरा नृता तु द्वयोरूपात्तप्रणयप्रमातुः।। 13।।

–वीरो.सर्ग.17।

संसार में मनुष्य को सम्पत्ति का प्राप्त होना दिन के समान पुनीत है। इसी प्रकार विपत्ति का आना भी रात्रि के समान अवश्यम्भावी है। इन दोनों के मध्य में मध्यस्थ रूप से उपस्थित स्नेहभाव को प्राप्त होने वाले महानुभाव के मनुष्यता सन्ध्याकाल के समान रूचिकर प्रतीत होना चाहिए।

2. मेघदूत व वीरोदय महाकाव्य

महाकवि कालिदास ने उत्तरमेघ में मेघ की तुलना हाथी के बच्चे से करते हुए कहा है –

गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः।
क्रीड़ाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः।।

अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्त्तुमल्पाल्पभासं।
खद्योतालीविलसितनिभां विद्युदुन्मेषदृष्टिम्।। 18।।

हे मेघ! शीघ्र प्रवेश करने के लिए तत्क्षण हाथी के बच्चे के समान आकार धारण कर पूर्वोक्त सुन्दर शिखर वाले क्रीड़ा–पर्वत पर बैठे हुए तुम अल्प प्रकाश वाली और जुगनुओं की पंक्ति के समान बिजली के प्रकाश रूप दृष्टि को भवन के भीतर डालो। वीरोदय में महाकवि ज्ञानसागर लिखते हैं कि

यत्खातिकावारिणि वारणानां लसन्ति शंकामनुसन्दधानाः।
शनैश्चरन्तः प्रतिमावतारान्निनादिनो वारिमुचोऽप्युदाराः।। 30।।

–वीरो.सर्ग.2।

उदार, गर्जना–युक्त एवं धीरे–धीरे जाते हुए मेघ नगर की खाई के जल में प्रतिबिम्बित अपने रूप से हाथियों की शंका को उत्पन्न करते हुए शोभित होते हैं।

इस प्रकार वीरोदय में मेघ हाथी के बच्चे की शंका को उत्पन्न करता हुआ शोभित होता है जैसे कालिदास के मेघदूत का मेघ हाथी के बच्चे के आकार को ग्रहण करता हुआ शोभित होता है। वीरोदय के द्वादश सर्ग के 41वें पद्य में उल्लेख है कि जैसे सूर्य प्रसन्न होकर विचार मात्र से ही कुहरे को दूर कर देता है वैसे ही भ. महावीर ने ध्यान के प्रभाव से आत्म स्थित कर्मरूप मल को दूर कर दिया था–

अपाहरत् प्राभवभृच्छरीर आत्मस्थितं दैवमलं च वीरः।
विचारमात्रेण तपोभृदद्य पूषेव कल्ये कुहरं प्रसद्य।। 41।।

–वीरो.सर्ग.12।

इस श्लोक पर महाकवि कालिदास के पूर्व मेघदूत के 39वें श्लोक का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है जहाँ सूर्य के कमलिनी के मुख से ओस–रूपी आँसू को दूर करने के लिए आने का उल्लेख किया गया है –

तस्मिन् काले नयन सलिलं योषितां खडितानां।
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।।
प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्त्तुं नलिन्याः।
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररूधि स्यादनल्पाभ्यसूयः।। 39।।

(पूर्व मेघ)

मेघदूत में पूर्वमेघ के 51वें श्लोक में गंगा के स्वच्छ जल में मेघ की छाया पड़ने पर संगम–स्थान से भिन्न स्थान में गंगा–यमुना के संगम की कल्पना कालिदास ने की है –

तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि पश्चार्द्धलम्बी।
त्वं चेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः।।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसिच्छाययासौ।
स्यादस्थानोपगत यमुनासंगमेवाभिरामा।।

वीरोदय में इस श्लोक की स्पष्ट प्रतीति कराता हुआ चौदहवें सर्ग का 47 वाँ श्लोक है –

समागमः क्षत्रियविप्रबुद्धयोरभूदपूर्वः परिरब्धसुद्धयोः।
गांगस्य वै यामुनतः प्रयोग इवाऽऽसकौ स्पष्टतयोपयोगः।। 47।।

सर्ग– 14।

इसमें कहा गया है कि परम विशुद्धि को प्राप्त क्षत्रियबुद्धि महावीर और विप्रबुद्धि इन्द्रभूति का

अभूतपूर्व समागम हुआ जैसे प्रयाग में गंगा और यमुना जल का संगम तीर्थरूप में परिणत हो गया।

3. शिशुपालवध और वीरोदय महाकाव्य

शिशुपाल वध के प्रथम सर्ग में नारद के आकाश मार्ग से आने पर सब ओर फैलने वाले तेज को नीचे आते देखकर यह लोगों ने व्याकुलता पूर्वक कहा – "यह क्या है" ?

तातं तिरश्चीनमनरू सारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः।
पतत्यधो धाम विस्सारि सर्वतः, किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः।। 2।।

श्रीकृष्ण उनके स्वागतार्थ ऊँचे आसन से उठ गए।

जवेन पीठादुदतिष्ठ दच्युतः।। 1--12।।

उन्होंने नारद से आने का कारण पूँछा।

गतस्पृहोऽप्यागमन–प्रयोजनं वदेति वक्तु व्यवसीयते यथा।। 1–30।।

वीरोदय के पंचम सर्ग के प्रारम्भ में बताया है कि भगवान महावीर के गर्भ में आने के बाद आकाश में सूर्य प्रकाश को भी उल्लंघन करने वाला और उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त महान प्रकाश दिखायी दिया, जिसे देखकर "यह क्या है" ?– इस प्रकार तर्क–वितर्क लोगों के हृदय में उत्पन्न हुआ।

अथाभवद् व्योम्नि महाप्रकाशः सूर्यातिशयी सहसा तदा सः।
किमेतदित्थं हृदि काकुभावः कुर्वन् जनानां प्रचलत्प्रभावः।। 1।।

–वीरो.सर्ग.5।

इसके बाद श्री आदि देवियों का वह प्रकाश–समूह लोगों के समीप आया। उसे देखकर राजा सिद्धार्थ खड़े होकर उन देवियों के अतिथि सत्कार की विधि में उद्यत हुए।

क्षणोत्तरं सन्निधिमाजगाम श्रीदेवतानां निवहः स नाम।
तासां किलाऽऽतिथ्यविधौ नरेश उद्भीबभूवोद्यत आदरे सः।। 2।।

–वीरो.सर्ग.5।

आप देव–लक्ष्मियों का मनुष्य के द्वार पर आने का क्या कारण है? यह वितर्क मेरे चित्त को व्याकुल कर रहा है– ऐसा वाक्य राजा सिद्धार्थ ने कहा।

हेतुर्नरद्वारि समागमाय सुरश्रियः कोऽस्ति किलेतिकायः।
दुनोति चित्तं मम तर्क एष प्रयुक्तवान् वाक्यमिदं नरेशः।। 3।।

–वीरो.सर्ग.5।

4. नैषधीयचरित और वीरोदय महाकाव्य

नैषधीय चरितम् में कहा गया है –

अधीति–बोधाचरण–प्रचारणै–र्दशाश्चतस्रः प्रणयन्नुपाधिभिः
चतुर्दशत्वं कृतवान् कुतः स्वयं, न वेद्मि विद्यासु चतुर्दशस्वयम्।। 1–4।।

चौदह विद्याओं में अध्ययन, अर्थज्ञान, आचरण और अध्यापन (इन चार) प्रकार से चार अवस्थाएँ करते हुए इससे स्वयं चतुर्दशता कैसे कर दी ? यह मैं नहीं जानता हूँ। इस पद्य का प्रभाव वीरोदय के निम्नलिखित पद्यों पर दृष्टिगोचर होता है –

एकाऽस्य विद्या श्रवसोश्च तत्त्वं सम्प्राप्य लेभेऽथ चतुर्दशत्वम्।
शक्तिस्तथा नीतिचतुष्कसारमुपागताऽहो नवतां बभार।। 14।।

–वीरो.सर्ग.3।

राजा सिद्धार्थ की एक विद्या दोनों श्रवणों के तत्त्व को प्राप्त होकर चतुर्दशत्व को प्राप्त हुई तथा एक शक्ति नें भी नीतिचतुष्क के सार को प्राप्त होकर नवपने को धारण किया।

अधीतिबोधाऽऽचरण प्रचारैश्चतुर्दशत्वं गमिताऽत्युदारैः।
विद्या चतुःषष्ठिरतः स्वभावादस्याश्च जाताः सकलाः कला वा9।। 30।।

वी.सर्ग.3

रानी की विद्या विशद रूप अधीति (अध्ययन) बोध (ज्ञान) आचरण (तदनुकूल प्रवृत्ति) और प्रचार के द्वारा चतुर्दशत्व को प्राप्त हुई।[9]

नैषधीयचरित (1–14) में बताया हैं कि ब्रम्हा ने नल के तेज और यश के सामने चन्द्र और सूर्य को व्यर्थ समझा और उनकी कुण्डली बना दी। वीरोदय में भी रानी प्रियकारिणी के मुख के सामने चन्द्रमा को व्यर्थ समझ कर विधाता चन्द्रमा पर रेखा खींच देता है जिसे लोग कलंक कहते हैं।

तजोसस्तद्यशसः स्थताविभौ, वृथेति चित्ते कुरूते यदा तदा।
तनोति मानो परिवेषकैतवात् तदाविधिःकुण्डलानां विधोरपि।। 1–14।।

– नैषधीय चरित 1–14।

पूर्वं विनिर्माय विधुं विशेष–यत्नाद्विधिस्तन्मुखमेवमेषः।
कुर्वस्तदुल्लेखकरीं चकार स तत्र लेखामिति तामुदारः।। 29।।

–वीरो.सर्ग.3।

इस प्रकार संवादों की विशिष्टिता तथा अन्य काव्यों से तुलना करने पर वर्धमान की ब्रह्मचर्य व्रत के प्रति दृढ़ निष्ठा तथा राजा सिद्धार्थ व त्रिशला द्वारा स्वीकृति प्रदान करना आदि चित्रण में कवि ने अपनी काव्य कुशलता को उकेरा है।

सूक्तियाँ –

1. **स्वरोटिकां हि मोटयितुं शिक्षते जनोऽखिलः सम्वलयेऽधुना क्षितेः।**
न कश्चनाप्यन्यविचारतन्मना नृलोकमेषा ग्रसते हि पूतना।।

9/9 – आज इस भूतल पर सभी जन अपनी अपनी रोटी को मोटी बनाने में लगे हैं। कोई भी किसी अन्य की भलाई का विचार नहीं कर रहा है। अहो! आज तो यह स्वार्थपरायणता रूपी राक्षसी सारे मनुष्य लोक को ही ग्रस रही है।। 9।।

2. **पीड़ा ममान्यस्य तथेति जन्तु–मात्रस्य रक्षाकरणैकतन्तु।**
कृपान्वितं मानसमत्र यस्य स ब्राम्हणः सम्भवतान्नृशस्य।।

14/37 – जैसी पीड़ा मुझे होती है वैसे ही अन्य को भी होती होगी– ऐसा विचारकर जो प्राणीमात्र की रक्षा करने में सदा सावधान रहता है, जिसका हृदय सदा दयायुक्त रहता है वही ब्राह्मण होने के योग्य है।

3. **पापं विमुच्चैव भवेत् पुनीतः स्वर्णं च किट्टप्रतिपाति हीतः।।**

17/7 – पाप को छोड़कर ही मनुष्य पवित्र कहला सकता है। जैसे कीट कालिमा विमुक्त होने पर ही स्वर्ण सम्माननीय होता है।

सन्दर्भ –

1–7. वीरो. सर्ग. 1 पद्य–1, 5, सर्ग 8 श्लो. 28।

8. रघुवंश महाकाव्य सर्ग 2।

9. वीरोदय महाकाव्य सर्ग 3, श्लोक 30।

अध्याय – 5

वीरोदय महाकाव्य का सांस्कृतिक एवं सामाजिक विवेचन

भारतीय संस्कृति मानव के रहन–सहन, आचार–विचार, और शारीरिक–मानसिक आत्मिक शक्तियों के विकास में सहायक होती है। अतः यह दो पक्षों में विभक्त है। पहले पक्ष का सम्बन्ध उन बातों से है जिसका निर्माण वातावरण, संस्कार और सम्पर्क आदि के फलस्वरूप हुआ करता है और दूसरे पक्ष का उन बातों से है, जो मानव अपने पूर्वजों से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ग्रहण करता है। **प्रथम** पक्षीय विषयों की नींव मानव के जन्मकाल से ही पड़ जाती है। उन विषयों में प्रमुख हैं – प्राकृतिक वातावरण / जीवन की सामान्य रूपरेखा, / पारिवारिक–सामाजिक–धार्मिक–राजनैतिक स्थिति। **द्वितीय** पक्ष में विभिन्न विषयों के विश्वास और मान्यताओं के साथ–साथ अनेक पर्वोत्सव आदि आते हैं, जिनसे जीवन के प्रति समाज के दृष्टिकोण की संकुचितता या व्यापकता का सहज ही परिचय मिल जाता है।

संस्कृति मानव–हृदय को पवित्र करने वाले सुसंस्कारों का समूह है। यह राष्ट्र व समाज–विशेषज्ञ की गति–विधियों का परिचय कराती है। इसी के माध्यम से जन–मानस का अध्ययन किया जाता है। यही चिरन्तन भावनाओं, कामनाओं तथा गन्तव्यों की आधार–शिला कही गई है। जिस राष्ट्र की संस्कृति विशद, उदार तथा महती होगी, वही राष्ट्र समुन्नत होगा।

वीरोदय काव्य में वर्णित भारतीय संस्कृति

महाकवि ज्ञानसागर एक सन्त महापुरूष हैं। उनका साहित्य प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर उन्मुख होता है। यद्यपि उनके साहित्य–सृज

का मुख्य लक्ष्य सांस्कृतिक चित्रण नहीं है तथापि उनके काव्यों में उच्चकोटि का सांस्कृतिक चित्रण मिलता है। आचार्यश्री भले ही अपने आचार–विचार में निवृत्तिवादी रहे हों, पर समाज एवं संस्कृति से कट कर वे कभी नहीं चले। वे धर्मोपदेष्टा एवं धर्म–सुधारक थे। उन्होंने समाज को सन्मार्ग पर लाने के लिए साहित्य–सृजन किया। जनसाधारण की सांस्कृतिक परम्पराओं एवं उसके दैनिक व्यवहारों से वे भलीभाँति परिचित थे। जनमानस में आध्यात्मिक एवं धार्मिक चेतना भरने के लिए उन्होंने जिस विशाल साहित्य की रचना की उसमें सांस्कृतिक चेतना के कई स्थल मिलते हैं।

आचार्यश्री ने वीरोदय महाकाव्य में भी भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्वों को पिरोने का प्रयास किया है। इसमें भारतीय संस्कृति की द्योतक **जिनेन्द्रदेव के प्रति दृढ़ भक्ति** चित्रित है। वीरोदय ग्रन्थ का शुभारम्भ ही श्री जिनेन्द्रदेव की भक्ति से किया है। वे जिन भगवान हम सबके कल्याण के लिए हों, जिनकी चरण–सेवा समस्त श्रोताजनों को और मेरे लिए मेवा तुल्य है, जिनकी सेवा दाख के समान मिष्ट और मृदु है और हृदय को प्रसन्न करने वाली है। ग्रंथारम्भ में श्री जिनेन्द्रदेव की स्तुति तथा अन्य पात्रों द्वारा जिनेन्द्र–पूजन की बातें कवि की जिनेन्द्र भक्ति में आस्था का स्पष्ट संकेत करती हैं तथा भगवान जिनेन्द्र देव की मूर्तियों और जिनालयों का वर्णन भी उनकी जिनेन्द्र–भक्ति का प्रमाण है।[1]

आचार्यश्री ने गुरू तथा माता–पिता के प्रति भी **आदर–भाव** प्रकट किया है। माता–पिता का सम्मान करना, विनम्रता धारण करना, भारतीय संस्कृति के विशेष तत्त्व हैं। महाकाव्य नायक वर्धमान ब्रह्मचर्यव्रत लेने की इच्छा से माता–पिता द्वारा प्रस्तुत विवाह के प्रस्ताव को जिस विनम्रता से अस्वीकृत करते हैं, वह **विनम्रता** प्रत्येक भारतीय पुत्र के लिए अनुकरणीय है।[2]

भारतीय संस्कृति की मान्यतानुसार **गर्भवती नारी की हर इच्छा को पूर्ण** किया जाता है, उसकी भलीभाँति सेवा कर उसे सब

प्रकार से प्रसन्न रखा जाता है। इस महाकाव्य में भी तीर्थंकर का गर्भावतरण होने पर इन्द्रदेव श्री ह्रीं आदि देवियों को माता प्रियकारिणी की सेवा–सुश्रूषा के लिए भेजते हैं, जो माता की सेवा के लिए सदा तत्पर रहती है।

भारतीय संस्कृति में **सोलह संस्कारों** की भी विशेष मान्यता है। इस ग्रन्थ में उचित समय पर वीर प्रभु का गर्भावतरण, उनका जन्म, नामकरण, शिक्षा–दीक्षा आदि संस्कारों का उल्लेख हुआ है।[3]

पुर्नजन्म की अवधारणा के फलस्वरूप व्यक्ति को अपने किये हुए कर्मों का फल दूसरे जन्म में अवश्य भोगना पडता है। वर्धमान के तैंतीस पूर्वजन्मों का वर्णन इस मान्यता की पुष्टि करता है। भारतीय संस्कृति में **त्यौहारों का महत्त्व** होने से महाकवि ज्ञानसागर ने भी श्रावण–मास में झूला झूलने की परम्परा का उल्लेख किया है।

गतागतै–र्दोलिककेलिकायां मुहुर्मुहुः प्राप्तपरिश्रमायाम्।
पुनश्च नैषुण्यमुपैति तेषु योषा सुतोषा पुरूषायितेषु।। 21।।

–वीरो.सर्ग.4।

भारतीय संस्कृति में निहित, **पुरूषार्थ चतुष्टय तथा चतुर्वर्ण** ही समाज–व्यवस्था को व्यवस्थित रखते हैं। वीरोदय में पुरूषार्थ चतुष्ट्य तथा चतुर्वर्ण का संकेत है। महाराज सिद्धार्थ अपनी प्रजा में पुरूषार्थ चतुष्ट्य व चतुर्वर्ण की व्यवस्था स्वयं किया करते थे।

त्रिवर्गभावात्प्रतिपत्तिसारः स्वयं चतुर्वर्णविधिं चकार।
जनोऽपवर्गस्थितये भवेऽदः स नाऽनभिज्ञत्वममुष्य वेद।। 9।।

–वीरो.सर्ग.3।

परिच्छेद – 1

सामाजिक चित्रण

वर्ण व्यवस्था

जैनधर्म, वर्ण–व्यवस्था तथा उसके आधार पर सामाजिक–व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता। सिद्धान्त–ग्रन्थों में वर्ण और जाति शब्द नामकर्म के प्रभेदों में आये हैं। अनुश्रुति के अनुसार सभ्यता के आदि युग में, जिसे शास्त्रीय भाषा में **"कर्मभूमि का प्रारम्भ"** कहा जाता है, ऋषभदेव ने असि, मसि, कृषि, विद्या, शिल्प और वाणिज्य का उपदेश दिया, उसी आधार पर सामाजिक व्यवस्था बनी। लोगों ने स्वेच्छा से कृषि आदि कार्य स्वीकृत कर लिये। कोई कार्य छोटा बड़ा नहीं समझा गया। इसी तरह कोई भी कार्य धर्म धारण करने में रूकावट नहीं माना गया। बाद के साहित्य में यह अनुश्रुति तो सुरक्षित रही, किन्तु उसके साथ में वर्ण–व्यवस्था का सम्बन्ध जोड़ा जाने लगा। नवमी शताब्दी में आकर **जिनसेन** ने अनेक वैदिक मन्तव्यों पर भी जैनछाप लगा दी।[4]

जटासिंहनन्दि ने चतुर्वर्ण की लौकिक और श्रौत (स्मार्त) मान्यताओं का विस्तार से खण्डन करके लिखा है कि **कृतयुग** में तो वर्णभेद था नहीं, **त्रेतायुग** में स्वामी–सेवक भाव आ चला था। **द्वापर–युग** में निकृष्ट भाव होने लगे और मानव–समूह नाना वर्णों में विभक्त हो गया। **कलयुग** में तो स्थिति और भी बदतर हो गयी। शिष्ट लोगों ने क्रिया–विशेष का ध्यान रखकर व्यवहार चलाने के लिए दया, अभिरक्षा, कृषि और शिल्प के आधार पर चार वर्ण कहे हैं, अन्यथा वर्ण–चतुष्टय बनता ही नहीं।[5]

रविषेणाचार्य (676 ई.) ने पूर्वोक्त अनुश्रुति तो सुरक्षित रखी, किन्तु उसके साथ वर्णों का सम्बन्ध जोड़ दिया। उन्होंने लिखा है कि – "ऋषभदेव ने जिन व्यक्तियों को रक्षा–कार्य में नियुक्त किया, वे लोक में **क्षत्रिय** कहलाये, जिन्हें वाणिज्य, कृषि, गो–रक्षा आदि व्यापारों में

नियुक्त किया, वे **वैश्य** तथा जो शास्त्रों से दूर भागे और हीन काम करने में लगे, वे **शूद्र** कहलाये।[6] **हरिवंश पुराण** में **जिनसेनसूरि (783 ई.)** ने रविषेणाचार्य के कथन को ही दूसरे शब्दों में दोहराया है।[7]

इस प्रकार कर्मणा वर्ण–व्यवस्था का प्रतिपादन करते रहने के बाद भी उसके साथ चतुर्वर्ण का सम्बन्ध जुड़ गया और उसके प्रतिफल स्वरूप सामाजिक जीवन और श्रौत–स्मार्त मान्यताएँ जैनसमाज और जैनचिन्तकों को प्रभावित करती गयीं। एक शताब्दी बीतते–बीतते यह प्रभाव जैन जनमानस में इस तरह बैठ गया कि नवमी शताब्दी में जिनसेन ने उन सब मन्तव्यों को स्वीकार कर लिया और उन पर जैनधर्म की छाप भी लगा दी। जिनसेन पर श्रौत–स्मार्त प्रभाव की चरम सीमा वहाँ दिखाई देती है, जब वे इस कथन का जैनीकरण करने लगते हैं कि "ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, ऊरू से वैश्य तथा पैरों से शूद्रों की उत्पत्ति हुई।" वे लिखते हैं कि ऋषभदेव ने अपनी भुजाओं में शस्त्र–धारण करके क्षत्रिय बनाये, ऊरू द्वारा यात्रा का प्रदर्शन करके वैश्यों की रचना की तथा हीन काम करने वाले शूद्रों को पैरों से बनाया। मुख से शास्त्रों का अध्यापन कराते हुए भरत ब्राह्मणवर्ण की रचना करेगा।[8] एक तो समाज में श्रौत–स्मार्त प्रभाव स्वयं बढ़ता जा रहा था। दूसरे उस पर जैनधर्म की छाप लग जाने से और भी दृढ़ता आ गयी।

आचार्यश्री ने वीरोदय में लिखा है कि काल परिवर्तन के फलस्वरूप इस धरातल पर क्रम से चौदह मनु उत्पन्न हुए, जिन्हें कुलकर कहा जाता है। उन में अन्तिम मनु नाभिराय हुए। इनकी स्त्री मरूदेवी ने एक महान पुत्र को जन्म दिया, जिसे पुराणों ने **'ऋषभ'** इस नाम से पुकारा। उस समय के लोगों की पारस्परिक कलह पूर्ण दुखित दीन–दशा देखकर महात्मा ऋषभ ने उन्हें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र–तीनों वर्गों में विभक्त कर उनके जीवन–निर्वाह की समुचित व्यवस्था की। यथा –

वीक्ष्येदृशीमंगभृतामवस्थां तेषां महात्मा कृतवान् व्यवस्थाम्।
विभज्य तान् क्षत्रिय–वैश्य–शूद्र–भेदेन मेधा–सरितां समुद्रः।। 13।।

–वीरो.सर्ग.18।

लोगों को दुःखी देखकर ऋषभदेव ने दया से द्रवीभूत होकर सेवा–परायण **शूद्रों को** नाना प्रकार की शिल्प कलायें सिखलाईं, **वैश्यों को** पशु पालना, खेती करना सिखाया तथा अर्थ–शास्त्र की शिक्षा देकर प्रजा के भरण पोषण का भार सौंपा। **क्षत्रियों को** नीतिशास्त्र की शिक्षा देकर उन्हें प्रजा के संरक्षण का भार सौंपा।

यस्यानुकम्पा हृदि तूदियाय स शिल्पकल्पं वृषलोत्सवाय।
निगद्य विड्भ्यः कृषिकर्म चायमिहार्थशास्त्र नृपसंस्तवाय।। 14।।

–वीरो.सर्ग18।

ऋषभदेव ने समय के विचार से लोकोपकारी शास्त्रों की रचना कर जगत के कष्टों को दूर किया, उन्हें योग (आवश्यक वस्तुओं को जुटाना) और श्रेय (प्राप्त वस्तुओं का संरक्षण करना) सिखाया। प्रजा की जीविका और सुरक्षा–विधि का विधान करने से वे ऋषभदेव जगत के विधाता, सृष्टा या ब्रह्मा कहलाये।

परिवार

परिवार एक आधारभूत सामाजिक समूह है। उसके कार्यों का विस्तृत स्वरूप विभिन्न समाजों में अलग–अलग होता है। फिर भी उनके मूलभूत कार्य सब जगह समान ही होते हैं। यह भावनात्मक घनिष्ठता का वातावरण बनाता है तथा बालक के समुचित पोषण व सामाजिक विकास के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि देता है। इस प्रकार सामाजिक गठन में परिवार का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। परिवार सामाजिक जीवन की रीढ़ है तथा एक सार्वभौमिक संस्था है। मनुष्य का समुचित रूपेण जीवन–यापन परिवार में ही सम्भव है। परिवारों का समूह ही समाज है।

समन्वयात्मकता भारतीय संस्कृति की विशेषता है। इसी के कारण यहाँ संयुक्त परिवार की परम्परा है। मनुष्य का जन्म, लालन–पालन, रहन–सहन आदि कार्य परिवार द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। परिवार में पति–पत्नी के अतिरिक्त माता–पिता, भाई–बहिन, पुत्र–पुत्री आदि होते हैं। इनमें पारस्परिक सम्बन्ध मधुर होते हैं। व्यक्ति के समाजीकरण की

प्रक्रिया में परिवार का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। मातृ–स्नेह, पितृ–प्रेम, दाम्पत्य–आसक्ति, सन्तान–वात्सल्य, सहयोग और संघर्ष परिवार के मुख्य आधार हैं। इन्हीं आधारों पर परिवार का प्रासाद निर्मित होता है। संयुक्त पारेवार के तीन घटक हैं। (1) दाम्पत्य सम्बन्ध, (2) माता–पिता व सन्तान का सम्बन्ध, (3) भाई–भाई या भाई–बहिन का संबंध।

भारत में प्राचीन काल से ही संयुक्त परिवार प्रथा रही है। परिवार के सभी सदस्य एक ही स्थान पर रहते थे, एक जगह बनाया हुआ भोजन करते थे तथा सभी एक दूसरे की भावनाओं का आदर करते थे। सबसे बड़ा व्यक्ति (पिता) ही परिवार का मुखिया होता था। सभी उनकी आज्ञा का पालन करते थे। माता गृहस्वामिनी होती थी, जो परिवार के सभी कार्यों का ध्यान रखती थीं। प्राचीन काल में परिवार की आय का मुख्य स्त्रोत कृषि कार्य था। सभी परिजन कृषि कार्य करते थे। महिलाएं गृहकार्य बच्चों की देखभाल तथा वृद्धों की सेवा–शुश्रूषा किया करती थी। वर्तमान में संयुक्त परिवारों का विघटन होता जा रहा है। व्यक्ति गांवों में ही संयुक्त परिवारों में रहते हैं, जबकि शहरों में अधिकांश अकेले ही रहते हैं। आज के युग में हर पढ़ा लिखा व्यक्ति शहरों में काम करना चाहता है। अतः वह अपना घर–परिवार छोड़कर शहरों में अकेला ही रहता है। प्राचीनकाल में नारी घर की चहार–दीवारी में बंद रहती थी। पर अब वह शिक्षा प्राप्त कर नये–नये व्यवसायों से जुड़ रही है, जिससे वह भी संयुक्त परिवारों में किसी के अधीन नहीं रहना चाहती।

आचार्यश्री ने वीरोदय में राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी के दाम्पत्य जीवन के अत्यन्त मधुर सम्बन्धों का चित्रण किया है। राजा सिद्धार्थ को रानी प्राणों से भी प्यारी थी और रानी को राजा भी प्राणों से प्रिय था। उन दोनों में परस्पर अत्यन्त अनुराग था। यथा –

असुमाह पतिं स्थितिः पुनः समवायाय सुरीतिवस्तुनः।
स मतां ममतामुदाहरदजडः किन्तु समर्थकन्धरः।। 35।।

–वीरो.सर्ग.3।

राजा–रानी सुख–दुख में परस्पर सहयोग किया करते थे। रानी प्रियकारिणी का राजा सिद्धार्थ सम्मान करते थे तथा रानी भी राजा के अनुकूल आचरण करती थी। प्रियकारिणी को गर्भवती जानकर राजा अत्यन्त प्रसन्न होता है, सोलह स्वप्नों का फल बताता है तथा तीर्थंकर की माता बनने पर अत्यन्त प्रसन्न होता है।

पितृ–सन्तति के रूप में भी राजा सिद्धार्थ एक आदर्श पिता हैं। वीर प्रभु के जन्म पर राजा ने पूरे नगर में जन्मोत्सव मनाया। पुत्र पर उनका अत्यन्त स्नेह भी था। पुत्र की बाल–लीलाओं को देखकर वे बहुत हर्षित होते थे। वीर प्रभु पर राजा का स्नेह इतना अधिक था कि उनके द्वारा विवाह–प्रस्ताव को अस्वीकार कर देने पर भी वे उन्हें दिगम्बरी दीक्षा की अनुमति दे देते हैं।

इस प्रकार वीरोदय महाकाव्य में दाम्पत्य जीवन की सुन्दर झाँकी है। यह वर्तमान में संयुक्त परिवारों के विघटन तथा पारिवारिक सम्बन्धों को सुधारने में प्रेरक है। राजा–रानी का मधुर सुखी दाम्पत्य–जीवन दर्शाता है कि यदि परिवार में सामंजस्य स्थापित करना है, तो दोनों को एक दूसरे की भावनाओं का सम्मान और एक दूसरे के अनुकूल आचरण करना चाहिए तभी दाम्पत्य–सम्बन्धों में मधुरता आ सकती है। परिवार में समन्वय व सामंजस्य की भावना से पारिवारिक सम्बन्ध भी सुदृढ़ व विकसित होते हैं। जैनागमों में मित्र, ज्ञाति–निजक, स्वजन, और परिजनों का उल्लेख भी मिलता है। जैसे–जैसे पिता वयोबृद्ध होते थे, परिवार की देख–रेख का बोझ ज्येष्ठ पुत्र पर पड़ता था। लोग अपने पुत्रों को घर का भार सौप कर दीक्षा ले लेते थे। जन्म, विवाह, मरण तथा विविध उत्सवों पर स्वजन–संबंधियों को निमंत्रित किया जाता था। महावीर के जन्म के समय उनके माता–पिता ने अनेक मित्रों, सम्बन्धियों, स्वजनों और अनुयायियों को आमन्त्रित कर खूब आनन्द मनाया था। **यथा –**

जिनचन्द्रमसं प्रपश्य तं जगदाह्लादकरं समुन्नतम्।
करकंजयुगं च कुड्मलीभवदिन्द्रस्य बभौ किलाऽच्छलि।। 15।।

–वीरो.सर्ग.7।

इसी प्रकार देवताओं ने भी कुण्डनपुर आकर जगत् को आह्लादित करने वाले पूर्णमासी के चन्द्रमा के समान समुन्नत जिन–चन्द्र को देखकर आनन्द का अनुभव किया था।

समाज व सामाजिक संगठन

अमरकोश के अनुसार **'पशुभिन्नानां संघः'** पशु–पक्षी से भिन्न मानवों का समुदाय या संघ समाज है। समाज शब्द व्यापक है। व्यक्तियों के विश्वास एवं स्वीकृतियाँ समाज में विद्यमान होती हैं।

सामाजिक सम्बन्धों का एक निश्चित स्वरूप है। सृष्टि का सबसे बड़ा विकसित रूप मानव–जीवन है। कर्त्तव्यों का निर्वाहन, जीवन–विस्तार का सर्वोत्तम रूप है। समाज का गठन जीवन्त मानव के अनुरूप होता है। समाज के लिए कुछ मान्य नियम या स्वयं सिद्धियाँ होती हैं, जिनका पालन उस समुदाय विशेष के व्यक्तियों को करना पड़ता है। जिस समुदाय में एक–सा धर्म, संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, रीति–रिवाज समान धरातल पर विकसित और वृद्धिंगत होते हैं, वह समुदाय एक समाज का रूप धारण करता है। विश्व बन्धुत्व की भावना जितनी अधिक बढ़ती जाती है, समाज का क्षेत्र उतना ही अधिक विस्तृत होता जाता है। भावनात्मक एकता ही समाज–विस्तार का घटक है।

मनुष्य का विस्तार क्षुद्र से विराट् की ओर होता है। सुख–दुख की धारणाओं को समत्व रूप में जितना अधिक बढ़ने का अवसर मिलता है, समाज की परिधि उतनी ही बढ़ती जाती है। व्यक्ति–केन्द्रित चेतना जब समष्टि की ओर मुड़ती है, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का संकल्प जागृत होता है, पास्परिक सुख–दुःखात्मक अनुभूति की संवेदनशीलता बढ़ती है, तो सामाजिकता का विकास भी होता जाता है।

समाज एक व्यक्ति के व्यवहार पर निर्भर नहीं करता, किन्तु बहुसंख्यक मनुष्यों के व्यवहारों के आधार पर ही उसका गठन होता है। वस्तुतः समाज, मनुष्यों की सामुदायिक क्रियाओं, सामूहिक हितों, आदर्शों एवं एक ही प्रकार की आचार–प्रथाओं पर अवलम्बित है। अनेक व्यक्ति जब एक ही प्रकार की जनरीतियों (folk ways) और रूढियों (Moreo) के

अनुसार अपनी प्रवृत्ति करने लगते हैं, तो विभिन्न प्रकार के सामाजिक संगठन जन्म ले लेते हैं, जिसमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यों, उत्सवों, संस्कारों एवं सामाजिक सम्बन्धों का समावेश रहता है। कतिपय मनुष्यों के व्यवहार और विश्वासों का एक ही रूप में अधिक समय तक प्रचलन सामाजिक संस्थाओं को उत्पन्न करता है।

सामाजिक संगठन

समाज की उत्पत्ति व्यक्ति की सुख–सुविधाओं हेतु होती है। जब व्यक्ति के जीवन में अशान्ति का भीषण ताण्डव बढ़ जाता है, भोजन, वस्त्र और आवास की समस्यायें विकट हो जाती हैं, जिनकी पूर्ति व्यक्ति अकेला नहीं कर सकता, तब वह सामाजिक संगठन प्रारम्भ करता है। भोग और लोभ की कामना विश्व के समस्त पदार्थों को जीवन–यज्ञ के लिए विष बनाती है तथा प्रभुता की पिपासा विवेक को तिलांजलि देकर कामनाओं की वृद्धि करती है। अहं–भावना व्यक्ति में इतनी अधिक है, जिससे वह अन्यों के अधिकारों की पूर्ण अवहेलना करता है। अहंवादी/अहंकारी की दृष्टि अपने अधिकारों एवं दूसरों के कर्त्तव्यों तक ही सीमित रहती है। फलतः व्यक्ति को अपने अहंकार की तुष्टि के लिए समाज का आश्रय लेना पड़ता है।

आचार्यश्री के काव्यों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि उन्हें ऐसा समाज प्रिय है, जहाँ लोगों में धर्म एवं मानवता के प्रति आस्था हो तथा भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व अधिकाधिक मात्रा में हों। समाज में संगठन हो। **मुनियों** का कर्त्तव्य समाज में धर्म के प्रति लोगों में चेतना जागृत करना हो। **शासक**, प्रजारंजन करते हुए राज्य करें, **वणिक–जन** अर्थव्यवस्था को संभालें। **सेवक** तीनों श्रेणियों के लोगों की सेवा करें। अतः स्पष्ट है कि आचार्यश्री भारत में प्रचलित वर्णव्यवस्था को मानते हैं।[9]

आचार्यश्री ज्ञानसागर के अनुसार नगरीय समाज की अपेक्षा ग्रामीण समाज में सरलता एवं सौहार्द के दर्शन अधिक होते हैं। जिस अनाथ बालक के विषय में सुनकर सेठ गुणपाल उसे मारने को तत्पर हो जाते हैं उसी बालक को देखकर बस्ती में रहने वाले गोविन्द ग्वाले के मन में दया एवं वात्सल्य का स्रोत उमड़ने लगता है।

वीरोदय में नीतिगत व्यवस्थाएँ

राजनैतिक व्यवस्था – किसी राज्य के संचालन की रीति को ही **राजनीति** कहते हैं। राजनीति प्रत्येक शासक की अलग–अलग होती है। किसी राज्य की नीति सफल होती है और किसी की असफल। सफल राजनीति वह है, जिसके अनुसार राजा प्रजा पर नियन्त्रण भी कर सके और उसे वात्सल्य भी दे सके। इस प्रकार की नीति में विद्रोह की सम्भावना नहीं रहती।

आचार्य ज्ञानसागर को इस बात का पूरा–पूरा ज्ञान है कि राजा का प्रजा के प्रति और प्रजा का राजा के प्रति क्या–क्या कर्त्तव्य होने चाहिए ? एक मुनि द्वारा राजकुमार जयकुमार को दिये गये उपदेश में कवि की इस राजनैतिक विचारधारा का ज्ञान हो जाता है। उसके अनुसार राजा को अपने सेवकों से उचित व्यवहार करना चाहिए। दान, सम्मान आदि से शत्रुओं को भी अपने वश में कर लेना चाहिए। जयोदय महाकाव्य में मुनि द्वारा जयकुमार को इस प्रकार उपदेश दिया गया है –

दानमानविनयैर्यथोचितं तोषयन्निह सधर्मि–संहतिम्।
कृत्यकृद्विमतिनोऽनुकूलयन् संलभेत गृहिधर्मतो जयम्।। 72।।

–जयो.सर्ग.2।

राजा यथायोग्य रोति से दान–सम्मान और विनय द्वारा न केवल समानधर्मी लोगों को सन्तुष्ट रखे बल्कि विधर्मी लोगों को भी अपने अनुकूल बनाये रखे तथा अपने गृहस्थ धर्म पर विजय प्राप्त करे।

जो राजा प्रजा के हित का ध्यान रखता है, योग्य व्यक्ति को ही कार्य सौंपता है, और सोच–विचार कर ही कार्य करता है, उसके ही राज्य में प्रजा सुखी होती है एवं उसके ही प्रति प्रजा में भक्ति भावना उदित होती है। राजा सिद्धार्थ, चक्रवर्ती भरत एवं वृषभदत्त ऐसे ही प्रजावत्सल शासक हैं। सम्राट भरत तो राजनीति में अत्यधिक निपुण हैं। अधीनस्थ राजाओं से उनके ऐसे पारिवारिक सम्बन्ध है कि वे उनके विरूद्ध विद्रोह करना तो दूर उसकी सोच भी नहीं सकते।

राजा को **प्रजावत्सल** एवं **राजनिपुण** होने के साथ ही साथ, **दूरदर्शी** भी होना चाहिए। उसे न केवल बाह्य लोगों की अपितु अन्तःपुर के वृत्तान्तों की भी पूर्ण जानकारी होनी चाहिए। राजा को व्यक्ति की **पूरी परख** होनी चाहिए, अन्यथा अन्तःपुर में होने वाले भ्रष्टाचारों के लिए सुदर्शन जैसे निरपराध प्रजाजन दोषी ठहराये जाते हैं। राजाओं को भी चाहिए कि वह वास्तविक अपराधी को खोजकर न्यायपूर्वक **दण्ड की व्यवस्था** करे। सुदर्शनोदय महाकाव्य में अपराधी का चित्रण करते हुए कवि ने लिखा है कि सुदर्शन को मारने के लिए हाथ में तलवार लेकर राजा जैसे ही उद्यत हुआ उसके अभिमान का नाश करने वाली आकाश वाणी इस प्रकार प्रकट हुई –

जितेन्द्रियो महानेषस्वदारेष्वस्ति तोषवान्।
राजन्निरीक्ष्यतामित्थं गृहच्छिद्रं परीक्ष्यताम्।। 10।।

–सुदर्शनो. सर्ग.8।

हे राजन्! सुदर्शन अपनी ही स्त्री में सन्तुष्ट रहने वाला महान जितेन्द्रिय पुरूष है, यह निर्दोष है। अपने ही घर के छिद्र को देखो और यथार्थ रहस्य का निरीक्षण करो।

राज्य संचालन का प्रमुख अधिकारी राजा होता है। कवि ने न्यायाधीश के रूप में भी राजा को ही स्वीकार किया है। राजा को सलाह देने के लिए एक **मंत्रि–मण्डल** भी होना चाहिए। अर्थ–व्यवस्था चलाने के एक **राज–सेठ** का पद भी कवि को मान्य है। राज्य की सुरक्षा हेतु कवि को **सेनापति** पद भी स्वीकार्य है। संदेशों को इधर–उधर भेजने के लिए **दूतों की** भी अच्छी व्यवस्था होनी चाहिए। प्रजा को राजा के नियन्त्रण में रहना चाहिए। राजा की ओर से प्रसारित आज्ञा का प्रत्येक को पालन करना चाहिए। कवि ने आज्ञाकारी प्रजाजन के रूप में सोमदत्त को प्रस्तुत किया है, जो राजा की आज्ञा प्राप्त होने पर राजकुमारी से विवाह की विनम्र स्वीकृति देता है।[10]

युद्ध के सम्बन्ध में भी कवि की धारणा है कि जब प्रतिपक्षी राजा युद्ध करने पर उतारू हो जाए तो पीठ दिखाने की अपेक्षा युद्ध ही करना

चाहिए। योद्धाओं को परस्पर समान शस्त्र एवं वाहन का प्रयोग करना चाहिए। युद्ध–समाप्ति पर मृत व्यक्तियों का अन्तिम संस्कार एवं घायलों का उपचार भी करना चहिए। **यथा** –

मिथोऽत्र सम्मेलनकं समर्जन्नस्मै जनो वाजिनमुत्ससर्ज।
अहो पुनः प्रत्युपकर्तुमेव मुदा ददौ वारणमेष देवः।। 65।।

–जयो.सर्ग.8।

जयोदय महाकाव्य में युद्ध के सम्बन्ध में लिखा है कि जयकुमार के ऊपर किसी ने वाण फेंका तो जयकुमार ने बीच में ही उसका निवारण कर लिया। एक वीर ने दूसरे वीर को जमीन पर गिरा दिया। वह गिरा हुआ मनुष्य एक दम साहस कर उठा और उसने दूसरा पैर पकड़ कर उसे आकाश में उछाल दिया। स्पष्ट है कि कवि ऐसी राजनैतिक व्यवस्था चाहता है, जिसमें प्रजा की खुशहाली एवं अधीनस्थ राजाओं पर मधुर नियन्त्रण रह सके।

दण्ड व्यवस्था

वीरोदय महाकाव्य में कवि ने एक स्थान पर राजा सिद्धार्थ की दण्ड–व्यवस्था का उल्लेख किया है। राजा सिद्धार्थ के समय दण्ड–व्यवस्था इतनी कठोर थी कि यदि राजा किसी पर क्रोधित हो जाए तो उसको दण्ड से बचाने में कोई समर्थ नहीं था। इसलिए शत्रु आदि स्वयं राजा का आश्रय लेते थे।

भुजंगतोऽमुष्य न मन्त्रिणोऽपि असेः कदाचिद्यदि सोऽस्तु कोपी।
त्रातुं क्षमा इत्यरयोऽनुयान्ति तदंघ्रिचन्चन्नखचन्द्रकान्तिम्।। 10।।

–वीरो.सर्ग.3।

भ. महावीर के उपदेशों में भी (16/19) राजा के कर्त्तव्यों में दण्ड–व्यवस्था का उल्लेख है –

'नृपः सन् प्रदद्यान्न दुष्टाय दण्डं क्षतिः स्यान्मुनेरेतदेवैम्य मण्डम्।। 19।।'

राजा होकर भी यदि दुष्टों को दण्ड न दे तो यह उसका अकृत्य है।

अर्थ व्यवस्था

किसी भी राज्य की अर्थ–व्यवस्था का ज्ञान उस राज्य के बाजारों की समृद्धि, पशुपालन व्यवस्था तथा उत्पादन क्षमता के आधार पर किया जा सकता है। यह सत्य है कि राजाओं का बल राजकोष होता है जिसके बिना राज्य की समृद्धि संभव नहीं है।

वीरोदय में भी तत्कालीन अर्थव्यवस्था का कोई विशद परिचय तो नहीं मिलता, किन्तु इतना पता अवश्य चलता है कि तत्कालीन अर्थव्यवस्था अत्यन्त सुदृढ़ थी। भ. ऋषभदेव ने जो षट्कर्मों की शिक्षा अपने काल में दी थी, वह इस काल तक न केवल अत्यन्त विस्तार को बल्कि अत्यन्त गहनता को भी प्राप्त हो चुकी थी। वीरोदय की अर्थ व्यवस्था के बिन्दु इसप्रकार हैं –

1. बाजार

वीरोदय (सर्ग–2) में वर्णित बाजारों की समृद्धि का ज्ञान इस बात से होता है कि वहाँ नगर के बाजारों में दुकान के बाहर पग–पग पर लगाये गए स्तूपाकार रत्नों के ढेर लक्ष्मी के क्रीड़ा–पर्वतों के समान सुशोभित हो रहे थे तथा बाजारों के मध्य स्थान–स्थान पर प्याऊ तथा फलदार वृक्ष लगे थे।

कुण्डनपुर के बाजारों की शोभा की तुलना कवि ने उत्तम काव्य से की है। काव्य–रसों के समान बाजार भी धन–सम्पत्ति से युक्त है। काव्य के पदविन्यास के समान ही बाजार भी संकीर्णता रहित स्पष्ट चौड़ी–2 सड़कों से युक्त हैं। भिन्न काव्यार्थ के समान ही बाजार भी नये–नये अनेकों पदार्थों से भरे हैं तथा काव्यार्थ के छल रहित होने के समान ही बाजार भी निष्कपट हैं। आचार्यश्री ने निष्कपट शब्द का प्रयोग किया है। यहाँ इसका अर्थ बहुमूल्य वस्त्रादि होता है, छल माया रहित भी होता है।

वणिक्पथः काव्यतुलामपीति श्रीमान्संकीर्णपदप्रणीतिः।
उपैत्यनेकार्थगणैः सुरीतिं समादधन्निष्कपटप्रतीतिम्।। 26।।

–वीरो.सर्ग.2।

इससे सिद्ध होता है कि वहां के बाजार, बहूमूल्य पदार्थों से भरे रहते थे तथा वहाँ लोगों के मन में किसी भी प्रकार की बेईमानी/छल नहीं था। क्रेता व विक्रेता के मध्य विश्वास की एक मजबूत कड़ी थी। आचार्यश्री ने एक स्थान पर तुला शब्द का भी प्रयोग किया है। इससे पता चलता है कि वस्तुएँ तौल कर दी जाती थीं, किन्तु उनके साधन बांट का पता नहीं चलता।

2. मार्ग

राज्यान्तर्गत विभिन्न नगरों व ग्रामों में गमन हेतु मार्गों की व्यवस्था भी थी, उन के दोनों ओर छायादार व फलदार वृक्षों की कतारें थीं जो ग्रीष्मकाल में सुखद छाया के साथ–साथ क्षुधा की बाधा भी दूर करते थे। स्थान–स्थान पर प्याऊ बनाई गई थी, जो पथिकों की प्यास बुझाती थीं। मार्ग के दोनों ओर धान्यादि से भरे हरे–भरे खेत दृष्टिगोचर होते थे। कहीं–कहीं वापिकाएँ भी थीं, जो न केवल खेतों की सिंचाई के काम आती थी, अपितु यात्रियों के स्नानादि के लिए भी उपयोगी थीं।

सांस्कृतिक व्यवस्था

महाकवि आचार्य ज्ञानसागर की प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति गहन आस्था है। वे वेद–वेदांगों की शिक्षा पर विश्वास करते हैं। परन्तु उन्होंने कर्मकाण्ड में की जाने वाली हिंसा की कठोर निन्दा की है और **'अजैर्यष्टव्यम्'** का अहिंसापरक अर्थ समझाने का उन्होंने प्रयास किया है। उनकी दृष्टि मे इस वेद–वाक्य का अर्थ है – "न उगने योग्य पुरानी धान्य से यज्ञ करना चाहिये।"

कवि का **पुर्नजन्म एवं कर्मफल में सुदृढ़ विश्वास** है। उनके अनुसार अपने इस जन्म में जो जैसा करता है, दूसरे जन्म में उसको उसी के अनुसार फल भोगने पड़ते हैं। धनकीर्ति ने पूर्वजन्म में एक मछली को जीवन दान दिया था। अतः वर्तमान जन्म में वह बार–बार मृत्यु के मुख से बचता रहा। श्रीभूति पुरोहित ने वैश्यपुत्र का धन हड़पने का प्रयत्न किया। इसलिए वह बार–बार कुयोनियों में जन्म ले–लेकर भटकता रहा।

श्री ज्ञानसागर की **जिनेन्द्रदेव के प्रति दृढ़ भक्ति** है। उनके संस्कृत–भाषा में लिखे गये प्रत्येक ग्रन्थ का शुभारम्भ ही जिनदेव की स्तुति से हुआ है। उनके काव्यों के नायक भ. जिनेन्द्रदेव के भक्त हैं। इसके अतिरिक्त पात्रों द्वारा किया गया जिनदेव का पूजन भी कवि की भगवान जिनेन्द्र में आस्था को अभिव्यक्त करता है। भगवान जिनेन्द्र की मूर्तियों एवं जिनालयों पर कवि की आस्था भी स्पष्ट है।[11] प्रायः सनातन धर्मावलम्बी हिन्दुओं की बालिकाएं अपने विवाह के अवसर पर सर्वप्रथम गौरी पूजन के लिए जाती हैं, परन्तु कवि ने ऐसे अवसर पर **जिनपूजन की प्रेरणा** दी है। 'जयोदय' की नायिका सुलोचना अपने विवाह के अवसर पर श्री जिनदेव के ही पूजन हेतु जाती है। यथा –

पूर्वमत्र जिनपुंगवपूजामाचचार नृपनाथ–तनूजा।
यत्र भूत्रयपतेरथ भक्तिः सैव सम्भवति सत्कृतपक्तिः।। 63।।

–जयो.सर्ग.5।

सुलोचना ने पहले भगवान जिनेन्द्रदेव की पूजा की, क्योंकि जहाँ भी त्रिभुवनपति भगवानकी भक्ति हुआ करती है, वहीं पूर्ण रूप से पुण्य का परिपाक होता है।

मंत्र–शक्ति पर भी कवि का विश्वास है। **'णमो अरिहंताणं'** इस मंत्र के बल से ही एक ग्वाले ने सेठ के पुत्र के रूप में जन्म लिया और जिन–भक्ति के फलस्वरूप मोक्ष भी प्राप्त किया। गारूड़िक ने अपनी मन्त्र–शक्ति से ही राजा सिंहसेन को काटने वाले दुष्ट सर्प की पहिचान की।[12]

कवि ने इन्द्राणी, श्री ह्री आदि देवियों, एवं इन्द्र, कुबेर इत्यादि देवगणों की भी सत्ता स्वीकार की है। जिस प्रकार सनातन धर्म वाले इन देव–देवियों को ब्रह्मा, विष्णु और महेश के शासन में स्वीकार करते हैं, उसी प्रकार कवि ने अपनी परम्परानुसार इन देव–देवियों को जिनेन्द्रदेव का सेवक बताया है। कवि ने मानव–जाति के अतिरिक्त एक और जाति बताई है – व्यन्तर एवं व्यन्तरी। कवि के अनुसार जब कोई व्यक्ति प्रतिशोध की भावना से आत्मघात करता है तब उसका इसी योनि में जन्म होता है। इस

योनि का स्वभाव प्रतिपक्षी के साथ दुर्व्यवहार करने का ही होता है। श्रीज्ञानसागर का **ज्योतिर्वित् एवं ज्योतिष, दोनों पर ही विश्वास है।** उनके अनुसार प्रत्येक शुभकार्य के लिए देवज्ञों से अथवा स्वयं मुहूर्त जान लेना चाहिए।[13]

हिन्दू–संस्कृति के **सोलह संस्कारों पर उनकी आस्था** है। उनके अनुसार नामकरण, विद्यारम्भ, विवाह आदि संस्कार उचित समय पर ही होने चाहिए। जयकुमार और सुलोचना के विवाह के अवसर पर वर को विवाह मण्डप में बुलाना, मन्त्रोचारण पूर्वक पाणि–ग्रहण कराना, बारात का सहर्ष स्वागत करना और हर्षमय विधान सहित वर–वधू को विदा करना आदि बातों का वर्णन यह बताता है कि कवि को प्राचीनकाल से चली आ रही इन परम्पराओं पर पूरा विश्वास है। यथा –

नृपधाम्नि सुदाम्नि सुन्दरप्रतिसारः खलु कार्यविस्तरः।
शयसन्नयनोचितोक्तिभृद् रचितोऽथान्तमितोऽपि तोषकृत्।। 1।।
बन्धुभिर्बहुधाऽऽदृत्य मृदुमंगलमण्डपम्।
उपनीतः पुनर्भव्यो गुरूस्थानमिवालिभिः।। 85।।

–जयो.सर्ग.10।

स्वप्न–दर्शन पर भी अपनी पूर्व–परम्परा के अनुसार उन्हें **अत्यधिक विश्वास** है। तीर्थंकर की माता जन्म से पूर्व सोलह स्वप्न देखती है और अन्तःकेवली की माता पुत्र जन्म से पूर्व पाँच स्वप्न देखती है। महाकवि की आस्था है कि ये स्वप्न उत्पन्न होने वाले पुत्र की विशेषताओं का स्पष्ट संकेत देते हैं।

श्री ज्ञानसागर ने व्यक्ति के **पूर्वजन्मों को भी माना है।** उनके प्रत्येक काव्य में पात्रों के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित कथाएँ इसकी पुष्टि करती हैं। ज्ञानसागर जी राजा एवं मुनिजनों को राष्ट्र का सम्माननीय व्यक्ति मानते हैं। राजा जिस मार्ग से भी निकले, प्रजा को उसका स्वागत करना चाहिए। त्याग की साक्षात् प्रतिमा मुनि तो न केवल जनसामान्य के ही, अपितु राजा के भी पूज्य होते हैं। समुद्रदत्तचरित में आचार्यश्री ने लिखा है –

रवेरिवात्मैककवेरूदार – भूतेऽनुभूते स मुदोऽधिकारः।
उद्यान–सम्पालककुक्कुटेनाऽपराजितः कोक इवागमेन।। 34।।

–समुदत्त च.सर्ग.6।

बगीचे के रक्षक माली ने जैसे ही राजा को सूचना दी कि "आत्मध यानी मुनि आपके बगीचे में बिराजे हैं" – यह सुनकर अपराजित राजा उसी प्रकार प्रसन्न हुआ जैसे मुर्गे की आवाज से सूर्य का उदय जानकर चकवा पक्षी प्रसन्न होता है।

वह **त्यागोन्मुख भोग पर ही विश्वास करते हैं**। हिन्दू–संस्कृति के अनुसार वे भी यह मानते हैं कि पुत्र के राज्याभिषेक के पश्चात् पुरूष को तपस्या हेतु तपोवन में चला जाना चाहिए। आचार्य ज्ञानसागर अतिथि–वत्सल भी हैं। सोमदत्त का पालित पिता गोविन्द ग्वाला गुणपाल के विषय में बिना जाने ही उसका अतिथि सत्कार करता है और सोमदत्त को भी उसकी सेवा में नियुक्त कर देता है। कवि ने जल–क्रीड़ा, पतंग क्रीड़ा एवं शतरंज–क्रीड़ा के सन्दर्भ में भी अपने ज्ञान का परिचय दिया है जो उनकी **मनोरंजन–प्रियता** का परिचायक है। कवि के अनुसार विवाह के समय कन्या को सुन्दर वस्त्राभूषणों से सजाना चाहिए, विवाहादि के शुभ अवसरों पर मंगल–गीतों का प्रबन्ध होना चाहिए एवं दान भी देना चाहिए।

भारतीय त्यौहारों पर भी श्रीज्ञानसागर की आस्था है। इसलिये उन्होंने अपने काव्यों में झूला–झूलने और वसन्तोत्सव में वनविहार करने का उल्लेख किया है। कवि **संगीत–प्रेमी** भी हैं। भारतीय परम्परानुसार उनका विश्वास है कि राग एवं ताल में निबद्ध भजनों के गायन से देवता अवश्य ही भक्त की पुकार सुन लेते हैं। अतः जहाँ कहीं भी उनके मन में भक्ति–भाव जागृत हुआ है, वहाँ उन्होंने संगीतमय भजन अपने इष्ट देव को सुनाये हैं। महाकवि के मतानुसार संगीत हमारे मनोभावों एवं अन्तर्द्वन्द के प्रस्तुतीकरण में पर्याप्त सहायक होता है।

इस प्रकार आचार्यश्री ने नीतिगत व्यवस्था के अन्तर्गत राजनैतिक/

दण्ड/आर्थिक एवं सांस्कृतिक व्यवस्था का बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया है, जो कवि की कुशलता का परिचायक है।

समाज में अनुशासन

मानवता के भव्य–भवन का निर्माण अनुशासन द्वारा ही संभव है। वस्तुतः जहाँ अनुशासन है, वहीं अहिंसा है और जहाँ अनुशासन–हीनता है वहाँ हिंसा है। पारवारिक और सामाजिक जीवन का विनाश हिंसा द्वारा होता है। यदि धर्म से मनुष्य के हृदय की क्रूरता दूर हो जाये और अहिंसा से उसका अन्तःकरण निर्मल हो जाये तो जीवन में सहिष्णुता की साधना सरल हो जाती है।

वास्तव में अनुशासित जीवन ही समाज के लिए उपयोगी है। जिस समाज में अनुशासन का अभाव रहता है, वह समाज कभी भी विकसित नहीं हो पाता। अनुशासित परिवार ही समाज को गतिशील बनाता, प्रोत्साहित करता और आदर्श की प्रतिष्ठा करता है। संघर्षों का मूल कारण उच्छृँखलता या उद्दण्डता है। जब तक जीवन में उद्दण्डता आदि दुर्गुण रहेंगे, तब तक सुगठित समाज का निर्माण सम्भव नहीं है। समाज और परिवार की प्रमुख समस्याओं का समाधान भी अनुशासन द्वारा ही सम्भव है। आज शासन और शासित सभी का व्यवहार उन्मुक्त या उच्छृँखलित हो रहा है। अतः अतिचारी और अनियन्त्रित प्रवृत्तियों को अनुशासित करना आज आवश्यक है।

अनुशासन का सामान्य अर्थ है कतिपय नियमों सिद्धान्तों आदि का परिपालन करना, किसी भी स्थिति में उनका उल्लंघन न करना। जो व्यक्ति, परिवार और समाज के द्वारा पूर्णतः आचरित होता है, **अनुशासन** कहा जाता है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुव्यवस्था की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना मानव–समाज विघटित हो जायेगा और उसकी कोई भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी। जो व्यक्ति स्वेच्छा से अनुशासन का निर्वाह करता है, वह परिवार और समाज के लिए एक आदर्श उपस्थित करता है। जीवन के विशाल भवन की नींव अनुशासन पर ही अवलम्बित होती है।

पारस्परिक द्वेषभाव, गुटबन्दी, वर्गभेद, जातिभेद आदि अनुशासन–हीनता को बढ़ावा देते हैं और सामाजिक संगठन को शिथिल बनाते हैं। अतः सहज और स्वाभाविक कर्त्तव्य के अन्तर्गत अनुशासन को प्रमुख स्थान प्राप्त है। **अनुशासन जीवन को कलापूर्ण, शान्त और गतिशील बनाता है**। इससे परिवार और समाज की अव्यवस्थाएँ दूर होती हैं। अहिंसा, करूणा, समर्पण, सेवा–प्रेम, सहिष्णुता आदि के द्वारा ही पारिवारिक चेतना का सम्यक् विकास होता है। जन्म लेते ही मनुष्य पारिवारिक एवं सामाजिक कर्त्तव्यों/उत्तरदायित्वों से बँध जाता है। प्राणी–मात्र एक दूसरे से उपकृत होता है। जब हम किसी का उपकार स्वीकार करते हैं, तो उसे चुकाने का दायित्व भी हमारे ऊपर ही रहता है। यह आदान–प्रदान की सहजवृत्ति ही मनुष्यता, पारिवारिकता और सामाजिकता का मूल केन्द्र है। उसके सभी कर्त्तव्यों एवं धर्माचरणों का आधार भी है। राग और मोह आत्मा के लिए त्याज्य हैं, पर परिवार और समाज संचालन के लिए इनकी उपयोगिता है। जीवन सर्वथा पलायनवादी नहीं है। जो कर्मठ बनकर श्रावकाचार का अनुष्ठान करना चाहता है, उसे अहिंसा, सत्य, करूणा, सेवा–समर्पण आदि के द्वारा परिवार और समाज को दृढ़ करना चाहिए। दृढ़ीकरण की यह क्रिया ही दायित्वों या कर्त्तव्यों की श्रृँखला है।

आचार्यश्री ने वीरोदय महाकाव्य में राजा सिद्धार्थ का वर्णन करते हुये लिखा है कि उस राजा के राज्य में प्रजा पूर्ण सुखी व अनुशासित थी। यथा –

रवेर्दशाऽऽशापरिपूरकस्य करैः सहस्रैर्महिमा किमस्य।
समक्षमेकेन करेण चाशासहस्रमापूरयतः समासात्।।3।।

–वीरो.सर्ग.3।

अपने सहस्र करों (किरणों) से दशों दिशाओं को परिपूर्ण करने वाले सूर्य की महिमा इस सिद्धार्थ राजा के समक्ष क्या है ? जो कि एक ही कर (हाथ) से सहस्रों जनों की सहस्रों आशाओं को एक साथ परिपूर्ण कर देता है।

सामाजिक रीति–रिवाज

समाज के विभिन्न आदर्श और नियन्त्रण जनरीतियों, प्रथाओं और रूढ़ियों के रूप में पाये जाते हैं। अतः नियन्त्रण में व्यवस्था स्थापित करने एवं पारस्परिक निर्भयता बनाये रखने हेतु यह आवश्यक है कि उनको एक विशेष कार्य के आधार पर संगठित किया जाये। सामाजिक विरासत में स्थापित सामूहिक व्यवहारों का एक जटिल तथा घनिष्ठ संघठन है। सामूहिक हितों की रक्षार्थ एवं आदर्शों के पालनार्थ मनुष्य सामाजिक संस्थाओं को जन्म देता है। इनका मूल आधार निश्चित आचार, व्यवहार और समान हित–सम्पादन है। मनुष्य की सामाजिक क्रियाओं, सामूहिक हितों, आदर्शों एवं एक ही प्रकार के रीति–रिवाजों पर अवलम्बित समाज मनुष्यों को सामूहिक रूप से अपनी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार करने के लिए बाध्य कर देता है।[14]

नर–नारी, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मनुष्य हैं और सबकी अपनी–अपनी उपयोगिता है। जो इनमें भेद–भाव उत्पन्न करते हैं, वे सामाजिक सिद्धान्तों के प्रतिरोधी हैं। अतः समाज में शान्ति सुव्यवस्था तथा सामाजिक रीति–रिवाजों को स्थापित करने के लिए मानवमात्र को समानता का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।

वीरोदय में समानता व समता का महत्त्व

समानता व समता के विषय में वीरोदय में कहा है कि इस भूतल पर जन्म लेने वाला प्राणी चाहे मूर्ख हो या विद्वान, राजा हो या दास, गज हो या अज, (बकरा) सभी का इस पृथ्वी पर उतना ही अधिकार है, जितना आपका। मनुष्य को चाहिए कि वह विपत्ति के आने पर हाय–हाय न करे, न्यायोचित मार्ग से कभी च्युत न होवे और सदा प्रसन्न रहकर अपना कर्त्तव्य पालन करे।

अज्ञोऽपि विज्ञो नृपतिश्च दूतः गजोऽप्यजो वा जगति प्रसूतः।
अस्यां धरायां भवतोऽधिकारस्तावान् परस्यापि भवेन्नृसार।। 1।।

नरो न रौतीति विपन्निपाते नोत्सेकमेत्यभ्युदयेऽपि जाते।
न्याय्यात्पथो नैवमथावसन्नः कर्त्तव्यमञ्चेत्सततं प्रसन्नः।। 10।।

–वीरो.सर्ग.17।

मन्त्र और अन्धविश्वास

अन्धविश्वास प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में महत्त्वपूर्ण रहे हैं। कितने ही मंत्र, मोहनी विद्या, जादू आदि का उल्लेख जैनसूत्रों में आता है, जिनके प्रयोग से रोगी चंगे हो जाते, भूत–प्रेत भाग जाते, शत्रु हथियार डाल देते, प्रेमी और प्रेमिका एक दूसरे की ओर आकर्षित होते, स्त्रियों का भाग्य उदय हो जाता, युद्ध में विजय लक्ष्मी प्राप्त होती और गुप्त–धन मिल जाता है। जैनागमों के अन्तर्गत चतुर्दश पूर्वों में विद्यानुवाद पूर्व में विविध मंत्र और विद्याओं का वर्णन है।[15] **आचार्य भद्रबाहु** एक महान् नैमित्तिक थे, जो मंत्र–विद्या में कुशल थे। उन्होंने **"उपसर्ग–हर–स्त्रोत"** रचकर संघ के पास भेजा था, जिससे कि व्यंतरदेवों का उपद्रव शान्त हो सके।[16]

जैन श्रमणों की ऋद्धियाँ एवं विद्याएँ

जैनश्रमणों की ऋद्धि–सिद्धियों के उल्लेख जैन–सूत्रों में मिलते हैं। कोष्ठबुद्धि का धारक श्रमण एक बार सूत्र का अर्थ जान लेने पर उसे नहीं भूलता था। जंघा–चारण मुनि अपने तपोबल से आकाश में गमन कर सकते थे और विद्याचरण मुनि अपनी विद्या के बल से दूर–दूर तक जा सकते थे।

विद्या, मंत्र और योग को तीन अतिशयों में गिना गया है। तप आदि साधनों से सिद्ध होने वाली को **विद्या** और पठन मात्र से सिद्ध होने वाले को **मंत्र** कहा है। जैनसूत्रों में उल्लेख है कि आर्यवज्र पादोपलेप द्वारा गमन करते थे और पर्युषण–पर्व के अवसर पर पुष्प लाने के लिए वे पुरीय से माहेश्वरी गये थे। विद्या–प्रयोग और मंत्र–चूर्ण के अतिरिक्त लोग हृदय को आकर्षित करके तथा संगोपन, आकर्षण, वशीकरण और अभियोग द्वारा भी जादू–मन्तर का प्रयोग करते थे।[17]

अनेक विद्याओं के नाम जैनसूत्रों में आते हैं। ओणामणी (अवगामनी)

विद्या के प्रभाव से वृक्ष आदि की डालें झुक जाती थीं और उष्णामिणी (उन्नामिनी) के प्रभाव से वे स्वयमेव ऊपर चली जाती थीं। मुख्य विद्याओं में गौरी, गांधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति के नाम गिनाये गये हैं।[18]

वीरोदय में विद्याएँ

राजा सिद्धार्थ और प्रियकारिणी की विद्याओं के विषय में वीरोदय में कहा है –

एकाऽस्य विद्या श्रवसोश्च तत्त्वं सम्प्राप्य लेभेऽथ चतुर्दशत्वम्।
शक्तिस्तथा नीतिचतुष्कसारमुपागताऽहो नवतां बभार ।। 14।।

–वीरो.सर्ग.3।

राजा सिद्धार्थ ने एक विद्या ही गुरू–मुख से दोनों कानों द्वारा सुनी थी, किन्तु इनकी प्रतिभा से वह चौदह विद्या रूप में परिणत हो गई। इसी प्रकार रानी की विद्या विशद रूप अधीति (अध्ययन) बोध (ज्ञान–प्राप्ति) आचरण (तदनुकूल प्रवृत्ति) और प्रचार के द्वारा चतुर्दशत्व को प्राप्त हुई।

वीरोदय में गणधर

प्राचीन जैनसाहित्य में गणधरों का बड़ा महत्त्व बतलाया गया है। प्रत्येक तीर्थंकर के गणधर होते थे। भ. महावीर के प्रमुख गणधर गौतम थे। इनके अतिरिक्त अग्निभूति, वायुभूति आदि दश गणधर और थे। जैसे पारस–पाषाण के योग से लोहा शीघ्र सोना बन जाता है, पारे के योग से धातु शीघ्र रोग–नाशक रसायन बन जाती है उसी प्रकार भगवान वीर प्रभु के दिव्य उपदेश से श्रीगौतम इन्द्रभूति आदि का चित्त पाप से रहित निर्दोष हो गया था। यथा –

जवादयः स्वर्णमिवोपलेन श्रीगौतमस्यान्तरभूदनेनः।
अनेन वीरप्रतिवेदनेन रसोऽगदः स्रागिव पारदेन।। 44।।

–वीरो.सर्ग.14।

शुभाशुभ शकुन

जैनसूत्रों में अनेक शुभ–अशुभ शकुनों का उल्लेख मिलता है।

जगह–जगह स्नान, बलिकर्म, कौतुक, मंगल, प्रायश्चित का उल्लेख है। जब लोग किसी मन्दिर, साधु–सन्यासी, राजा या महान पुरूषों के दर्शनों के लिए जाते थे, तो स्नान करके, गृह–देवताओं की बलि देते, तिलक आदि लगाते, सरसों, दही, अक्षत और दूर्वा ग्रहण करते और प्रायश्चित (पायच्छित, अथवा पादच्छुत – नेत्र रोग दूर करने के लिए पैरों में तेल लगाना) करते थे।

वीरोदय में शुभाशुभ शकुन

रानी प्रियकारिणी द्वारा रात्रि के अन्तिम प्रहर में सोलह स्वप्नों की सुन्दर परम्परा देखे जाने पर राजा सिद्धार्थ ने शुभाशुभ शकुनों का प्रतिफल बताते हुए कहा कि – हे प्रफुल्लित कमलनयने! तीनों लोकों का अद्वितीय तिलक तीर्थंकर होने वाला बालक तुम्हारे गर्भ में अवतरित हुआ है– ऐसा संकेत यह स्वप्नावली दे रही है।

लोकत्रयैकतिलको बालक उत्फुल्लनलिननयनेऽद्य।
उदरे तवावतरितो हींगितमिति सन्तनोतीदम्।। 40।।

–वीरो.सर्ग.4।

वेशभूषा

भारतीय साहित्य में वस्त्रों के अनेक उल्लेख मिलते हैं, किन्तु वीरोदय के उल्लेखों की यह विशेषता है कि उनके कई एक वस्त्रों की सही पहचान पहले पहल होती है। इन वस्त्रों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है –

1. सामान्य वस्त्र।
2. पोशाकें या पहनने के वस्त्र।
3. गृहोपयोगी वस्त्र।

1. सामान्य वस्त्र

सामान्य वस्त्रों में नेत, चीन, चिभपटी, पटोल और रल्लिका का उल्लेख एक साथ हुआ है। डॉ. वसुदेव शरण अग्रवाल ने **"हर्षचरित एक**

सांस्कृतिक अध्ययन'' तथा जायसी के ''**पदमावत**'' में विशेष प्रकाश डाला है।

नेत एक प्रकार का महीन रेशमी वस्त्र था। यह कई रंगों का होता था। थानों में से काँटकर इससे तरह–तरह के वस्त्र बनाये जाते थे। पद्मावत के उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सोलहवीं शती तक नेत्र का प्रचार था। जायसी ने तीन बार नेत्र अथवा नेत का उल्लेख किया है। रतनसेन के शयनगार में अगर चन्दन पोतकर नेत के परदे लगाये जाते थे।[19]

ओपरि जूडि तहाँ सोवनारा, अगर पोति सुख नेत ओहारा।

चित्रपटी – डॉ. अग्रवाल ने लिखा है कि चित्रपटी या चित्रपट वे जामदानी वस्त्र होते हैं, जिनमें बुनावट में ही फूल–पत्तियाँ ड़ाल दी जाती थीं। बंगाल इन वस्त्रों के लिए सदा प्रसिद्ध रहा है।

दुकूल – सोमदेव ने दुकूल का कई बार उल्लेख किया है। शक्र ने महावीर को जो हंस दुकूल का जोड़ा पहनाया था वह इतना पतला था कि हवा का मामूली झटका उसे उड़ा ले जा सकता था। उस बुनावट की तारीफ कारीगर भी करते थे।

2. पोशाकें या पहनने के वस्त्र – पोशाक या पहनने के वस्त्रों में कंचुक, वारवाण तथा चोलक का उल्लेख है।

कंचुक – एक प्रकार का कोट था। खेतों में जाती हुई कृषक वधुएँ कंचुक पहनती थीं।

चोलक – चोलक भी एक प्रकार का कोट था, जो कंचुक या अन्य सब प्रकार के वस्त्रों के ऊपर पहना जाता था। यह एक संभ्रान्त और आदर सूचक वस्त्र समझा जाता था। उत्तर–पश्चिम भारत में सर्वत्र नौशे के लिए इस वेश का रिवाज अभी भी है, जिसे चोला कहते हैं। **चोला** ढीला–ढाला गुल्फों तक लम्बा खुले गले का पहनावा है, जो सब वस्त्रों के ऊपर पहना जाता है।

कौपीन – कौपीन एक छोटा खंडवस्त्र था, जिसका उपयोग साधु पहनने में करते थे।

उत्तरीय – ओढ़ने वाले चादर को उत्तरीय कहा जाता था। अमरकोश में उत्तरीय को ओढ़ने वाले वस्त्रों में गिनाया है।

परिधान – अमरकोशकार ने नीचे पहनने वाले वस्त्रों में परिधान की गणना की है।

'अन्तरीयोपसंव्यान परिधानान्यधोंशुके'।

बुन्देलखण्ड में अभी भी धोती को पर्दनी या परदनिया कहा जाता है, जो इसी परिधान शब्द का बिगड़ा हुआ रूप है।

उपधान – सोमदेव ने तकिए के लिए उपधान शब्द का प्रयोग किया है। यह संस्कृत का अत्यन्त प्रचलित शब्द है। अमृतमती के अन्तःपुर में पलंग के दोनों ओर दो तकिए रखे थे, जिससे दोनों किनारे ऊँचे हो गये थे। **'उपधानद्वयोत्तम्भितपूर्वापरभागम्'।**

वितान – वीरोदय में वितान शब्द आये हैं। आचार्यश्री ने लिखा है कि नगर में गगनचुम्बी शिखरों पर लगे सुवर्ण–कलशों की कान्ति से सूर्य–चन्द्रमा भी लज्जा का अनुभव कर रहे थे।

वीरोदय महाकाव्य में कवि ने देवियों द्वारा माता के श्रृँगार वर्णन में घुंघराले वालें का जूड़ा बनाने, पुष्पहार पहनाने, बाहुबन्ध बाँधने, कंगन बाँधने आदि का तो वर्णन किया है, परन्तु वस्त्रों के विषय में मात्र माता को उत्तम वस्त्र प्रदान किये–ऐसा ही वर्णन किया हैं।

रहन–सहन पद्धति

आदिपुराण के अनुसार प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव ने समाज–व्यवस्था की आधारशिला रखी। जो लोग शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और शक्ति सम्पन्न थे, उन्हें प्रजा की रक्षा, सन्तों के पालन एवं दुष्टों के निग्रह कार्य में नियुक्त कर **'क्षत्रिय'** की संज्ञा दी। जो कृषि, पशुपालन व वस्तुओं के क्रय–विक्रय (वाणिज्य कला) में निपुण थे, उन्हें **"वैश्य–वर्ण"** की संज्ञा दी। जिनमें ये दोनों कलायें नहीं थी, जिन्होंने इन दोनों वर्णों की सेवा की अभिरूचि प्रकट की, उन्हें **"शूद्र"** की संज्ञा दी। इस प्रकार गुण कर्म के अनुसार वर्ण–विभाजन हुआ।

आचार्यश्री ने इस महाकाव्य में वर्धमान के जन्म से पूर्व समाज के रहन–सहन का चित्रण किया है। उस समय की सामाजिक स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। सारे समाज में ब्राह्मण को श्रेष्ठ समझा जाता था। शूद्र की स्थिति बुरी थी। उच्च व निम्न का भेद–भाव सब ओर व्याप्त था। वर्ण व्यवस्था कर्म के आधार पर न होकर जन्म पर आधारित थी।

भगवान महावीर ने समाज को सुव्यव्यवस्था हेतु गृहस्थों तथा ब्राह्मणों के लिए कुछ नियम/लक्षण निर्धारित किये। जैसे– ब्राह्मण को सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह का पालन करना चाहिए। तपश्चरण इन्द्रिय–संयम आदि में उनकी प्रवृत्ति हो। छल–प्रपंच से सदा दूर रहें, शान्ति, संयम, शुद्धता की अधिकता हो, प्राणी–मात्र के लिए मन में दया हो। आत्मचिन्तन में लगे रहकर परनिन्दा से दूर रहें। निष्पृही, मन, वचन, काय से शुद्ध अद्वैत–भाव को प्राप्त, रात्रिभोजन का त्यागी, एक समय का भोजी, निर्जन्तुक जल को पीने वाला पुरूष ही ब्राह्मण हैं।[20]

वीरोदय में ब्राह्मण

आचार्यश्री ने लिखा है कि जो आत्मा का चिन्तन करे, असत्य–संभाषण न करे, पर–निन्दा में मौन रहे, त्रियोग से जिसने आत्मशुद्धि पा ली हो, जो अद्वैतभाव को प्राप्त हो गया हो अन्तरंग में प्रभु भक्ति रखता हो, वही सच्चा ब्राह्मण है। वे कुमारकाल में गुरू के समीप विद्यार्जन कर युवावस्था में विवाह कर सुखपूर्वक जीवन बितायें। सभी के साथ स्नेहमय व्यवहार करें। पर स्त्री को माता, बहिन, पुत्री समझें। पराये धन से दूर रहें, अभक्ष्य पदार्थों का सेवन न करें। दूसरों के दोषों पर ध्यान नहीं देवें।

सदाऽऽत्मनश्चिन्तनमेव वस्तु न जात्वसत्यस्मरणं समस्तु।
परापवादादिषु मूकभावः स्याद् ब्राह्मणस्यैष किल स्वभावः।। 38।।
मनोवचोंऽगैः प्रकृतात्मशुद्धिः परत्र कुत्राभिरूचेर्न बुद्धिः।
इत्थं किलामैथुनतामुपेतः स ब्राह्मणो ब्रह्मविदाश्रमेऽतः।। 41।।

–वीरो.सर्ग.14।

सन्दर्भ –

1. वीरोदय प्रथम सर्ग श्लोक 6 पृ. 1–3।
2. वीरोदय अष्टम् सर्ग श्लोक 23, 28, 45 पृ. 82–86।
3. वीरोदय पंचम सर्ग श्लोक, 7 पृ. 5।
4. आदिपुराण, श्लोक 2।
5. वरांगचरित 21/9/11।
6. पद्मपुराण, पर्व 3, श्लोक 255–58।
7. हरिवंशपुराण, सर्ग 9, श्लोक 33–40, सर्ग 11 श्लोक, 103–107।
8. महापुराण–पर्व 16, श्लोक 343–346 ऋग्वेद, पुरूषसूक्त 10, 90, 12 महाभारत अध्याय, 296 श्लोक 5–6 पूना 1932 ई.।
9. वीरोदय महाकाव्य अष्टादश सर्ग श्लोक 13–14।
10. श्री समुददत्तचरित, 4/4।
11. वीरोदय महाकाव्य द्वितीय सर्ग श्लोक, 33–36।
12. श्री समुददत्त चरित चतुर्थ सर्ग, श्लोक, 12–14।
13. वीरोदय महाकाव्य पंचम एवं सप्तम सर्ग।
14. तीर्थंकर महावीर और उनकी देशना पृ. 598–600।
15. समवायांग टीका अ. 14, पृ. 25।
16. गच्छाचार वृत्ति पृ. 93–96।
17. विपाकसूत्र 2 पृ. 19।
18. कल्पसूत्र टीका, 7 पृ. 203।
19. पद्मावत, 336/5।
20. वीरोदय महाकाव्य चतुर्दश सर्ग श्लोक 35–43।

परिच्छेद – 2

धार्मिक अनुष्ठान एवं शिक्षा

व्रत

जो मर्यादायें सार्वभौम हैं, जीवन को सुन्दर बनाने वाली और आलोक की ओर ले जाने वाली हैं, वे मर्यादायें नियम या व्रत कहलाती हैं। सेवनीय विषयों का संकल्पपूर्वक यम या नियम रूप से त्याग करना, हिंसा आदि निन्द्य कार्यों का छोड़ना अथवा पात्रदान आदि प्रशस्त कार्यों में प्रवृत्त होना व्रत है।[1]

जैसे सतत प्रवाहित सरिता के प्रवाह के नियंत्रण के लिये दो तटों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार जीवन को नियंत्रित/मर्यादित बनाये रखने के लिये व्रतों की आवश्यकता है। जैसे तटों के अभाव में नदी–प्रवाह छिन्न–भिन्न हो जाता है, उसी प्रकार व्रत–विहीन मनुष्यों की जीवन–शक्ति भी छिन्न–भिन्न हो जाती है। अतएव जीवन–शक्ति को केन्द्रित और योग्य दिशा में ही उपयोग करने के लिए व्रतों की आवश्यकता है। **तत्त्वार्थसूत्रकार** ने लिखा है कि हिंसा, अनृत, अस्तेय, अब्रह्म तथा परिग्रह से विरति व्रत है।[2] देशव्रत और सर्वव्रत की दृष्टि से व्रत के अणुव्रत और महाव्रत ये दो भेद हैं।[3]

पूज्यपाद देवनन्दी ने लिखा है कि प्रतिज्ञा करते समय जो नियम लिया जाता है, वह व्रत है। अथवा "यह करने योग्य है, यह करने योग्य नहीं है"– ऐसा नियम करना व्रत है।[4] व्रत की यह परिभाषा सूत्रकार को पूर्व परम्परा से प्राप्त थी और सूत्रकार के बाद भी यह चलती रही। **परमात्मप्रकाशकार** सर्व–निवृत्ति के परिणाम को व्रत कहते हैं।[5] **सोमदेव** ने सेवनीय वस्तु को इरादापूर्वक त्याग करने को व्रत कहा है। अथवा अच्छे कार्यों में प्रवृत्ति और बुरे कार्यों से निवृत्ति को व्रत कहते हैं।

"संकल्पपूर्वकः सेव्ये नियमो व्रतमुच्यते।
प्रवृत्ति विनिवृत्ती वा सदसत्कर्म संभते।।"

–उपा. श्लो. 316।

पं. आशाधर ने इस परिभाषा को और अधिक विस्तार देते हुए लिखा है कि किन्हीं पदार्थों के सेवन का अथवा हिंसादि अशुभ कर्मों का नियत या अनियत काल के लिए संकल्पपूर्वक त्याग करना व्रत है। अथवा पात्रदान आदि शुभ कर्मों में संकल्पपूर्वक प्रवृत्ति करना व्रत है।[6]

वीरोदय में व्रत का वर्णन – निम्न उदाहरण द्वारा प्रस्तुत किया गया है –

**क्षुल्लिकात्वमगाद्यत्र देवकी धीवरीचरे।
पामरो मुनितां जन्मन्यौदार्य वीक्ष्यतां च रे।। 36।।**

–वीरो. सर्ग. 17।

श्रीकृष्ण की माता देवकी ने अपने पूर्व जन्म में धीवरी के भव में क्षुल्लिका के व्रत धारण किये और पद्मपुराण में वर्णित अग्निभूति, वायुभूमि की पूर्वभव की कथा में एक दीन पामर किसान ने भी मुनिदीक्षा ग्रहण कर व्रत धारण किये थें। **तत्त्वार्थसूत्रकार** ने पाँच अणुव्रतों के विवेचन के बाद लिखा है कि जो शल्यरहित होता है, वह व्रती है[7]। उस व्रती के दो भेद हैं। 1. अगारी, 2. अनगार[8]। अणुव्रतों को पालन करने वाला अगारी कहलाता है[9]। सूत्रकार ने अगारी को दिग्देशादि सात शीलव्रतों से भी सम्पन्न बताया है[10] और मारणान्तिक सल्लेखना का विधान किया है।[11]

'दिग्देशानर्थदण्डविरतिसामायिक–प्रोषोपवासोपभोग–परिभोग–परिमाणातिथिसंविभाग–व्रत–सम्पन्नश्च'।

"मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता"

सोमदेव ने बारह व्रतों को श्रावक के उत्तरगुण कहा है।

**अणुव्रतानि पंचानि त्रिप्रकारं गुणव्रतम्।
शिक्षाव्रतानि चत्वारि गुणाः स्युर्द्वादशोत्तरे।।**

बारह व्रतों में सर्वप्रथम अणुव्रत आते हैं। अणु का अर्थ है छोटा या स्वल्प। **तत्त्वार्थ–सूत्रकार** ने देशव्रत को अणुव्रत और सर्वव्रत को महाव्रत कहा है – **"देशसर्वतोऽणुमहती।"** त. सू. 7। 2।

गृहस्थ व्रतों का पूर्ण रूप से पालन नहीं कर पाता, इसलिए उस व्रत को एक देश या अल्पांश में पालन करने का विधान किया गया है। व्रतों का एक देश पालने के कारण गृहस्थ को **देशव्रती** कहते हैं। अणुव्रतों को अणुरूप में पालन करने के कारण **अणुव्रती** कहा जाता है।

वीरोदय में श्रावकों के व्रत

आचार्यश्री ने वीरोदय में श्रावकों के व्रत में प्रद्युम्नचरित का उदाहरण देते हुए लिखा है कि –

हे संसारी प्राणी कुत्ती और चाण्डाल ने मुनिराज से श्रावकों के बारह व्रतों को धारण किया और भली–भाँति उनका पालन कर सद्गति प्राप्त की।

प्रद्युम्नवृत्ते गदितं भवित्रः शुनी च चाण्डाल उवाह किन्न।
अण्वादिकद्वादशसद्व्रतानि उपासकोक्तानि शुभानि तानि।। 32।।

–वीरो. सर्ग. 17।

उपवास

उपवास का अर्थ है उप् अर्थात् समीप वास यानी निवास। अपने परिणाम का आत्मसन्मुख रहना ही उपवास है। कुछ लोग मात्र भोजन–पान के त्याग को ही उपवास मानते हैं, जब कि उपवास तो आत्मस्वरूप के समीप ठहरने का नाम है। नास्ति से पँचेन्द्रियों के विषय, कषाय और आहार के त्याग को उपवास कहा है, शेष तो सब लंघन है।

कषाय–विषयाहारो त्यागो यत्र विधीयते।
उपवासः स विज्ञेयः शेषं लंघनकं विदुः।।

निष्कर्ष यही है कि कषाय, विषय और आहार के त्याग पूर्वक आत्मस्वरूप के समीप ठहरना ज्ञान–ध्यान में लीन रहना ही वास्तविक उपवास है।

प्रथम तीर्थंकर मुनिराज ऋषभदेव दीक्षा लेते ही एक वर्ष, एक माह और आठ दिन तक निराहार रहे, फिर भी हजार वर्ष तक केवलज्ञान नहीं हुआ। भरत चक्रवर्ती को दीक्षा लेने के बाद आत्मध्यान के बल से एक अन्तर्मुहूर्त में ही केवलज्ञान हो गया था।

तप के दो भेद हैं – 1. अन्तरंग, 2. बहिरंग तप। बहिरंग तप छह प्रकार का होता है।

1. अनशन, 2. अवमौदर्य, 3. वृत्तिपरिसंख्यान, 4. रस–परित्याग, 5. विविक्तशय्यासन, 6. काय–क्लेश।

अनशन से अवमौदर्य, अवमौदर्य से वृत्ति–परिसंख्यान, वृत्तिपरिसंख्यान से रस–परित्याग अधिक महत्त्वपूर्ण है। **अनशन** में भोजन का पूर्णतः त्याग होता है, पर **अवमौदर्य** में एक बार भोजन किया जाता है, भरपेट नहीं, इस कारण उसे **ऊनोदर** भी कहते हैं। भोजन को जाते समय अनेक प्रकार की अटपटी प्रतिज्ञायें ले लेना, उसकी पूर्ति पर ही भोजन करना, अन्यथा उपवास करना **वृत्ति–परिसंख्यान** है। षटरसों में कोई एक–दो या छहों ही रसों का त्याग करना, नीरस भोजन लेना **रस–परित्याग** है। निर्दोष एकान्त स्थान में प्रमाद रहित सोने–बैठने की वृत्ति **विविक्तशय्यासन** तथा आत्म–साधना एवं आत्माराधना में होने वाले शारीरिक कष्टों की परवाह नहीं करना **कायक्लेश तप** है। इच्छाओं का निरोध होकर वीतरागभाव की वृद्धि होना उपवास का मूल प्रयोजन है।

वीरोदय में तपों का वर्णन

वीर भगवान आत्म–पथ का आश्रय लेकर एक मास, चार मास और छह मास तक भोजन के बिना ही प्रसन्न–चित रहकर काल को व्यतीत कर रहे थे –

मासं चतुर्मासमथायनं वा विनाऽदनेनाऽऽत्मपथावलम्बात्।
प्रसन्नभावेन किलैकतानः स्वस्मिन्नभूदेष सुधानिधानः।। 37।।
गत्वा पृथक्त्वस्य वितर्कमारादेकत्वमासाद्य गुणाधिकारात्।
निरस्य घातिप्रकृतीरघातिवर्ती व्यभाछ्रीसुकृतैकतातिः।। 38।।

–वीरो.सर्ग.12।

वे भ. महावीर उग्रतपश्चरण द्वारा क्षपक–श्रेणी माड़कर आठवें गुणस्थान में प्रथक्त्व–वितर्क शुक्लध्यान को प्राप्त कर घातिया कर्मों की सर्व प्रकृतियों का क्षय करके, अघ से परे होते हुए अन्तरंग बहिरंग लक्ष्मी की सौभाग्य परम्परा को धारण कर शोभित हुए।

शिक्षा व शिक्षण पद्धति

भारत की प्राचीन शिक्षा–पद्धति का उद्देश्य था (1) चरित्र का संगठन (2) व्यक्तित्व का निर्माण (3) प्राचीन संस्कृति की रक्षा (4) सामाजिक और धार्मिक कर्त्तव्यों के सम्पादनार्थ उदीयमान पीढ़ी का प्रशिक्षण।[12]

शिक्षा

जैनसूत्रों में तीन प्रकार के आचार्यों का उल्लेख है – कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य। **कलाचार्य और शिल्पाचार्य** के सम्बन्ध में कहा है कि उनका उपलेपन और समर्दन करना चाहिए। उन्हें पुष्प समर्पित करने चाहिए तथा स्नान के पश्चात् उन्हें वस्त्राभूषण से मंडित करना चाहिए और भोजन आदि कराके जीवन–भर के लिए प्रीति–दान देना चाहिए तथा पुत्र–पौत्र चलने वाली आजीविका का प्रबन्ध करना चाहिए।

धर्माचार्य को देखकर उनका सम्मान करना चाहिये।[13] यदि वे किसी दुर्भिक्ष वाले प्रदेश में रहते हों तो उन्हें सुभिक्ष देश में ले जाकर रखना चाहिए। कांतार में से उनका उद्धार करना चाहिए तथा दीर्घकालीन रोग से उन्हें मुक्त करने की चेष्टा करनी चाहिए।[14] इसके साथ ही अध्यापकों में भी शिक्षा देने की पूर्ण योग्यता होनी चाहिए। जो प्रश्न विद्यार्थियों द्वारा पूँछे जायें उनका बड़प्पन प्रदर्शित किये बिना ही उचित उत्तर देना चाहिए।

गुरू शिष्य सम्बन्ध –

शिक्षा व शिक्षण–पद्धति का विवेचन करते हुए कहा गया है कि अध्यापक और विद्यार्थियों के सम्बन्ध प्रेमपूर्ण होते थे। विद्यार्थी गुरूओं के प्रति अत्यन्त श्रद्धा और सम्मान का भाव रखते थे। अच्छा शिष्य गुरू जी के पढ़ाये विषय को ध्यानपूर्वक सुनता है, प्रश्न पूछता है, प्रश्नोत्तर सुनता

है, उसका अर्थ ग्रहण करता है, उस पर चिन्तन करता है, उसकी प्रामाणिकता का निश्चय करता है, उसके अर्थ को याद रखता है और तदनुसार आचरण करता है।[15] सुयोग्य शिष्य अध्यापक के प्रति कभी अशिष्टता नहीं करता। कभी मिथ्या भाषण नहीं करता। यदि उसे लगे कि उसका आचार्य कुपित हो गया है तो प्रिय वचनों से उसे प्रसन्न करता है और अपने प्रमाद–पूर्ण आचरण की क्षमा माँगता हुआ भविष्य में वैसा न करने का वचन देता है। वह कभी भी आचार्य के बराबर में, उसके सामने और उसके पीछे नहीं बैठता। कभी आसन या शैय्या पर बैठकर प्रश्न नहीं पूँछता, बल्कि आसन से उठकर पास में आकर, हाथ जोड़कर प्रश्न पूँछता है। आचार्य के कठोर वचनों को सुनकर क्रोध न करके शान्ति पूर्वक व्यवहार करता है।

जैसे अविनीत घोड़े को चलाने के लिए कोड़ा मारने की आवश्यकता होती है, वैसे ही विद्यार्थी को अपने गुरू से बार–बार कर्कश वचन सुनने की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि जैसे विनीत घोड़ा कोड़ा देखते ही दौड़ने लगता है, वैसे ही आचार्य का इशारा पाकर सुयोग्य विद्यार्थी सत्कार्य में प्रवृत्त हो जाता है। वास्तव में विनीत वही है, जो अपने गुरू की आज्ञा का पालन करता है, उसके समीप रहता है और उसका इशारा पाते ही काम में लग जाता है,[16] लेकिन अविनीत विद्यार्थियों को अनुशासन में लाने के लिए अध्यापक उन्हें ठोकर और चपत मारकर दण्ड देकर आक्रोश–पूर्ण वचन भी कहते थे।

अविनीत शिष्यों की तुलना गलिया बैलों से की गयी है, जो आगे बढ़ने से जवाब दे देते हैं। ऐसे शिष्यों को यदि किसी कार्य के लिए भेजा जाये तो वे इच्छानुसार, पंख निकले हंस–शावकों की भाँति, इधर–उधर घूमते रहते हैं। उन्हें अत्यन्त कुत्सित गर्दभ की उपमा दी गयी है। आचार्य ऐसे शिष्यों से तंग आकर, उन्हें उनके भाग्य पर छोड़कर वन में तप करने चले जाते थे।[17]

वीरोदय में गुरू–शिष्य सम्बन्ध

गुरू–शिष्य के मधुर सम्बन्धों का वर्णन करते हुए काव्यकार ने

लिखा है कि –

कौमारमत्राधिगमय्य कालं विद्यानुयोगेन गुरोरथालम्।
मिथोऽनुभावात्सहयोगिनीया गृहस्थता स्यादुपयोगिनी या।। 32।।

–वीरो.सर्ग.18

कुमारकाल में गुरू के समीप रहकर विद्योपार्जन में काल व्यतीत करे। विद्याभ्यास करके युवावस्था में योग्य सहयोगिनी के साथ विवाह करके न्याय पूर्वक जीविकोपार्जन करते हुए उपयोगी गृहस्थ अवस्था को प्रेमपूर्वक व्यतीत करे।

शिक्षणपद्धति

छह **वेदों में** ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास (पुराण) और निघंटु का उल्लेख है। **वेदांगों** में संख्यान (गणित), शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरूक्त और ज्योतिष का उल्लेख है। **उपांगों** में वेदांगों में वर्णित विषय और षष्ठितंत्र का कथन है। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में चतुर्दश विद्या–स्थानों को गिनाया गया है – छह वेदांग, चार वेद, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्म शास्त्र।[18]

जैन–आगमों में अर्वाचीन माने जाने वाले अनुयोगद्वार और नन्दिसूत्र में लौकिक श्रुत का उल्लेख है :– भारत, रामायण[19], भीमासुरूकरण[20], कौटिल्य[21]। घोटक मुख (घोडयमुह)[22] सगदिमहिआउ, कप्पासिउ, णागसुहुम, कनकसप्तति[23] (कणगसन्तरी), बैशिक (वेसिय), वैशेषिक (वइसेसिय), बुद्धशासन, कपिल[24], लोकायत[25], षष्ठितंत्र (सट्ठितंत), माठर, पुराण, व्याकरण, नाटक बहत्तर कलाएँ और अंगोपांग सहित चार वेद। जैनसूत्रों में 72 कलाओं का उल्लेख अनेक स्थानों पर है। लेकिन इसका यह अर्थ नहीं कि हर कोई इन सभी कलाओं में निष्णात होता था। इन कलाओं का सम्पादन करना एक ऐसा उद्देश्य था जिसकी पूर्ति शायद ही कभी हो सकती हो।

विद्या–केन्द्र –

प्राचीन भारत में राजधानियाँ, तीर्थस्थान और मठ–मंदिर शिक्षा के केन्द्र थे। राजा, महाराजा तथा सामन्त लोग विद्या–केन्द्रों के आश्रयदाता

होते थे। समृद्ध राज्यों की राजधानियों में दूर–दूर से विद्वान लोग आकर बसते थे और ये राजधानियाँ विद्या–केन्द्र बन जाती थीं। साधु और साध्वियों के उपाश्रय और वसतिस्थानों में भी उपाध्यायों के द्वारा परम्परागत शास्त्रों की शिक्षा देने के साथ–साथ शब्द– शास्त्र, हेतुशास्त्र, छंदसूत्र, दर्शन, श्रृँगार–काव्य और निमित्त–विद्या आदि सिखाये जाते थे। श्रमण संघ तो चलती फिरती पाठशालायें ही थीं। विद्या के विभिन्न क्षेत्रों में शास्त्रार्थ और वाद–विवादों द्वारा सत्य और सम्यग्ज्ञान को आगे बढ़ाना श्रमणों की शैक्षणिक और सांस्कृतिक प्रवृत्तियों की आश्चर्यजनक विशेषता थी।

जीवमात्र पर दया

महात्मा बुद्ध तो दया, करूणा की साक्षात् प्रतिमूर्ति थे। बाल्यावस्था में घायल हंस के लिये राज्य को त्याग देना भी स्वीकारा था, परन्तु घायल हंस को चचेरे भाई देवदत्त को देना स्वीकार नहीं किया था। वे दुःखी प्राणियों के दुःख को दरू करने के लिये समस्त राज्य, वैभव, अत्यन्त सुन्दरी नव विवाहिता स्त्री तथा पुत्र राहुल को भी त्यागकर सत्य की खोज में निकल पड़े थे। क्रूर **अशोक भी** उनकी करूणा से प्रभावित होकर अहिंसक परोपकारी सम्राट बन गया था।

वैष्णवधर्म के अनुसार भी अवतारी पुरूष, महापुरूष, ऋषि, मुनि आदि ने सेवाधर्म को स्वयं अपनाया और उसका प्रचार–प्रसार भी किया। जीवों की रक्षा के लिए अवतारी पुरूषों का धरती पर

अवतरण होता है। **महात्मा गांधी** के प्रिय भजन की पंक्ति **'वैष्णव जन तो तेने कहिए, जे पीर पराई जाणे रे।'** है।

तुलसीदास ने दयाधर्म को अत्यन्त गहन कहा है। वृक्ष, नदी, पर्वत आदि की पूजा में उनकी सुरक्षा की ही मूलभावना निहित है। **वेदों में** "मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव" इन्हें ईश्वर की प्रतिमूर्ति समझकर श्रद्धा–भक्ति से इनकी आज्ञापालन, नमस्कार, सेवा–शुश्रूषा और विनयपूर्ण व्यवहार से सदा प्रसन्न रखने का निर्देश है। यही भारतीय परम्परा है। आचार्य **सोमदेवसूरि ने** उपाकाध्ययन में जीवदया का बड़ा

गुणगान किया है – "अकेली जीवदया एक ओर है और बाकी की सब क्रियायें दूसरी ओर हैं। यानी सब क्रियाओं से जीवदया श्रेष्ठ है। अन्य सब क्रियाओं का फल खेती की तरह है और जीवदया का फल चिन्तामणि रत्न की तरह है।"

एका जीवदयैकत्र परत्र सकला क्रियाः।
परं फलं तु पूर्वत्र कृषेश्चिन्तामणेरिव।। 361।।

वीरोदय में दया

जो दूसरों को मारता है, वह स्वयं दूसरों के द्वारा मारा जाता है और जो दूसरों की रक्षा करता है, वह जगत में पूज्य होता है। इसलिये दूसरों के साथ दया का ही व्यवहार करना चाहिये।[26]

सहिष्णुता

पारिवारिक दायित्वों के निर्वाह के लिए सहिष्णुता अत्यावश्यक है। परिवार में रहकर व्यक्ति सहिष्णु न बने और छोटी–सी–छोटी बात के लिए उतावला हो जाय तो परिवार में सुख–शान्ति नहीं रह सकती। सहिष्णु व्यक्ति शान्तभाव से परिवार के अन्य सदस्यों की बातों और व्यवहारों को सहन कर लेता है, फलतः परिवार में सदा शान्ति और सुख–सम्पदा बनी रहती है। जो परिवार में सभी प्रकार की समृद्धि का इच्छुक है तथा समृद्धि द्वारा लोक व्यवहार को सफल रूप में संचालित करना चाहता है, उसे सहिष्णु होना आवश्यक है। विकारी मन, शरीर और इन्द्रियों के वश होकर जो काम करता है, उसकी सहिष्णुता की शक्ति घटती है। अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति सहनशीलता द्वारा ही सम्भव है। जो स्वयं अपनी बुराईयों का अवलोकन कर उन्हें दूर करता है, वह समाज में शान्ति स्थापन का भी प्रयास करता है। सहिष्णुता का अर्थ कृत्रिम भावुकता नहीं और न अन्याय और अत्याचारों को प्रश्रय देना ही है, किन्तु अपनी आत्म–शक्ति का इतना विकास करना है, जिससे व्यक्ति, समाज और परिवार निष्पक्ष जीवन व्यतीत कर सके। पूर्वाग्रह के कारण असहिष्णुता उत्पन्न होती है। जिससे सत्य का निर्णय नहीं होता। जो शान्त चित्त है, जिसकी भावनायें

संयमित हो गई हैं और जिसमें निष्पक्षता जाग्रत हो गई है वही व्यक्ति सहनशील हो सकता है।

आचार्यश्री ने वीरोदय में भी लिखा है कि जो मनुष्य अपने हृदय से ईर्ष्या, अहंकार आदि को दूर कर, हर्ष व क्रोध के निमित्तों में समान बुद्धि रखता है, निर्द्वन्द भाव से विचरता हुआ आत्मा को जीतता है, वही संसार में **'जिन'** कहा जाता है। उन जिन के द्वारा प्रतिपादित कर्त्तव्य विधान को ही **'जैन– धर्म'** कहते हैं। ऐसा व्यक्ति ही जीवन में सहिष्णु या सहनशील होता है –

इत्येवं प्रतिपद्य यः स्वहृदयादीर्ष्यामदादीन् हरन्।
हर्षामर्षनिमित्तयोः सममतिर्निर्द्वन्द्वभावं चरन्।।
स्वात्मानं जययीत्यहो जिन इयन्नाम्ना समाख्यायते।
तत्कर्त्तव्यविधिर्हि जैन इत वाक् धर्मः प्रसारे क्षितेः।। 45।।

वीरो.सर्ग.–17।

सूक्तियाँ –

1. त्यागोऽपि मनसा श्रेयान् न शरीरेण केवलम्।

मूलोच्छेदं बिना वृक्षः पुनर्भवितुमर्हति।। 13/37।। – किसी वस्तु का मन से किया हुआ त्याग ही कार्यकारी होता है। केवल शरीर से किया गया त्याग कल्याणकारी नहीं होता, क्योंकि मूल (जड़) के उच्छेद किये बिना ऊपर से काटा गया वृक्ष पुनः पल्लवित हो जाता है।

2. अनेक धान्येषु विपत्तिकारी विलोक्यते निष्कपटस्य चारिः।

छिद्रं निरूप्य स्थितिमादधाति सभाति आखोः पिशुनः सजातिः।।
1/19 ।। – दुर्जन चूहे जैसे होते हैं। जैसे चूहा नाना जाति की धान्यों का विनाश करता है, बहुमूल्य (निष्क) (वस्त्रों) का अरि है, शत्रु है, उन्हें काट डालता है और छिद्र अर्थात बिल देखकर उसमें अपनी स्थिति कायम रखता है। ठीक इसी प्रकार पिशुन पुरूष भी मूषक के सजातीय प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे पिशुन भी नाना प्रकार से अन्य साधारणजनों के विपत्तिकारक

हैं, निष्कपटजनों के शत्रु हैं और लोगों के छिद्रों अर्थात् दोषों को देखकर अपनी स्थिति को दृढ़ बनाते हैं।

3. हृषीकाणि समस्तानि माद्यन्ति प्रमदाऽऽश्रयात्।

नो चेत्पुनरसन्तीव सन्ति यानि तु देहिनः।। 8/31।। – प्रमदा अर्थात् स्त्री के आश्रय से ये समस्त इन्द्रियाँ मद को प्राप्त होती हैं। यदि स्त्री का संपर्क न हो तो फिर ये देहधारी के होते हुये भी नहीं होती हुई सी रहती हैं।

सन्दर्भ –

1. सागारधर्मामृत 2/80।
2. हिसानृतस्तेयाब्रह्म–परिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम्:–तत्त्वार्थसूत्र 7/1।
3. देशसर्वतोऽणुमहती, वही 7/2।
4. व्रतममिसंधिवृतो नियमः, इदं कर्त्तव्यमिंद न कर्त्तव्यमिति वा 7/1/342/6।
5. व्रतं कोऽर्थः। सर्वनिवृत्ति–परिणामः। प. प्र./टी./2/52/173/5।
6. सागारधर्मामृत 2/80।
7. निःशल्योव्रती–वही 7/18।
8. अगार्यनगारश्च–वही 7/19।
9. अणुव्रतोऽगारी, वही. 7/20।
10. तत्त्वार्थसूत्र 7/21।
11. वही 7/22।
12. अल्तेकर, एजूकेशन एन ऐंशिएण्ट इण्डिया पृ. 326।
13. राजप्रश्नीय सूत्र 190, पृ. 328।
14. स्थानांग 3–135 तथा मनुस्मृति 2–225 आदि।
15. आवश्यकनिर्युक्त 22।
16. उत्तराध्ययन सूत्र 1, 2, 9, 12, 13, 18, 22, 27, 41।
17. व्याख्याप्रज्ञप्ति 2, 1 औपपातिक 38, पृ. 172।

18. डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम व साहित्य में भारतीय समाज।

19. अनुयोगद्वार सूत्र 25 पृ. 25–26।

20. व्यवहारभाष्य, 1 पृ. 132।

21. सूत्रकृतांग चूर्णि पृ. 208।

22. मज्झिम निकाय 2, 44 पृ. 414।

23. ईश्वरकृष्ण की सांख्यकारिका का दूसरा नाम।

24. आवश्यकचूर्णि पृ. 229।

25. दोष निकाय 16, ब्रह्मजाल सुत्ता पृ. 11।

26. वीरोदय महाकाव्य षोडश सर्ग पृ. 154–155।

परिच्छेद – 3

कला चित्रण

'कला' शब्द 'संवारना' अर्थ वाली कल् धातु के कच् एवं टाप् प्रत्ययों के संयोग से निष्पन्न हुआ है। अतः **"कला"** का शाब्दिक अर्थ है– **"पदार्थ को सँवारने वाली।"** किसी अमूर्त पदार्थ की सुरूचि के साथ सुन्दर एवं मूर्त रूप प्रदान करने वाली चेष्टा का नाम कला है। भारतीय एवं पाश्चात्य अनेक मनीषियों ने कला के विषय में अपने–अपने विचार प्रकट किए हैं। भारत के प्राचीन विद्वानों ने चौसठ कलाएँ गिनायी हैं पर पाश्चात्य विद्वानों ने कलाओं को केवल दो वर्गों में विभक्त किया है – ललित कला और उपयोगी कला। **ललित–कलाएँ** जीवन को सरस बनाती हैं और **उपयोगी कलाएँ** दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करती है।

ललित कलाओं में पाँच प्रसिद्ध हैं – (1) काव्य कला, (2) संगीतकला (3) चित्रकला (4) मूर्तिकला और (5) वास्तुकला। इनमें **काव्यकला सर्वश्रेष्ठ** है। अपने मनोभावों को लेखनी और काव्यात्मक वाणी के माध्यम से सुन्दरतम अभिव्यक्ति प्रदान करना ही काव्यकला है।

कला की दृष्टि से **भित्ति–चित्रों** की भी अपनी विशेषता है। भित्ति–चित्र बनाने के लिए भीतर का प्लास्टर कैसा हो, उसे कैसे बनाया जाय, उस पर लिखाई के लिए जमीन कैसे तैयार की जाय? आदि बातों का सविस्तार वर्णन मानसोल्लास में आया है। **सोमदेव** ने दो प्रकार के भित्ति–चित्रों का उल्लेख किया है – (1) व्यक्ति–चित्र, (2) प्रतीक–चित्र। **व्यक्ति चित्रों** में बाहुबलि, प्रद्युम्न, सुपार्श्व तथा यक्षमिथुन का उल्लेख है। **प्रतीक–चित्रों** में तीर्थंकर की माता द्वारा देखे गये सोलह स्वप्नों का विवरण है।

व्यक्ति चित्र

जैनपरम्परा में बाहुबलि एक महान तपस्वी और मोक्षगामी महापुरूष माने गये हैं। ये तीर्थंकर ऋषभदेव के पुत्र तथा भरत चक्रवर्ती के भाई थे।

भरत के चक्रवर्तित्व प्राप्ति के बाद ये सन्यस्त हो गये, और लगातार बारह वर्षों तक तप करते रहे। सुड़ौल, सौम्य, विशाल शरीरधारी इस तपस्वी ने ऐसी समाधि लगाई कि वर्षा, जाड़ा और गर्मी से भी विचलित नहीं हुआ। चारों ओर पेड़–पौधे और लताएँ उग आयीं और शरीर के सहारे कँधों तक चढ़ गयीं। बाहुबलि का यही चित्र ललित कला में कलाकार ने उकेरा है। संसार को चकित करने वाली श्रवणबेलगोल की मूर्ति इसी महापुरूष की है, जो उन्मुक्त आकाश में निरालम्ब खड़ी सारे संसार को शान्ति का अमर–सन्देश दे रही है।

प्रतीक–चित्र – जैनसाहित्य में उल्लेख है कि गर्भ में आने के पहले तीर्थंकर की माता सोलह स्वप्न देखती है। श्वेताम्बरों में चौदह स्वप्नों का वर्णन आता है। आचार्य ज्ञानसागर ने जिस मन्दिर का उल्लेख किया है, उसमें ये सोलह स्वप्न भित्ति पर चित्रित किये गये थे – ऐरावत हाथी/ वृषभ/सिंह/ लक्ष्मी/लटकती पुष्प मालायें/चन्द्र–सूर्य/ मत्स्ययुगल/पूर्ण कुम्भ/पद्यसरोवर/सिंहासन/समुद्र/ फणयुक्त सर्प/प्रज्जवलित अग्नि/रत्नों का ढ़ेर/देव विमान।

एक वस्तु की 16 कलाएँ मानी जाती हैं। अतएव चार दिशाओं की चौसठ कलाएँ स्वतः ही हो जाती हैं। रानी प्रियकारिणी चौसठ कलाओं में पारंगत थी। जैनशास्त्रों के अनुसार तीर्थंकर को केवलज्ञान होने के उपरान्त इन्द्र कुवेर को आज्ञा देकर एक विराट सभामंडप का निर्माण कराता है, जिसमें तीर्थंकर का उपदेश होता है। इसी सभामंडप को **समवशरण** कहा जाता है। प्राचीन जैन–चित्रों में समवशरण का सुन्दर अंकन है। झरोखों में झाँकती कामिनियों का भी एक स्थान पर चित्रण है।

चित्रकला

प्राचीन भारत में चित्रकला का भी पर्याप्त विकास हुआ है। चित्रकार चित्र बनाने में कूँची और विविध रंगों का प्रयोग करते थे। चित्र, भित्तियों और पट्टफलक के ऊपर बनाये जाते थे। किसी परिव्राजिका ने चेटक की कन्या राजकुमारी सुज्येष्ठा का चित्र एक फलक पर चित्रित कर राजा श्रेणिक को दिखाया था, जिसे देखकर राजा अपनी सुध–बुध भूल गया था। मिथिला के मल्लदत्त कुमार ने हाव–भाव, विलास और श्रृँगार

चेष्टाओं से युक्त एक चित्र–सभा बनवायी थी। चित्रसभा बनाने वालों में एक चित्रकार बड़ा बिलक्षण था, जो द्विपद, चतुष्पद और अपद के एक हिस्से को देखकर उसके सम्पूर्ण रूप को चित्रित कर देता था।

मूर्तिकला

भारत में मूर्तिकला बहुत समय से चली आती है। भारतीय शिल्पकार मूर्ति तराशने के लिए काष्ठ का उपयोग करते थे। उज्जैनी का राजा प्रद्योत राजकुमारी वासवदत्ता को गन्धर्व–विद्या की शिक्षा देना चाहता था। उसने यन्त्र–चालित एक हाथी बनवाया और उसे वत्सदेश के सीमा–प्रान्त पर छोड़ दिया। उधर से उदयन गाता हुआ निकला। उसका गाना सुनकर हाथी वहीं रूक गया। प्रद्योत के आदमी उदयन को पकड़कर राजा के पास ले आये।

स्थापत्यकला

गृह निर्माण विद्या (वत्थुविज्जा) का प्राचीन भारत में बहुत महत्त्व था। जैन–आगमों में वास्तु–कारों का उल्लेख मिलता है, जो नगर–निर्माण के लिए स्थान की खोज में इधर–उधर भ्रमण किया करते थे। बढ़ई का स्थान समाज में महत्त्वपूर्ण था। उसकी गणना चौदह रत्नों में की जाती थी। गृह–निर्माण करने के पूर्व सबसे पहले भूमि की परीक्षा कर उसे इकसार किया जाता था। और जो भूमि जिसके योग्य होती थी, उसे देने के लिए अक्षर से अंकित मोहर ड़ाली जाती थी। तत्पश्चात् भूमि को खोदकर ईंटों को मूंगरी से कूटकर, उनके ऊपर ईंट चिनकर नींव रखी जाती थी। बाद में पीठिका तैयार हो जाने पर उस पर प्रासाद खड़ा किया जाता था।

वीरोदय में कला चित्रण

वीरोदय में ग्रन्थकार ने जिनालयों के सौन्दर्य वर्णन, समवशरण चित्रण आदि में चित्रकला, मूर्तिकला, तथा स्थापत्य कलाओं का विवेचन किया है। नगर के गगनचुम्बी शाल (कोट) के शिखरों पर चित्रांकित नक्षत्र–मण्डल प्रदीपोत्सव के भ्रम से लोगों में आनन्द उत्पन्न कर देता था तथा कुण्डनपुर के गोपुर के ऊपर प्रकाशमान चन्द्रमा रात्रि में मुकुट की शोभा को धारण कर रहा था।[1]

समवशरण में चार वापिकाओं से युक्त, चित्रकला द्वारा निर्मित मानहारी मान–स्तम्भ चारों दिशाओं में सुशोभित थे।[2] भित्ति पर अशोक वृक्ष इतना रमणीय बना था कि जिसके दर्शनमात्र से शोक–समूह नष्ट हो जाता था। इस प्रकार आचार्यश्री ने अनेक कलाओं का यथास्थान चित्रण किया है।

सूक्तियाँ –

1. **आत्मन् वसेस्त्वं वसितुं परेभ्यः देयं स्ववन्नान्यद्दत्र तेभ्यः।**

भवेः कदाचित् स्वभवे यदि त्वं प्रवांछसि स्वं सुखसम्पदित्वम्।। **16/2।।** – हे आत्मन्! यदि तुम यहाँ सुख से रहना चाहते हो तो औरों को सुख से रहने दो। यदि तुम स्वयं दुःखी नहीं होना चाहते हो तो औरों को भी दुःख मत दो अर्थात् तुम स्वयं जैसा बनना चाहते हो उसी प्रकार का व्यवहार दूसरों के साथ भी करो।

2. **उच्छालितोऽर्काय रजःसमूहः पतेच्छिरस्येव तथाऽयमूहः।**

कृतं परस्मै फलति स्वयं तन्निजात्मनीत्येव वदन्ति सन्तः।। **16/5।।** – जैसे सूर्य के ऊपर फेंकी गई धूली फेंकने वाले के सिर पर ही आकर गिरती है, इसी प्रकार दूसरों के लिये किया गया बुरा कार्य स्वयं अपने लिये ही बुरा फल देता है। इसीलिये दूसरों के साथ सदा भला ही व्यवहार करना चाहिये। यही सज्जनों का कथन है।

3. **आचार एवाभ्युदयप्रदेशः ।। 17/29।।** – मनुष्य का आचरण ही उसके अभ्युदय का कारण है।

4. **ऋते तमः स्यात् क्व रवेः प्रभावः।। 1/18।।** – अन्धकार न हो तो सूर्य का प्रभाव का कैसे प्रकट हो सकता है ? वैसे ही यदि दुर्जन न हों तो सज्जनों की सज्जनता का प्रभाव भी कैसे जाना जा सकता है ?

सन्दर्भ –

1. वीरोदय सर्ग 2 पृ. 14–16।

2. वीरोदय त्रयोदश सर्ग. पृ. 125–127।

अध्याय – 6

भगवान महावीर के सिद्धान्तों का समीक्षात्मक अध्ययन

परिच्छेद – 1

धर्म का स्वरूप

'धर्म' के स्वरूप के विश्लेषण में अनेक तत्त्व सामने आते हैं। जैसे अग्नि का जलाना धर्म है, पानी का शीतलता धर्म है, वायु का बहना धर्म है, उसी प्रकार आत्मा का 'चैतन्य' धर्म है। 'धर्म' शब्द के दो अर्थ हैं, एक वस्तु के स्वभाव को धर्म कहते हैं। दूसरा आचार या चारित्र को धर्म कहते हैं। जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस (मुक्ति) की प्राप्ति हो, उसे **'धर्म'** कहते हैं। चरित्र से इनकी प्राप्ति होती है इसलिए चरित्र ही धर्म है।[1] वीरोदय में आचार्यश्री ने धर्म के स्वरूप को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है कि मनुष्य जैसा व्यवहार स्वयं अपने लिए चाहते हैं, वैसा ही व्यवहार उसे दूसरे दीन–कायर पुरूषों के साथ करना चाहिए। यही एक तत्त्व धर्म का मूल है –

यथा स्वयं वाञ्छति तत्परेभ्यः कुर्याज्जनः केवलकातरेभ्यः।
तदेतदेकं खलु धर्ममूलं परन्तु सर्वं स्विदमुष्य तूलम्।। 6।।

–वीरो.सर्ग.16।

आचार्य समन्तभद्र ने भी लिखा है,– "जो प्राणियों को पंच परावर्तन रूप संसार के दुःखों से निकाल कर स्वर्ग और मोक्ष के बाधा रहित उत्तम सुखों को प्राप्त करा देता है, वह धर्म है।" प्राणियों को संसार के दुःखों से निकाल कर स्वर्ग आदि सुखों को प्राप्त कराने के कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र धर्म है। यथा –

(अ) देशयामि समीचीनं, धर्म कर्मनिवर्हणम।
संसार दुःखतः सत्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे।। 2।।

–रत्नकर. श्रा.।

(ब) धम्मो वत्थुसहावो खमादिभावो य दसविहो धम्मो।
रयणत्तयं च धम्मो जीवाणं रक्खणं धम्मो।।

– कार्तिकेयानुप्रेक्षा

'धर्म' तो आत्मा का स्वभाव है। पर द्रव्यों में आत्मबुद्धि छोड़कर अपने ज्ञाता दृष्टा रूप स्वभाव का श्रद्धान, अनुभव (ज्ञान) और ज्ञायक स्वभाव में ही प्रवर्तन रूप जो आचरण है, वह धर्म है। जब उत्तमक्षमादि दशलक्षण रूप आत्म–परिणमन और रत्नत्रयरूप तथा जीवदया रूप आत्म–परिणति होती है तब अपनी आत्मा अपने आप ही धर्मरूप हो जाती है।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यकचरित्र को धर्म कहते हैं। धर्म तीन नहीं है, अपितु इन तीनों की परिपूर्णता ही साक्षात् धर्म है। तत्त्वार्थसूत्र में **आचार्य उमास्वामी** ने लिखा है –

" सम्यग्दर्शन–ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"

–तत्त्वार्थसूत्र. 1/1।

"उत्तमक्षमामार्दवार्जवशौच–सत्यसंयमतपस्त्यागाकिन्चन्यब्रह्मचर्याणि धर्मः"

– तत्त्वार्थ सूत्र.अ.9.सूत्र.6

धर्म शब्द एक वचन है। अतः धर्म दश नहीं हैं, अपितु दश धर्मों का एकत्व धर्म है।

यद्यपि दर्शन और धर्म या वस्तुस्वभावरूप धर्म और आचार–रूप धर्म दोनों अलग–अलग हैं, परन्तु इन दोनों का परस्पर में घनिष्ट सम्बन्ध है। उदाहरण के लिए, जब आचाररूप धर्म आत्मा को परमात्मा बनने का मार्ग बतलाता है, तब यह जानना आवश्यक हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा का स्वभाव क्या है ? दोनों में अन्तर क्या है और क्यों है ? जैसे सोने के स्वभाव से अनजान आदमी यदि सोने को सोधने का प्रयत्न भी

करे, तो उसका प्रयत्न लाभकारी नहीं हो सकता। जो यह मानता है कि आत्मा नहीं है और न परलोक है, उसका आचार सदा भोग–प्रधान ही रहता है।

प्रकारान्तर से भी धर्म के दो भेद हैं एक साध्य रूप और दूसरा साधन रूप। परमात्मत्व साध्यरूप धर्म है और आचार (चारित्र) साधनरूप धर्म है, क्योंकि आचार/चारित्र के द्वारा ही आत्मा परमात्मा बनता है।[2]

धर्म का महत्त्व

धर्म की महत्ता को आंकना आसान नहीं है। पाश्चात्य विद्वानों ने इसे **'रिलीजन'** कहा है। 'धर्म' की व्यापकता एवं गहनता को थोड़े शब्दों में बाँधकर उजागर नहीं किया जा सकता, फिर भी मनीषियों ने इसका विभिन्न शब्दों में मूल्यांकन करने का प्रयास किया है। यथा – सदाचरण, कर्त्तव्य, न्याय, सद्गुण, नैतिकता, सत्कर्म आदि[3]। प्रसिद्ध विद्वान मक्टागार्ट ने 'धर्म' की महत्ता पर प्रकाश डालते हुये कहा है – "धर्म चित्त का वह भाव है, जिसके द्वारा हम विश्व के साथ एक प्रकार के मेल का अनुभव करते हैं[4]।" यद्यपि विद्वानों ने 'धर्म' की महत्ता प्रतिपादित की है, किन्तु **तथ्यतः धर्म वही है, जिससे मानवता का कल्याण हो।** महावीर ने मानव–कल्याण हेतु धर्म की उपयोगिता का उपदेश देते हुए कहा है कि जरा और मरण के प्रवाह में बहते हुए प्राणी के लिए धर्म ही मात्र दीप, प्रतिष्ठा, गति और उत्तम शरण है।

जरामरण वेगेणं बुज्झमाणाण पाणिणं।
धम्मो दीवो पइट्ठाय गइसरणमुत्तमं।। 13।।

–उत्तराध्ययन 23/68।

महावीर ने धर्म की महत्ता को परख कर स्पष्ट कहा था कि 'धर्मप्रचार के पवित्रतम अनुष्ठान में यथाशक्ति योग देकर आत्मोद्धार एवं परोद्धार करो। जन–जन के कल्याण हेतु जहाँ धर्म अपेक्षित है, वहीं स्वयं के लिए भी इसकी उपयोगिता है। महावीर ने आत्म–संयम हेतु भी धर्म की महत्ता का प्रतिपादन किया है।' वे कहते हैं – मन बहुत ही साहसिक, रौद्र और दुष्ट अश्व है, चारों ओर दौड़ता है। इस अश्व को धर्म–शिक्षा द्वारा अच्छी तरह काबू में किया जा सकता है।

मनो साहस्सिओ भीमो, दुट्ठस्सो परिधावई।
तं सम्मं तु निगिण्हामि धम्म सिक्खाइ कन्थगं।।[5]

आचार्यश्री की जैनधर्म पर दृढ़ आस्था है, उनकी दृष्टि में यह मानव–मात्र के लिए उपयोगी व महत्त्वपूर्ण है। इसके महत्त्व के अनेक प्रमाण कवि ने अपने काव्यों में प्रस्तुत किये हैं।

जैनधर्म में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय और अपरिग्रह ये पाँच महाव्रत कहे गये हैं। इनकी महिमा सभी धर्मों में मान्य है, किन्तु जैनधर्म में इनका कठोरता से पालन करना आवश्यक है।[6] जैनधर्म केवल वानप्रस्थियों के लिये ही नहीं, अपितु गृहस्थों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। गृहस्थों को सदाचरण, आहार, विहार, अतिथि–पूजन, देवपूजन, आत्मकल्याण आदि अपेक्षित गुणों की शिक्षा देने में यह धर्म पूर्णतः समर्थ है। यह व्यक्ति को अन्धविश्वासों से दूर रहने की भी शिक्षा देता है।[7]

भारतीय संस्कृति में चारों पुरूषार्थों में धर्म को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। कालिदास ने **'कुमारसंभव'** में धर्म को 'त्रिवर्ग' का सार कहा है। धर्म भारतीय संस्कृति का प्राण है। धर्म द्वारा ही भौतिक उन्नति और आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति सम्भव है। **महाभारत** में धर्म को अर्थ और काम का स्रोत माना है। इसमें कहा है –

उर्ध्वबाहु विरौम्येष, न च कश्चित् श्रृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

याज्ञवल्क्यस्मृति, विष्णुस्मृति और मनुस्मृति आदि में और धर्मशास्त्रों में भी चारों पुरूषार्थों में धर्म को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। जो अपने धर्म को छोड़ देता है, धर्म उसका विनाश कर देता है। जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म उसकी रक्षा करता है। **गीता में** भी (अठारहवें अध्याय में) कृष्ण ने अर्जुन को धर्म का महत्त्व बतलाते हुये कहा है–

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वभाव–नियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।।

पुराणों में भी धर्म के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कहा है कि अधर्मी पुरूष यदि काम और अर्थ सम्बन्धी क्रियायें करता है, तो उसका फल बाँझ स्त्री के पुत्र के समान होता है। उससे किसी प्रकार के कल्याण की सिद्धि नहीं होती । भारतीय संस्कृति में धर्म को इतना महत्त्व इसलिए दिया गया है, क्योंकि यह समाज में शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखता है।[8]

वीरोदय में धर्म के महत्त्व – को आचार्य श्री ने इस प्रकार प्रतिपादित किया है –

आपन्नमन्यं समुदीक्ष्य मास्थास्तूष्णीं वहेः किन्तु निजामिहास्थाम्।
स्वेदे बहत्यन्यजनस्य रक्त–प्रमोक्षणे स्वस्य भवे प्रसक्तः।। 3।।

–वीरो.सर्ग.16।

दूसरे को आपत्ति में पड़ा देखकर स्वयं चुप न बैठकर, उसके संकट को दूर करने का शक्ति भर प्रयत्न करो। दूसरों के द्वारा पसीना बहाये जाने पर तुम खून बहाने के लिए तैयार रहो।

सूक्तियाँ –

1. **खड्गेनायस–निर्मितेन न हतो, वज्रेण वै हन्यते, तस्मान्निर्व्रजये नराय च विपद्–दैवेन त तन्यते।**

   दैवं किन्तु निहत्य यो विजयते तस्यात्र संहारकः, कः स्यादित्यनुशासनाद्विजयते वीरेषु वीरे सकः।। 16/30।।

   जो मनुष्य लोहे की बनी खड्ग से नहीं मारा जा सकता, वह वज्र से निश्चयतः मारा जाता है। जो वज्र से नहीं मारा जा सकता, वह दैव से अवश्य मारा जाता है, किन्तु जो महापुरूष देव को भी मारकर विजय प्राप्त करता है, उसका संहार करने वाला इस संसार कौन है ? वह वीरों का वीर महावीर ही इस संसार में सर्वोत्तम विजेता है, वह सदा विजयशील बना रहे।

2. **वहावशिष्टं समयं न कार्यं मनुष्यतामंच कुलन्तुनार्य !**

   नार्थस्य दासो यशसश्च भूयाद् धृत्वा त्वधे नान्यजनेऽभ्यसूयाम्।।

18/37।। – हे आर्य ! सदा सांसारिक कार्यों में ही मत लगे रहो, कुछ समय बचाकर धर्मकार्य में लगाओ, धर्म करो। मनुष्यता को प्राप्त करो, उसकी कीमत करो। जाति कुल का मद मत करो। सदा अर्थ अर्थात धन या स्वार्थ के दास मत बने रहो, किन्तु लोकोपकारी यश के भी कुछ काम करो। अन्य मनुष्यों पर ईर्ष्या द्वेष आदि करके पाप से अपने आप को लिप्त मत करो।

3. **शपन्ति क्षुद्रजन्मानो व्यर्थमेव विरोधकान्। सत्याग्रह–प्रभावेण महात्मा त्वनुकूलयेत्।। 10/34।।**क्षुद्रजन्मा दीन पुरूष विरोधियों को व्यर्थ कोसते हैं। महापुरूष तो सत्याग्रह के प्रभाव से विरोधियों को भी अपने अनुकूल कर लेते हैं। यहां पर महात्मा पद से गांधी जी और उनके सत्याग्रह आन्दोलन की यर्थाथता की ओर महाकवि ने संकेत किया है।

4. **बलीयसी संगतिरेव जातेः।। 21/4।।** – जाति की अपेक्षा संगति ही बलवती होती है।

5. **मनस्वी मनसि स्वीये न सहायमपेक्षते।। 10/37।।** – मनस्वी पुरूष अपने चित्त में दूसरों की सहायता की अपेक्षा नहीं रखते हैं।

सन्दर्भ –

1. जैन धर्म, पं. कैलाशचन्द सिद्धान्त शास्त्री पृ. 84।
2. जैन धर्म, पं. कैलाशचन्द सिद्धान्त शास्त्री पृ. 85।
3. Sanskrit English Dictionary (M. Williams)
4. जैन दर्शन, पृ. 9–10।
5. उत्तराध्ययन, अ. 12, गा. 46, 47।
6. महाकवि ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन पृ. 421।
7. वीरोदय श्लोक 33–39 सर्ग. 18।
8. भारतीय संस्कृति पृ. 90।

परिच्छेद – 2

देव, शास्त्र, गुरू की भक्ति

संसार में अनेक प्रकार के आराध्य देवों, परस्पर विरूद्ध कथन करने वाले शास्त्रों तथा विविध रूपधारी गुरूओं की अनेक परम्पराओं को देखकर मानवमात्र के मन में स्वाभाविक जिज्ञासा होती है कि इनमें सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सच्चे गुरू कौन हैं ? जिनसे स्वयं का एवं संसार के प्राणियों का कल्याण हो सकता है। जैनागम में सच्चे देव, शास्त्र और गुरू के स्वरूप का निरूपण इस प्रकार है

देव का स्वरूप

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि देव को निश्चयतः दोषरहित, सर्वज्ञ और आगमेशी होना चाहिए, अन्यथा वह आप्त नहीं हो सकता। देव के इस स्वरूप में उन्होंने आप्त को समस्त कर्ममल से रहित, सर्वज्ञ और हितोपदेशी कहा है। वे कहते हैं कि आप्तपुरूष वही हो सकता है, जिसमें क्षुत्, पिपासा, जरा, आतंक, जन्म, मृत्यु, भय, असंयम राग–द्वेष तथा मोह नहीं होते। ऐसा आप्त ही परमेष्ठी, परंज्योति, विराग, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादि मध्यान्त, सार्व–सर्वहितंकर तथा शास्ता कहा जाता है। ऐसा शास्ता ही अनात्मार्थी राग के बिना जीवों के लिए कल्याण का उपदेश ठीक वैसे ही देता है, जैसे शिल्पी के कर–स्पर्श से बजता हुआ मुरज वाद्य किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं करता।

आप्तेनोच्छिन्नदोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत्।। 5।।
क्षुत्पिपासा – जरातंक–जन्मान्तकभयस्मयाः।
न रागद्वेषमोहाश्च यस्याप्तः स प्रकीर्त्यते।। 6।।

परमेष्ठी परंज्योति विरागो विमलः कृती।
सर्वज्ञोऽनादि–मध्यान्तः सार्वः शास्तोपलाल्यते।। 7।।
अनात्मार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन् शिल्पिकरस्पर्शान्मुरजः किमपेक्षते।। 8।।

–रत्न.श्रा.अ.1।

राग, द्वेष और मोह युक्त जीव सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसलिए वह मोक्षमार्ग का उपदेष्टा भी नहीं हो सकता। मोक्षमार्ग के उपदेश के लिए कर्म रहित होना आवश्यक है। कर्म–रहित होने पर ही वह सर्वज्ञ हो सकता है। **सोमदेव** ने भी लिखा है कि जो सर्वज्ञ है, सभी लोकों का स्वामी है, सभी दोषों से रहित है, सभी का हित करने वाला है, उसे आप्त कहते हैं।[1]

सर्वज्ञं सर्वलोकेशं सर्वदोष–विवर्जितम्। सर्वसत्वहितं प्राहुराप्तमाप्तमतोचिताः।।

जो त्रिकालवर्ती गुण और पर्यायों से युक्त समस्त द्रव्यों को तथा समस्त लोकालोक को प्रत्यक्ष जानता है, वह सर्वज्ञ देव हैं[2]।

जो जाणदि पच्चक्खं तिलोय–गुण–पज्जएहिं संजुत्तं।
लोयालोयं सयलं सो सव्वण्हू हवे देओ।।

'दिव्' धातु से 'देव' शब्द बनता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में पंचपरमेष्ठी को 'देव' कहा है – 'जो परमसुख में क्रीड़ा करता है, जो कर्मों को जीतने के प्रयत्न में संलग्न है अथवा जो करोड़ों सूर्यों से भी अधिक तेज से देदीप्यमान है, वह देव है। जैसे– अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु।[3] **पंचाध्यायी** में रागादि और ज्ञानावरणादि कर्मों के अभावजन्य अनन्तचुष्ट्य से सम्पन्न आत्मा को 'देव' कहा है –

दोषो रागादिसद्भावः स्यादावरणं च कर्म तत्।
तयोरभावोऽस्ति निःशेषो यात्रासौ देव उच्यते।।

पं.अ.उ. 603।

वीरोदय में देव के स्वरूप – का उल्लेख इस प्रकार किया गया है –

जिना जयन्तूत्तमसौख्यकूपाः सम्मोहदंशाय समुत्थधूपाः।
विश्वस्य विज्ञानि पदैकभूपा दर्पादिसर्पाय तु तार्क्ष्यरूपाः।। 1।।

–वीरो.सर्ग.20।

जो उत्तम अतीन्द्रिय सुख के भण्डार हैं, मोह–रूप डांस–मच्छरों के लिए जो दशांगी धूप से उठे धूम्र के समान है, जिन्होंने विश्व के समस्त ज्ञेय पदार्थों को जानकर सर्वज्ञ पद पा लिया है और जो दर्प (अहंकार) मात्सर्य आदि सर्पों के लिए गरूड़–स्वरूप हैं, वही सच्चे देव हैं।

देव–भक्ति

वीतरागी अरिहन्त और सिद्धों की भक्ति किसी सांसारिक–कामना की पूर्ति हेतु नहीं की जाती, अपितु उन्हें आदर्श पुरूषोत्तम मानकर केवल उनके गुणों का चिन्तवन किया जाता है और वैसा बनने की भवना भाई जाती है। फलतः भक्त के परिणामों में स्वभावतः निर्मलता आती है। इसमें ईश्वर–कृत कृपा आदि अपेक्षित नहीं है। देवमूर्ति, शास्त्र एवं गुरू के आलम्बन से भक्त अपना कल्याण करता है। अतः व्यवहार से उन्हें कल्याण का कर्त्ता कहते हैं, निश्चय से नहीं; क्योंकि कोई द्रव्य अन्य द्रव्य का कर्त्ता नहीं है, सभी द्रव्य अपने–अपने कर्त्ता हैं। उपादान में ही कर्तृत्व है, निमित्त उसमें सहायक हो सकता है, क्योंकि व्यावहारिक भाषा में पर–निमित्त को कर्त्ता कहते हैं। अध्यात्म की भाषा में पर–पदार्थ निमित्त–मात्र है, कर्त्ता नहीं।

अतएव भक्ति–स्त्रोतों में फल–प्राप्ति की जो भावनायें की गई हैं, वे औपचारिक व्यवहार नयाश्रित कथन हैं। भावों की निर्मलता ही कार्य–सिद्धि में साधक होती है। वीतराग की भक्ति से भावों में निर्मलता आती है। फलस्वरूप कर्म–रज के हटने से भक्त्यनुसार फलप्राप्ति होती है। मोक्षार्थी को सांसारिक लाभ की कामना नहीं करना चाहिए; क्योंकि इससे संसार–स्थिति बढ़ती है, मुक्ति नहीं होती

अरहंत–सिद्धचेदियपवयण–गणणाण–भत्ति संपण्णो।
बंधदि पुण्णं बहुसो ण दु सो कम्मक्खयं कुणदि।।

–पंचा.गा. 166।

वीरोदय में देव–भक्ति – का उदाहरण इस प्रकार है –

सन्त सदा समा भान्ति मर्जूमति नुतिप्रिया।
अयि त्वयि महावीर! स्फीतां कुरू मर्जूं मयि।। 40।।

–वीरो.सर्ग.22।

हे महावीर! सन्त जन यद्यपि आप में सदा समभाव रखते हैं, तथापि अति भक्ति से वे आपको नमस्कार करते हैं; क्योंकि आप वीतराग होते हुए भी विश्व भर के उपकारक हैं, निर्दोष हैं और संकीर्णता से रहित हैं। आपकी कृपा से आपकी यह निर्दोषता मुझे भी प्राप्त हो, ऐसी मुझ पर कृपा करें।

शास्त्र का स्वरूप – आचार्य समन्तभद्र ने आगम को निम्नांकित विशेषणों से विशिष्ट बतलाया है।

1. **आप्तोपज्ञ** – आप्त के द्वारा उपज्ञ–ज्ञात।
2. **अनुल्लंघ्य** – जिसका उल्लंघन न किया जा सके।
3. **अदृष्टेष्ट विरोधी** – प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रमाणों से जिसमें विरोध न आये।
4. **तत्त्वोपदेशकृत्** – तत्त्वों का उपदेश करने वाला।
5. **सार्व** – सर्व–जीव–हितंकर।
6. **कापथघट्टन** – कुमार्ग का निराकरण करने वाला।

सोमदेव ने लिखा है कि सबसे पहले आप्त (देव) की परीक्षा कर उसमें मन को लगाना चाहिये। जो परीक्षा किये बिना ही देव का आदर करते हैं, वे अन्धे हैं तथा उस देव के कन्धे पर हाथ रख कर सद्गति पाना चाहते हैं। जैसे माता–पिता के शुद्ध होने पर सन्तान शुद्ध होती है वैसे ही देव के शुद्ध होने पर आगम में शुद्धता आती है।[4] 'शास्त्र' का सामान्य अर्थ है– **'ग्रन्थ'**। सर्वज्ञ भगवान के उपदेश के पश्चात् आचार्य–परम्परा से प्राप्त उपदेश को **'आगम'** कहते हैं, अर्थात् पूर्वोक्त अर्हन्त देव के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादक ग्रन्थ **'आगम'** कहलाते हैं।[5]

वीरोदय में आप्त और आगम – प्रस्तुत महाकाव्य में आप्त के स्वरूप का चित्रण इस प्रकार है–

भविष्य में होने वाले, वर्तमान में विद्यमान और भूतकाल में उत्पन्न हो चुके ऐसे त्रैकालिक पदार्थों की परम्परा को जानना निरावरण ज्ञान का माहात्म्य है। ज्ञान का आवरण दूर हो जाने से सार्वकालिक

वस्तुओं को जानने वाले पवित्र ज्ञान को सर्वज्ञ भगवान् धारण करते हैं। अतः वे सर्वज्ञाता आप्त होते हैं। उन आप्त को आगम द्वारा ही जाना जा सकता है। यदि वेद में सर्ववेत्ता होने का उल्लेख पाया जाता है, तो फिर कौन सुचेता पुरूष उस सर्वज्ञ का निषेध करेगा ? यदि यह कहा जाय कि श्रुति (वेद–वाक्य) से ही वह सर्वज्ञ हो सकता है अन्यथा नहीं, तो यह तभी सम्भव है, जब कि मनुष्य में सर्वज्ञ होने की शक्ति विद्यमान हो। जिस प्रकार मणि के भीतर चमक होने पर ही वह शाण से प्रकट होती है। क्या साधारण पाषाण में वह चमक शाण से प्रकट हो सकती है ? नहीं। जब मनुष्य में सर्वज्ञ बनने की शक्ति है, तभी वह श्रुति के निमित्त से प्रकट हो सकती है।

तीर्थंकरों के मुख से निकली हुई वाणी जो पूर्वापर दोष से रहित हो और शुद्ध हो उसे **'आगम'** कहते हैं। आगम को ही **'तत्त्वार्थ'** कहा जाता हैं।

तस्य मुहग्गदवयणं पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं।
आगमिदि परिकहियं तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था।।

जो आप्त के द्वारा कहा गया हो, वादी–प्रतिवादी के द्वारा अखण्डित हो, प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अविरूद्ध हो, वस्तु–स्वरूप का प्रतिपादक हो, वही **"सत्यार्थ शास्त्र"** हैं।

आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्।
तत्त्वोपदेशकृतसार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्।।

–रत्न.श्रा.श्लोक 9।

जिसमें वीतरागी सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित भेद रत्नत्रय का स्वरूप

वर्णित हो, उसे आगम (शास्त्र) कहते हैं। **वीतराग सर्वज्ञ प्रणीत–षड्द्रव्यादि–सम्यक्श्रद्वान ज्ञानव्रताद्यनुष्ठान भेदरत्नत्रय स्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागम–शास्त्रं भण्यते।** आप्त–वचन आदि से होने वाले पदार्थ–ज्ञान को आगम कहते हैं। **"आप्तवचनादि निबन्धनमर्थज्ञानं आगमः।"** आप्त वाक्य के अनुरूप अर्थज्ञान को आगम कहते हैं।

आगम (शास्त्र) भक्ति

शास्त्र वही है, जो वीतराग द्वारा प्रणीत हो। अतएव आगमवन्तों का ज्ञान न्यूनता से रहित, अधिकता से रहित, विपरीतता से रहित तथा निःसन्दिग्ध वस्तु–तत्त्व की यथार्थता से युक्त होता है।

अन्यूनमनति–रिक्तं याथातथ्यं बिना च विपरीतात्।
निःसन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञान – मागमिनः।। 42।।

–रत्न.श्रा.अ.2, श्लो.1।

जो रागी, द्वेषी और अज्ञानियों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ हैं वे आगमाभास हैं। पूर्व तथा अंगरूप भेदों में विभक्त यह श्रुतशास्त्र देवेन्द्रों और असुरेन्द्रों से पूजित है। अनन्तसुख के पिण्ड रूप मोक्ष–फल से युक्त है। कर्मफल–विनाशक, पुण्य–पवित्र शिवरूप, भद्ररूप, अनन्त अर्थों से युक्त, दिव्य, नित्य, कलिरूप कालुष्यहर्ता, निकाचित (सुव्यवस्थित) अनुत्तर, विमल, सन्देहान्धकार–विनाशक, अनेक गुणों से युक्त आगम की भक्ति करना चाहिये, क्योंकि यह आगम स्वर्ग–सोपान, मोक्षद्वार, सर्वज्ञ–मुखोद्भूत, पूर्वापर विरोध–रहित, विशुद्ध–अक्षय तथा अनादिनिधन है –

देवासुरिन्दमहियं अणंत सुहपिंडमोक्ख फलपउरं।
कम्ममल पडलदलणं पुण्णपवित्तं सिवं भद्दं।। 80।।
पुव्वंगभेद भिण्णं अणंत–अत्थेहिं संजुदं दिव्वं।
णिच्चं कलिकलुसहरं णिकाचिदमणुत्तरं विमलं।। 81।।
संदेहतिमिर दलणं बहुविहगुणजुत्तं सग्ग सोवाणं।
मोक्खग्गदारभूदं णिम्मल बुद्धि संदोहं।। 82।।

सव्वण्हुमुहविणिग्गय पुव्वावर दोस रहिद परिसुद्धं।
अक्खमणादिणिहणं सुदणाणपमाणं णिद्दिट्ठं।। ज.प. 83।।

गुरू का स्वरूप

समन्तभद्र ने लिखा है कि जो विषयों की अभिलाषाओं के वशीभूत न हो, आरम्भ तथा परिग्रह रहित हो, ज्ञान, ध्यान तथा तप में अनुरक्त हो–ऐसा प्रशस्त तपस्वी ही सच्चा गुरू हो सकता है –

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तः तपस्वी सः प्रशस्यते।। 10।।

–रत्न.श्रा.श्लो. 10।

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्वारित्ररूप रत्नत्रय के द्वारा जो महान बन चुके हैं उन्हें 'गुरू' कहते हैं। ऐसे गुरू आचार्य, उपाध्याय और साधु–ये तीनों परमेष्ठी हैं।

'गुरू' का अर्थ है, जो तारे– भवसागर से पार लगाये। निश्चय से अपना आत्मा ही स्वयं को तारता है, अर्हन्तादि उसमें निमित्त हैं। इस तरह उपादान कारण की दृष्टि से अपना शुद्ध आत्मा ही गुरू है, क्योंकि वही सदा मोक्ष की अभिलाषा करता है, मोक्षसुख का ज्ञान कराता है तथा उसकी प्राप्ति में अपने को लगाता है। यह आत्मा अपने ही द्वारा संसार या मोक्ष को प्राप्त करता है। अतएव स्वयं ही अपना शत्रु और गुरू भी है। कहा भी है –

स्वस्मिन् सदाभिलाषित्वादभीष्ट–ज्ञापकत्वतः।
स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरूरात्मनः।। 34।।

–इष्टोपदेश

आत्माऽऽत्मना भवं मोक्षमात्मनः कुरूते यतः।
अतो रिपुर्गुरूश्चायमात्मैव स्फुटमात्मनः।।

–ज्ञानार्णव 32/81।

सच्चे साधु को सिंह के समान पराक्रमी, हाथी के समान स्वाभिमानी,

उन्नत बैल के समान भद्रप्रकृति, मृग के समान सरल, पशुवत् निरीह गोचरी–वृत्तिवाला, पवनवत् निःसंग, सर्वत्र विचरण करने वाला, सूर्यवत् तेजस्वी या सकल तत्त्वप्रकाशक, सागरवत् गम्भीर, मेरूसम अकम्प, चन्द्रसम शान्तिदायक, मणिवत् ज्ञान–प्रभापुंजयुक्त, पृथिवीवत् सहनशील, सर्पवत् अनियत–वसतिका में रहने वाला, आकाशवत् निरालम्बी या निर्लेप तथा सदा परमपद का अन्वेषण करने वाला कहा है –

सीह–गय–वसह–मिय–पसु–मारूद–सुरूवहिमंदरिदुं मणी।
खिदि–उरगंबरसरिसा परमपय विमग्गथा साहू।।

–ध.1/1.1.1/31/51।

वैराग्य की पराकाष्ठा को प्राप्त, प्रभावशाली, दिगम्बर रूपधारी, दयाशील, निर्ग्रन्थ, अन्तरंग–बहिरंग गाँठ को खोलने वाला, व्रतों को जीवनपर्यन्त पालने वाला, गुण श्रेणी रूप से कर्मो की निर्जरा करने वाला, तपस्वी, परीषह–उपसर्ग विजयी, कामजयी, शास्त्रोक्त विधि से आहार लेने वाला, प्रत्याख्यान में तत्पर इत्यादि अनेक गुणों को धारण करने वाला साधु होता है।

वीरोदय में गुरू/साधु स्वरूप

आचार्यश्री ने गुरू/साधु के स्वरूप का निरूपण करते हुये कहा है– "साधु को सूर्योदय होने और प्रकाश के भली–भाँति फैल जाने पर ही सामने भूमि को देखते हुए विचरना चाहिये। वह पक्षी के समान सदा विचरता रहे, किसी एक स्थान का उपभोक्ता न बने। दूसरे जीव का हित जैसे संभव हो, वैसी सद्–उक्ति वाली हित–मित भाषा का प्रयोग करे।" यथा–

मनोवचःकायविनिग्रहो हि स्यात्सर्वतोऽमुष्य यतोऽस्त्यमोही।
तेषां प्रयोगस्तु परोपकारे स चापवादो मदमत्सरारेः।। 27।।
कस्यापि नापत्तिकरं यथा स्यात्तथा मलोत्सर्गकरो महात्मा।
संशोध्य तिष्ठेद्भुवमात्मनीनं देहं च सम्पिच्छिकया यतात्मा।। 28।।

निःसंगतां वात इवाभ्युपेयात् स्त्रियास्तु वार्तापि सदैव हेया।
शरीरमात्मीयमवैति भारमन्यत्किमन्गी कुरूतादुदारः।। 29।।

–वीरो.सर्ग.18।

साधु मोहरहित होकर अपने मद–मत्सर आदि भावों पर विजय पाना चाहता है, अतः उसे अपने मन की संकल्प–विकल्प, वचन की संभाषण और काय की गमनादि रूप सभी प्रकार की क्रियाओं का विनिग्रह करना चाहिए। वह ऐसे निर्जन्तु और एकान्त स्थान पर मल–मूत्रादि का उत्सर्ग करे, जहाँ किसी भी जीव को किसी भी प्रकार की आपत्ति न हो। वह संयतात्मा साधु भूमि पर या जहाँ कहीं भी बैठे, उस स्थान को और अपने देह को पिच्छिका से भली–भाँति संशोधन और परिमार्जन करके ही बैठे और सावधानी पूर्वक ही किसी वस्तु को उठाये या रखे। साधु वायु के समान सदा निःसंग (अपरिग्रही) होकर विचरे। स्त्रियों को तो स्वप्न में भी याद न करे। जो उदार साधु अपने शरीर को भी भारभूत मानता है, वह दूसरी वस्तु को क्यों अंगीकार करेगा ?

गुरू भक्ति

साधु के लिए परोपकार ही धन है। वे बिना स्वार्थ भावना के जगत् के हितैषी होते हैं। राजा और रंक को हमेशा एक–सा समझते हैं। राज–प्रासाद और गरीब की झोपड़ी, स्वर्णमन्दिर और श्मशान उनके लिए एक–जैसे हैं। न वे किसी से राग रखते हैं, न किसी से द्वेष। ऐसे साधु, सैकड़ों प्रयत्नों से अवश्य रक्षणीय हैं।

यथा परोपकारैकधना हि सन्तः स्वार्थं विना ये हि हितैषिणस्ते।
सम्राट–दरिद्रेषु समाः त्रिकालं कथं न रक्ष्या बहुभिः प्रयत्नैः।।

–भा.विवेक.श्लो. 244।

गुरू के समागम से तामसिक वृत्तियाँ और कलुषित भावनायें **नष्टप्रायः** हो जाती हैं। साधु के दिव्य–दर्शन और उपदेश से संसार प्रेमपूर्वक रहता है। सच्चे साधु दुनियाँ की महान विभूति हैं। उनके दर्शन मात्र से ही प्राणी का कल्याण होता है।

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः।
कालेन फलति तीर्थः, सद्यः साधु–समागमः।।

सुख, समृद्धि, वैभव, विभूतियाँ, धर्म तथा प्रेमामृत की धारा वहीं पर है जहाँ अपने आत्मोत्थान में तत्पर महान् आत्मा अनेक आत्म–विभूतियों के धारी साधु हैं। गुरू–भक्ति से ही ऐहिक–पारलौकिक सुख प्राप्त होते हैं। **यथा –**

सुखं समृद्धिर्विभवो विभूति–र्धर्मोर्मितः स्नेहपरंपरा वा।
तत्रैव यत्रास्ति महाविभूतिः, साधुः स्वकीयात्मपरो महात्मा।।

–भा.वि.श्लो. 226।

गुरूपदेश से अनन्त प्राणियों का उद्धार होता है। पतित और पथभ्रष्ट भी साधु का उपदेश पाकर उन्नत हो जाते हैं, सन्मार्ग में लग जाते हैं, उनके सारे झगड़े दूर हो जाते हैं। जब गुरू इतना पतितोद्धारक है, तो फिर वह क्यों न पूजा जाय? उसकी भक्ति करना और उनकी विघ्न–बाधाओं को दूर कर अपने मार्ग में लगाये रखना प्रत्येक प्राणी का कर्त्तव्य है। जिनका अन्तरंग और बहिरंग पवित्र हैं, ऐसे साधु के संयोग से भव्य जीवों का अपने आप उद्धार हो जाता है।

क्षणस्थिरे वस्तुनि मा समीहां करोतु कश्चित्त्विति ये वदन्ति।
आध्यात्मिकोत्थानपराः प्रकाशं, लोकात्तरं ते वितरन्ति लोके।।

–भा.वि.श्लो. 229।

संसार का प्रत्येक पदार्थ नाशवान है। इसमें आसक्ति न रखना ही कल्याणकारी है। संसार के उद्धार की तीव्र इच्छा जिनके हैं, वे पूजनीय हैं। अतः गुरू के सम्पूर्ण गुणों में अनुराग करना, उपसर्ग विघ्न आदि आ जाने पर उनको दूर करना ही सच्ची गुरू–भक्ति है।

वीरोदय में गुरूभक्ति का महत्त्व

वीरोदय के प्रारम्भ में ही गुरू के प्रति सम्मान प्रकट किया गया है और प्रत्येक व्यक्ति को उन्हें अपना आदर्श मानने, उनके प्रति कृतज्ञता

पूर्ण आदर–भाव रखने की शिक्षा भी दी गई है।

ज्ञानेन चानन्दमुपाश्रयन्तश्चरन्ति ये ब्रह्मपथे सजन्तः।
तेषां गुरूणां सदनुग्रहोऽपि कवित्वशक्तौ मम विघ्नलोपी।। 6।।

–वीरो.सर्ग.1।

जो ज्ञानानन्द का आश्रय लेते हुए ब्रह्म–पथ (आत्मकल्याण के मार्ग) में अनुरक्त हो आचरण करते हैं, ऐसे ज्ञानानन्द रूप ब्रह्म–पथ के पथिक गुरूजनों का सत् अनुग्रह ही विघ्नों का लोप करने वाला है।

रत्नत्रय का स्वरूप

वस्तुतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र स्वरूप आत्मा की प्रवृत्ति रत्नत्रय है'। बिना रत्नत्रय को प्राप्त किये आज तक किसी न कहीं और कभी भी शुद्ध चिद्रूप को प्राप्त नहीं किया। देखो तप के बिना ऋद्धि, पिता के बिना पुत्री और मेघ के बिना वर्षा नहीं हो सकती। **पद्मनन्दिपन्चविंशतिका** के एकत्व सप्तत्ति अधिकार (14वें श्लोक) में कहा है कि आत्मा का निश्चय दर्शन है, आत्मा का बोध ज्ञान है, आत्मा में ही स्थिरता चारित्र है– ऐसा योग शिवपद (मोक्षमार्ग) का कारण है।

हतं ज्ञानं क्रियाहीनं हता चाज्ञानिनः क्रिया।
धावन् किलान्धको दग्धः पश्यन्नपि च पंगुलः।।

–तत्त्वार्थवार्तिक पृ.14/26।

मोक्षमार्ग के अन्तर्गत ही आचार्यों ने तत्त्व–चिन्तन का विवेचन तथा आचार विषयक सिद्धान्तों का विश्लेषण किया है। दूसरे शब्दों में सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत **तत्त्वमीमांसा**, सम्यग्ज्ञान के अन्तर्गत **ज्ञानमीमांसा** तथा सम्यक्चारित्र के अन्तर्गत **चारित्र–मीमांसा** समाहित है।

निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग

निश्चय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र से तन्मय हो, अन्य परद्रव्य को न करता है, न छोड़ता है, वही मोक्षमार्ग है। तात्पर्य यह है कि जो जीव पर पदार्थ से भिन्न आत्मस्वरूप में चरण करता है, उसे ही

जानता और देखता है, वही सम्यकचारित्र, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन है। उक्त तीनों यदि पराश्रित होंगे तो उनसे बन्ध होगा और यदि स्वाश्रित होंगे तो मोक्ष होगा। श्री **देवसेनाचार्य** ने तत्त्वसार में कहा है –

ससहावं वेदंतो विच्चलचित्तो विमुक्कपरभावो।
सो जीवो णायव्वो दंसण णाणं चरित्तं च।।

अपने स्वभाव का अनुभव करता हुआ, जो जीव परभाव को छोड़कर निश्चल चित्त होता है, वही जीव सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्चारित्र है, ऐसा जानना चाहिए।

रत्नत्रयी आत्मध्यानी है

जो योगी ध्यानस्थ मुनि जिनेन्द्रदेव के मतानुसार रत्नत्रय की आराधना करता है और पर पदार्थ का त्याग करता है। वही आत्मध्यानी है, इसमें सन्देह नहीं है। ज्ञानी के दर्शन, ज्ञान, चारित्र व्यवहार से है। **आ. कुन्दकुन्द** ने समयसार में कहा है – ज्ञान के चारित्र, दर्शन, ज्ञान–यह तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं, निश्चय से ज्ञान भी नहीं है और दर्शन भी नहीं है, ज्ञानी तो एक शुद्ध ज्ञायक ही हैं –

व्यवहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं।
ण–वि णाणं–ण चरित्तं ण दंसणं जाणनो सुद्धो।।

–समयसार गा. 7।

सम्यग्दर्शन

आचार्य **उमास्वामी** ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि अपने अपने स्वरूप के अनुसार पदार्थों का जो श्रद्धान होता है, वह सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है, उसका उस रूप होना यही यहाँ "तत्त्व"–शब्द का अर्थ है। जो निश्चय किया जाता है वह अर्थ है – **'अर्थते निश्चीयते इत्यर्थः'**। यद्यपि "दर्शन"–शब्द का सामान्य अर्थ आलोक है, तथापि यहाँ आलोक अर्थ न लेकर श्रद्धान को ग्रहण किया है। धातुओं के अनेक अर्थ होते हैं। यहाँ "दृश्"–धातु का अर्थ श्रद्धान गृहण किया गया है।

तत्त्वार्थों का श्रद्धान रूप जो आत्मा का परिणाम है वही मोक्ष का साधन है, क्योंकि वह भव्यों में ही पाया जाता है, किन्तु आलोक, चक्षु आदि के निमित्त से जो ज्ञान होता है, वह साधारणतः सब संसारियों में पाया जाता है। अतः उसे मोक्षमार्ग मानना युक्त नहीं है। **आ. कुन्दकुन्द** ने लिखा है कि जीव, अजीव, आस्रव, बंध, (पुण्य–पाप) संवर, निर्जरा और मोक्ष को यथार्थ रूप में जानना सम्यक्त्व है।

भूयत्येणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च।
आसव संवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं।।

–समयसार.गा. 13।

आचार्य **समन्तभद्र** ने लिखा है कि सत्यार्थ अथवा मोक्ष के कारण स्वरूप देव, शास्त्र गुरू का आठ अंग सहित, तीन मूढ़ता और आठ मद रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। श्री **उमास्वामी** ने श्रावकाचार में कहा है कि तीर्थंकर परमदेव को देव मानना, दयामय धर्म को धर्म मानना और निर्ग्रन्थ गुरू को गुरू मानना सम्यग्दर्शन है। स्वामी **कार्तिकेयानुप्रेक्षा** में कहा है कि – जो लोगों के प्रश्नों के वश से और व्यवहार को चलाने के लिए सप्तभंगी के द्वारा नियम से अनेकांतात्मक तत्त्व का श्रद्धान करता है, जो आदर के साथ जीव–अजीव आदि नौ प्रकार के पदार्थों को श्रुतज्ञान से और नयों से अच्छी तरह जानता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टि है।

जो तच्चमणेयंतं णियमा सद्दहदि सत्तअंगेहिं।
लोयाण पण्हवसदो ववहारपवत्तणट्ठं–च।। 10।।
जो आयरेण मण्णदि जीवाजीवादि णव–विहं अत्थं।
सुदणाणेण णएहि य सो सद्दिटठी हवे सुद्धो।। 11।।

श्री **अमृतचन्द्रसूरि** ने कहा है कि – जीव–अजीव आदि सात तत्त्वों के यथार्थ स्वरूप का विपरीत अभिनिवेश से रहित सदा ही श्रद्धान करना चाहिए; क्योंकि वह आत्मा का स्वरूप है।

जीवाजीदीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताभिनिवेश विविक्तमात्मरूपं तत्।। 22।।

यशस्तिलक चम्पू में कहा गया है कि – अन्तरंग और बहिरंग कारणों के मिलने पर आप्त (देव) शास्त्र और पदार्थों का तीन मूढ़ता रहित, आठ अंग सहित जो श्रद्धान होता है, उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं, यह सम्यग्दर्शन प्रशम, संवेग आदि गुणों वाला होता है।

आप्तागम–पदार्थानां श्रद्धानं कारणद्वयात्।
मूढ़ाद्यपोढमष्टांगं सम्यक्त्वं प्रशमादि भाक्।। 48।।

श्री वसुनन्दि आचार्य ने लिखा है – आप्त, आगम और तत्त्वादिकों का जो शंकादि दोषों से रहित निर्मल श्रद्धान हैं, उसे ही सम्यक्त्व जानना चाहिये।

अत्तागम–तच्चाणं जं सद्दहणं सुणिम्मलं होइ।
संकाइदो स रहियं तं सम्मत्तं मुणेयव्वं।। 6।।

–वसुनन्दी.श्रा.।

चरित्रसार में **श्रीचामुडंराय** जी ने लिखा है कि – भगवान अर्हन्त परमेष्ठी के द्वारा उपदिष्ट निर्ग्रन्थ लक्षण मोक्षमार्ग में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। श्री **शुभचन्द्राचार्य** ने कहा है –

यज्जीवादिपदार्थानां श्रद्धानं तद्धिदर्शनम्।
निसर्गेणाधिगत्या वा तद्भव्यस्यैव जायते।। 6।।

–ज्ञानार्णव.पृ. 86।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना ही नियम से सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से भव्य जीवों के ही उत्पन्न होता है, अभव्यों के नहीं। **श्री नेमिचन्द्राचार्य** ने लिखा है –

जीवादिसद्दहणं सम्मत्तं रूवमप्पणो तं तु।
दुरभिणिवेसविमुक्कं णाणं खु होदि सदि जह्मि।। 41।।

जीवादि पदार्थों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व है, वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है तथा इस सम्यक्त्व के होने पर ज्ञान दुरभिनिवेशों (संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय) से रहित सम्यक् हो जाता है। उपर्युक्त

लक्षणों पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट होता है कि सम्यग्दर्शन के चार प्रमुख कारण है।

1. **तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना।**
2. **सच्चे देव, गुरू, धर्म का श्रद्धान करना।**
3. **अपना और पर का यथार्थ स्वरूप जानना।**
4. **निज स्वरूप का निश्चय करना।**

वीरोदय में सम्यक्त्व स्वरूप – उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य के उद्धरण से स्पष्ट किया गया है –

स्यूतिः पराभूतिरिव ध्रवत्वं पर्यायतस्तस्य यदेकतत्त्वम्।
नोत्पद्यते नश्यति नापि वस्तु सत्त्वं सदैतद्विदधत्समस्तु।। 16।।

–वीरो.सर्ग.19।

जैसे पर्याय की अपेक्षा वस्तु में स्यूति (उत्पत्ति) और पराभूति (विपत्ति या विनाश) पाया जाता है, उसी प्रकार द्रव्य की अपेक्षा ध्रुवपना भी उसका एक तत्त्व है, जो कि उत्पत्ति और विनाश में बराबर अनुस्यूत रहता है। उसकी अपेक्षा वस्तु न उत्पन्न होती है और न विनष्ट होती है। इस प्रकार उत्पाद व्यय और ध्रौव्य– इन तीनों को धारण करने वाली वस्तु को यथार्थ सम्यक्त्व स्वरूप मानना चाहिये।

सम्यग्ज्ञान

पदार्थ के यथार्थ स्वरूप को जानना सम्यग्ज्ञान है। निश्चय नय से सम्यग्ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप है। यह स्व–पर प्रकाशक है और सदैव संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से रहित होता है।

सम्यक्त्व के द्वारा दृष्टि की शुद्धता हो जाने और आप्त, आगम तथा तत्त्वार्थ का सत् श्रद्धान हो जाने के बाद मोक्षमार्ग पर आगे बढ़ने के लिए दूसरी साधना सम्यग्ज्ञान की है। सम्यग्दर्शन होने के बाद ही ज्ञान में सम्यक्–रूपता आती है। इसलिए सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञानाराधना का क्रम बताया गया है। दर्शन और ज्ञान में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है, जिसे कारण

और कार्य का सम्बन्ध कहा जा सकता है। जैसे घन–पटल के दूर होते ही सूर्य का प्रताप और प्रकाश प्रकट हो जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा से मोहान्धकार हटते ही दर्शन और ज्ञान प्रकट हो जाते हैं।

सम्यग्ज्ञान का प्रतिपादन करते हुए **आ. समन्तभद्र** ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में लिखा है कि वस्तु–स्वरूप का अन्यून, अनतिरिक्त, याथातथ्य, विपरीतता तथा संदेह रहित ज्ञान सम्यग्ज्ञान है। **आ. अमृतचन्द्र** ने लिखा है कि जिन्होंने सम्यक्त्व का आश्रय लिया है, जो आत्महित के इच्छुक हैं, उन्हें आगम की आम्नाय और प्रमाण–नय रूप युक्ति से प्रयत्न पूर्वक वस्तु–स्वरूप का विचार कर नित्य ही सम्यग्ज्ञान की उपासना करनी चाहिए।

यद्यपि सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होता है, फिर भी दोनों में दीपक और प्रकाश की तरह कारण और कार्य का भेद है। इसलिए वस्तु के अनेकान्तात्मक स्वरूप को संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय रहित जानने का अध्यवसाय करना चाहिए। **श्री नेमिचन्द्रसूरि** ने लिखा है कि अपने को और पर को ठीक–ठीक जानना (संशय, विमोह और भ्रम से रहित वस्तु के स्वरूप को पहचानना) सम्यग्ज्ञान है।

संशय–विमोह–बिभ्रम–विवज्जियं अप्प–परसरूवस्स।
गहणं सम्मण्णाणं सायारमणेयभेयं तु।।

–द्रव्यसंग्रह. गा. 42।

श्रावकाचार सारोद्धार में कहा है कि जो जीवों को त्रिकाल और त्रिजगत में तत्त्वों के हेय और उपादेय का प्रकाश करता है, वह सम्यग्ज्ञान है।

वीरोदय में सम्यग्ज्ञान – का लक्षण इस प्रकार किया है –

लभेत मुक्तिं परमात्मबुद्धिः समन्ततः सम्प्रतिपद्य शुद्धिम्।
इत्युक्तिलेशेन स गौतमोऽत्र बभूव सद्योऽप्युपलब्धगोत्रः।। 28।।

–वीरो.सर्ग.14।

परमात्म–बुद्धि वाला जीव सर्व प्रकार के अन्तरंग और बाह्य शुद्धि को प्राप्त कर अर्थात् द्रव्यकर्म (ज्ञानावरणादि) भावकर्म (राग–द्वेषादि) और नोकर्म (शरीरादि) से रहित होकर मुक्ति प्राप्त करता है। इस प्रकार भगवान के अल्पवचनों से ही गौतम शीघ्र सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कर सन्मार्ग को प्राप्त हुआ।

सम्यग्चारित्र

सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की साधना के बाद सम्यग्चारित्र की आराधना मोक्षमार्ग को प्राप्त करने के लिए अनिवार्य है। वास्तव में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र– ये तीनों मिलकर मोक्षमार्ग हैं, पृथक्–पृथक् नहीं। **आचार्य समन्तभद्र** ने लिखा है कि मोह–तिमिर के नष्ट होने पर सम्यग्दर्शन के लाभ से जिसे सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया है, ऐसा साधु (सम्यग्दृष्टि) राग–द्वेष की निवृत्ति के लिए चारित्र को धारण करता है। राग–द्वेष की निवृत्ति से हिंसादि की निवृत्ति हो जाती है।

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।
रागद्वेषनिवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।

–रत्न.श्रा.श्लो. 47।

रागद्वेषनिवृत्ते–र्हिंसादिनिवर्तना कृता भवति।

–रत्न.श्रा.श्लो. 48।

दार्शनिक दृष्टि से सम्यग्दर्शन मोहनीय कर्म की दर्शन–मोहनीय प्रकृति के दूर होने पर होता है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद चारित्र–मोहनीय की निवृत्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है। राग–द्वेष की निवृत्ति से हिंसा आदि की निवृत्ति स्वतः हो जाती है। हिंसा, अनृत, चोरी, मैथुन और परिग्रह को पाप की प्रणालिका (नाली) समझना चाहिए। इनसे विरत होना चारित्र है।

हिंसानृतचौर्येभ्यो मैथुनसेवा–परिग्रहाभ्यां च।
पापप्रणालिकाभ्यो विरतिः संज्ञस्य चारित्रम्।।

–रत्न.श्रा.श्लो.49।

जैन आचार्यों ने चारित्र के दो भेद किये हैं। **समन्तभद्र** ने लिखा है कि चारित्र सकल और विकल के भेद से दो प्रकार का होता है। सर्वसंग–विरत (परिग्रह रहित) अनगारों के लिए सकलचारित्र है तथा ससंग (परिग्रह युक्त) सागारों (गृहस्थों) के लिए विकलचारित्र है।

सकलं विकलं चरणं तत्सकलं सर्वसंगविरतानाम्।
अनगाराणां विकलं सागाराणां ससंगानाम्।।

–रत्न.श्रा.श्लो. 50।

स्वामीकार्तिकेय ने लिखा है कि सर्वज्ञ के द्वारा उपदिष्ट धर्म दो प्रकार का है – एक तो परिग्रहासक्त गृहस्थों का और दूसरा परिग्रह रहित मुनियों का।

तेणुवइट्ठो धम्मो संगासत्ताण तह असंगाणं।

वसुनन्दि ने भी सागर और अनगार के भेद से धर्म (चारित्र) दो प्रकार का बताया है।

सोमदेव ने लिखा है कि अधर्म कार्यों से निवृत्ति और धर्म–कार्यों में प्रवृत्ति होने को चारित्र कहते हैं। वह सागार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है। सागार का चारित्र देश–चारित्र तथा अनगार का चारित्र सर्वचारित्र कहलाता है। जिनके चित्त सद्विचारों से युक्त हैं, वे ही चारित्र का पालन कर सकते हैं। जिसमें स्वर्ग या मोक्ष किसी को भी प्राप्त कर सकने की योग्यता नहीं है, वह न तो देशचारित्र ही पालन कर सकता है और न सर्वचारित्र ही पाल सकता है।

सम्यग्दर्शन से अच्छी गति मिलती है। सम्यग्ज्ञान से संसार में यश फैलता है। सम्यग्चारित्र से सम्मान प्राप्त होता है और तीनों से मोक्ष की प्राप्ति होती है –

सम्यक्त्वात् सुगतिः प्रोक्ता ज्ञानात्कीर्तिदाहृता।
वृत्तात्पूजामवाप्नोति त्रयाच्च लभते शिवम्।।

तत्त्वों में रूचि का होना सम्यग्दर्शन है। तत्त्वों का कथन कर सकना सम्यग्ज्ञान है और समस्त क्रियाओं को छोड़कर अत्यन्त उदासीन

हो जाना सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र अग्नि है, सम्यग्ज्ञान उपाय है तथा सम्यक्त्व रसौषधि है। इन सबके मिलने पर आत्मा–रूपी पारद धातु अच्छी तरह सिद्ध हो जाती है। **आचार्य अमृतचन्द्र** ने लिखा है कि आत्मस्वरूप में चरण करना सो चारित्र है। स्व समय में प्रवृत्ति करना यह उसका तात्पर्य है और यही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है। शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना इसका अर्थ है, वही यथावस्थित आत्म–गुरू होने से साम्य है और साम्य दर्शन–मोहनीय तथा चारित्र–मोहनीय के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ के अभाव के कारण अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम है। **आचार्य कुन्दकुन्द** का कहना है कि ज्ञान और अप्रतिहत दर्शन ये जीव के अनन्य स्वभाव हैं। इनमें निश्चल और अनिन्दित अस्तित्व चारित्र है –

जीव–सहावं णाणं अप्पडिहद–दंसणं अणण्णमयं।
चरियं च तेसु णियदं अत्थित्त–मणिंदियं भणियं।।

–पंचा.गा.154।

जीव जिसे जानता है, वह ज्ञान है, जिसे देखता है वह दर्शन है। ज्ञान और दर्शन के संयोग से चारित्र होता है। जीव के ये ज्ञानादि तीनों भाव अक्षय तथा अभेद्य होते हैं –

जं जाणह तं णाणं जं पिच्छइ तं च दंसणं भणियं।
णाणस्य पिच्छियस्स च समवण्णा होई चारित्तं।।

–चा.प्रा.गा.34।

जीव के चारित्र हैं, दर्शन है, ज्ञान है, यह व्यवहार से कहा जाता है। वास्तव में जीव न ज्ञान है, न चारित्र है, न दर्शन है। यह तो शुद्ध स्वरूप है। साधु पुरूष को रत्नत्रय की नित्य आराधना करनी चाहिए। निश्चय से ये तीनों तथा आत्मा एक ही है –

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो।।

–समय.गा. 16।

नेमिचन्द्र सूरि ने लिखा है कि रत्नत्रय (सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र) आत्मा के परिणाम है, ये अन्य द्रव्य में नहीं होते। इसलिए इन तीनों से युक्त आत्मा ही मोक्ष का कारण है –

रयणत्तयं ण वट्टइ अप्पाणं मुइत्तु अण्णदवियम्हि।
तम्हा तत्तियमइउ होदि मोक्खस्स कारणं आदा।। 40।।

–द्रव्यसंग्रह

इस प्रकार रत्नत्रय को पाकर ही यह जीव श्रेष्ठ गति को प्राप्त करता है।

वीरोदय में सम्यग्चारित्र

सदाचरण को आचार्यश्री ज्ञानसागर ने निम्न बिन्दुओं के द्वारा स्पष्ट किया है। **यथा** –

वृद्धानुपेयादनुवृत्तबुद्धयाऽनुजान् समं स्वेन वहेत् त्रिशुद्धया।
कमप्युपेयान्न कदाचनान्यं मनुष्यतामेवमियाद्वदान्यः।। 8।।

–वीरो.सर्ग. 17।

बुद्धिमानों को चाहिए कि अपने से बड़े वृद्ध जनों के साथ अनुकूल आचरण करें, अपने से छोटों को तन, मन, धन से सहायता पहुँचावें, किसी भी मनुष्य को दूसरा न समझें। सभी को अपना कुटुम्ब मानकर उनके साथ उत्तम व्यवहार करें। संयमाचरण के लिए मन व इन्द्रियों पर विजय आवश्यक है–

अभिवांछसि चेदात्मन् सत्कर्त्तुं संयमद्रुमम्।
नैराश्यनिगडेनैतन्मनोमर्कटमाधर।। 43।।

–वीरो.सर्ग. 11।

हे आत्मन्! यदि तुम संयम–रूप वृक्ष की सुरक्षा करना चाहते हो, तो अपने इस मन–रूप मर्कट (बन्दर) को निराशा–रूपी सांकल से अच्छी तरह जकड़ कर बांधो।

पुण्य–पाप विवेचना

जैनधर्म में पुण्य और पाप को सात तत्त्वों के साथ गिनकर नव पदार्थ की संज्ञा दी गई है। पुण्य और पाप का निर्धारण शुभ और अशुभ की अवधारणा पर आधारित है तथा शुभ और अशुभ का निर्धारण कर्मसिद्धान्त के आधार पर किया जाता है। दूसरे शब्दों में कर्मों को शुभ और अशुभ, ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है। शुभ कर्म पुण्य का और अशुभ कर्म पांप का कारण है। यथा–

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पावं ति हवदि जीवस्स।
"शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य"

– त.सू.अ.6 सूत्र–3

पुण्य और पाप संसारी जीव की अपेक्षा से ही निर्धारित किये जाते हैं। मोक्ष की दृष्टि से दोनों ही बन्धन के कारण होने से त्याज्य है। **आ. कुन्दकुन्द** ने लिखा है कि जिस प्रकार लोहे की बेड़ी पुरूष को बाँधती है और सुवर्ण की भी बाँधती है, उसी प्रकार शुभ–अशुभ कर्म जीव को बांधता है। प्रशस्त राग, अनुकम्पा और कालुष्य–हीनता पुण्य के कारण हैं।

रागो जस्स पसत्थो अणुकंपा–संसिदो य परिणामो।
चित्तह्मि णत्थि कलुसं पुण्णं जीवस्स आसवदि।।

–पंचा. गा. 135।

प्रमाद बहुल प्रवृत्ति, कलुषता, विषयों की लोलुपता, दूसरों को संताप देना, दूसरों का अपवाद करना, आहार आदि संज्ञाएँ, कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ, पँचेन्द्रियों की पराधीनता, आर्त–रौद्रध्यान, असत्कार्य में प्रयुक्त ज्ञान और मोह– ये सब पापप्रद हैं।

धर्म–रूप परिणत आत्मा शुद्धोपयोग युक्त होने पर निर्वाण–सुख को तथा शुभोपयोग युक्त होने पर स्वर्ग–सुख को पाता है। अशुभ के उदय से आत्मा कुत्सित नर, तिर्यन्च नारकी होकर हजारों दुःखों से दुखी होता हुआ सदा संसार में परिभ्रमण करता है।

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं।।

–प्रव.सा.गा. 11।

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिंधुदो भमदि अच्चंतं।।

– प्रव.सा.गा. 12।

जब आत्मा राग–द्वेष से युक्त होकर शुभ या अशुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, तब कर्म रूपी धूल ज्ञानावरणादि रूप में उसमें प्रवेश करती है।

परणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मस्स णाणावरणादि – भावेहिं।।

आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है कि पाप–पुण्य के सम्बन्ध में एकान्तता नहीं हैं जो ऐसा मानते हैं कि मात्र पर को दुःख देने से पाप तथा सुख देने से पुण्य होता है, तो यह सही सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि जब पर में सुख–दुःख का उत्पादन ही पुण्य–पाप का एक मात्र कारण होता है, तो फिर दूध–मलाई तथा विष कण्टादिक, अचेतन पदार्थ जो दूसरों के सुख–दुःख के कारण बनते हैं, उन्हें कोई पुण्य–पाप के बन्ध/कर्त्ता नहीं मानता। कांटा पैर में चुभ कर दूसरे को दुख उत्पन्न करता है, इतने मात्र से उसे कोई पापी नहीं कहता और न पाप फलदायक कर्म–परमाणु ही उससे आकर चिपटते अथवा बन्ध को प्राप्त होते हैं।

इसी तरह दूध–मलाई बहुतों को आनन्द प्रदान करते हैं, परन्तु उनके इस आनन्द से दूध–मलाई पुण्यात्मा नहीं कहे जाते और उनमें पुण्य फलदायक कर्म परमाणुओं का न ऐसा कोई प्रवेश अथवा संयोग ही होता है, जिसका फल इन्हें बाद में भोगना पड़े। यदि यह कहा जाए कि चेतन ही बन्ध के योग्य होते हैं, अचेतन नहीं तो फिर कषाय रहित वीतरागियों के विषय में आपत्ति को कैसे टाला जायेगा? वे भी अनेक प्रकार से दूसरों के सुख–दुख के कारण बनते हैं। जैसे– किसी सुमुक्ष को मुनि दीक्षा देते हैं, तो उसके अनेक सम्बन्धियों को दुःख पहुँचता है। शिष्यों तथा जनता

को शिक्षा देते हैं, तो उसके अनेक सम्बन्धियों को सुख पहुँचता है। पूर्ण सावधानी के साथ ईर्यापथ शोध कर चलते हुए भी कभी–कभी दृष्टिपथ से हट कर कोई जीव अचानक कूद कर पैर तले आ जाता है और पैर से दब कर मर जाता है। कार्योत्सर्ग पूर्वक ध्यानावस्था में स्थित होने पर भी यदि कोई जीव तेजी से आकर उनके शरीर से टकरा जाता है और मर जाता है तो इस तरह भी उस जीव के मार्ग में बाधक होने से वे उसके दुःखी होने के कारण बनते हैं। ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं, जिनमें वे दूसरों के सुख–दुख के कारण बनते हैं। यदि दूसरों के सुख–दुख का निमित्त कारण बनने से ही आत्मा में पुण्य–पाप का आस्रव–बन्ध होता है, तो फिर ऐसी स्थिति में कषाय रहित साधु कैसे पुण्य–पाप के बन्धन से मुक्त हो सकते हैं ? यदि वे पुण्य–पाप के बन्धन में पड़ते हैं तो मोक्ष की कोई व्यवस्था नहीं बन सकती, क्योंकि बन्ध का मूल कारण कषाय है और अकषाय–भाव मोक्ष का कारण है।

यहाँ पर यदि कहा जाए कि उन साधुओं (अकषाय जीवों) को दूसरे को सुख–दुःख देने का अभिप्राय नहीं होता, इसलिए दूसरों की सुख–दुःख की स्थिति में निमित्त कारण होने से वे बन्ध को प्राप्त नहीं होते, तो इस प्रकार यह कहना कि दूसरों के मात्र सुख–दुख से पुण्य–पाप का आस्रव होता है, असत्य है। फिर अपने में भी मात्र सुख–दुख से पुण्य–पाप नहीं होता। वहाँ अभिप्राय का होना अनिवार्य है। इन सबका अर्थ यह है कि अभिप्राय को लिए हुए दुःख–सुख का उत्पादन पुण्य–पाप का हेतु है। अभिप्राय विहीन दुःख–सुख का उत्पादन पुण्य–पाप का हेतु नहीं है।

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं हि सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च अद्वैयातां निमित्ततः।।
पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात् पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्धास्ताभ्यां युंयान्निमित्ततः।।

सुख–दुःख चाहे अपने को उत्पन्न किये जाये और चाहे पर को, यदि विशुद्धि (शुभ परिणामों) अथवा संक्लेश से पैदा होते हैं या उन परिणामों के जनक हैं, तो उससे क्रमशः पुण्यास्रव और पापास्रव होता है।

यथार्थ में पुण्य और पाप अपने को या पर को सुख–दुख पहुंचाने मात्र से नहीं होता है, अपितु अपने शुभाशुभ परिणामों पर उनका होना निर्भर करता है। जो सुख–दुख शुभ परिणामों से जन्य है, या उनके जनक हैं, उनसे पुण्य का आस्रव होता है और जो अशुभ परिणामों से जन्य या उनके जनक हैं, वे नियम से पापास्रव के कारण हैं। **यही वस्तु–व्यवस्था है।** पुण्य और पाप की इस सैद्धान्तिक अवधारणा के आधार पर आचार्यों ने शरीर, वचन और मन की प्रवृत्तियों का शुभ और अशुभ के रूप में वर्गीकरण किया है और उन्हें पुण्य या पाप के बन्ध का कारण कहा है।

आ. समन्तभद्र ने लिखा है कि योग के शुभ और अशुभ दो भेद हैं। अहिंसादि शुभ कार्य राग हैं। सत्य बोलना, मित बोलना, हितकारी बोलना आदि शुभ वाक्योग है। पाँचों परमेष्ठियों में भक्ति रखना शुभ मनोयोग है। इनके विपरीत तीन तरह के अशुभ योग हैं। प्राण लेना, चोरी करना, मैथुन आदि अशुभ काययोग हैं। झूठ, कठोर, असभ्य भाषण करना अशुभ वाक्योग है। वध चिन्तन, ईर्ष्या आदि अशुभ मनोयोग से संचालित होते हैं। अतः पापबन्ध होता है।

वीरोदय में भी पुण्य–पाप का संक्षिप्त विवेचन किया गया है –

अर्थान्मनस्कारमये प्रधानमघं सघं संकलितुं निदानम्।
वैद्यो भवेद्भुक्तिरूधेव धन्यः सम्पोषयन् खट्टिकको जघन्यः।। 16।।

–वीरो.सर्ग. 16।

जीव का मानसिक अभिप्राय ही पाप करने या नहीं करने में प्रधान कारण है। रोगी को लंघन कराने वाला वैद्य धन्य है, वह पुण्य का उपार्जक है किन्तु बकरे को खिला–पिला कर पुष्ट करने वाला खटीक जघन्य है। पापी है।

कर्म सिद्धान्त

प्रत्येक कर्म का फल अवश्य होता है। चाहे हमें इसका ज्ञान हो या नहीं। जीव जन्म से मरण तक जितने कर्म करता है उन सबका फल इसी जीवन में पाना कठिन है। इसलिए पुनर्जन्म की व्यवस्था है। मानव

को अपने कर्मों का फल भोगने के लिए बार–बार जन्म लेना पड़ता है। जब तक कर्म नहीं कटते तब तक उसे बार–बार जन्म लेकर फल भोगना पड़ता है। इस तरह जीव का कर्मचक्र, जन्म–मरण के रूप में चलता रहता है। इसी को **कर्म–सिद्धान्त** कहते हैं।

कर्मबन्धन से छूटे बगैर आत्मा मुक्त नहीं होता। संसारी जीवों के राग–द्वेषरूप परिणाम होते हैं। उन परिमाणों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियों में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर में इन्द्रियाँ होती हैं, इन्द्रियों से विषय ग्रहण करते हैं। विषय ग्रहण करने से इष्ट विषयों से राग और अनिष्ट विषयों से द्वेष होता है। इस प्रकार संसारी जीवों के भावों के कर्मबन्ध से रागद्वेषरूप भाव रहते हैं। इसी से जीव अनादि काल से मूर्तिक कर्मों से बंधा है, जिससे वह अमूर्तिक होते हुए भी मूर्तिक बना रहता है।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि कर्म अपना फल स्वयं देते हैं। जैसे – शराब पीने पर नशा स्वयं होता है। कर्म करते समय यदि जीव का भाव शुद्ध होता है, तो बंधने वाले कर्म परमाणुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। उनका फल भी शुभ होता है और यदि भाव अशुद्ध हुए तो फल अशुभ होता है। जिस तरह मन के क्षोभ का प्रभाव भोजन पर पड़ता है, भोजन ठीक से नहीं पचता है, उसी तरह मानसिक भावों का प्रभाव अचेतन वस्तुओं पर पड़ता है। सामान्यतः कर्मों में भेद नहीं है किन्तु द्रव्य तथा भाव की अपेक्षा से कर्म के दो भेद हैं। **ज्ञानावरणादि** रूप पुद्गल का पिंड **द्रव्यकर्म** है और इस द्रव्यपिंड में फल देने की जो शक्ति है वह **भाव कर्म** है।

वीरोदय में कर्म सिद्धान्त – वीरोदय में एक उद्धरण द्वारा कर्मसिद्धान्त को स्पष्ट किया गया है। जैसे– सुवर्ण–पाषाण में सुवर्ण और कीट–कालिमादि सम्मिश्रण अनादि–सिद्ध है, कभी किसी ने उन दोनों को मिलाया नहीं है किन्तु अनादि से वे स्वयं दोनों ही मिले चले आ रहे हैं। वैसे ही जड़ पुद्गल और चेतन जीव का विचित्र सम्बन्ध भी अनादि काल से चला आ रहा है। यही कर्म सिद्धान्त है।

तयोस्तु सम्मिश्रणमस्ति यत्र कलंकहेमोच्चययोर्विचित्रम्।
हेमाश्मनीवेदमनादिसिद्धं संसारमाख्याति धिया समिद्धः।। 21।।

–वीरो.सर्ग. 18।

सन्दर्भ –

1. उपासका, श्लोक, 49।
2. का. पृ. 302।
3. ले. डॉ. सुदर्शनलाल जैन, देव, शास्त्र और गुरू अ. 1. पृ. 6।
4. उपासकाध्ययन, कल्प 3।
5. ले. डॉ. सुदर्शन लाल जैन, देव, शास्त्र और गुरू अ. 2. पृ. 27।

परिच्छेद – 3

सदाचार एवं शाकाहार जीवन शैली

भारतीय दर्शन ने आन्तरिक शुद्धि पर बहुत जोर दिया है और आहार को आन्तरिक शुद्धि का आधार माना है। भारत में ही अहिंसा की ज्योति जली और भ. बुद्ध एवं भ. महावीर के शिष्यों ने उस ज्योति को सारे संसार में फैलाया। भारतीय जनता जिस कृष्ण के पीछे पागल हुई वह गोपाल कृष्ण ही है, गायों के पास बांसुरी बजाने वाला। योग दर्शन के प्रवर्तक **पतंजलि ऋषि** ने अहिंसा को अष्टांग योग का अंग माना है। उन्होंने कृत, कारित और अनुमोदना तीन प्रकार की प्रमुख हिंसा मानी है। कृत स्वयं अपने द्वारा, कारित जिसे दूसरों द्वारा करवाया गया हो, और अनुमोदित वह जिसे स्वयं तो नहीं किया हो, पर उसमें मौन अनुमोदन हो।[1]

शाकाहार एक अत्यन्त सुविकसित मानवीय जीवन–पद्धति है, जिसमें प्रतिक्षण विकास का स्वर मुखरित होता रहता है। यह वह पवित्र धरातल है, जिस पर साधु सन्त महात्मा और सत्पुरूषों का जन्म होता है। जिनके द्वारा शान्ति, सदाचार, परोपकार एवं भाईचारे की कोमल निःस्वार्थ भावनाओं का सन्देश जन–जन तक प्रवाहित होता रहता है। इसमें अन्दर और बाहर दोनों ही प्रकार से सहज वात्सल्य का झरना झरता रहता है। शाकाहार में साग–सब्जी एवं फलों के अलावा गेहूँ, जौ, चना, ज्वार, मक्का दालें, मसाले ये सब आते हैं। अहिंसा प्रणाली पर आधारित एक परिपूर्ण भोजन व्यवस्था का नाम शाकाहार है। आज हमारा देश और संस्कृति शाकाहार की गुणवत्ता का त्याग कर मांसाहार को स्थापित करने में सचेष्ट है। यह कदम हमारी सुख, शान्ति और समृद्धि के लिए आत्मघाती है। मांसाहार हिंसा का विकराल और दिल दहलाने वाला वीभत्स कुआँ है, जिसमें मृत्यु रूपी राक्षस अपनी लपलपाती जिव्हा से हमारे देश के पशुधन को निगल रहा है।

मदिरा–पान भी एक ऐसी बुराई है, जिसमें अनन्त जीवों का घात तो होता ही है, नशाकारक होने से वह विवेक को भी नष्ट करती है। अतः मांसाहार के समान मदिरापान का निषेध भी आवश्यक है।[2]

वीरोदय में शाकाहार–महत्त्व व मांसाहार–त्याग वर्णन

शाकाहार–महत्त्व व मांसाहार–त्याग का विवेचन अध्याय तृतीय में गृहस्थ–धर्म व मुनि–धर्म के वर्णन के अन्तर्गत विस्तृत रूप से किया जा चुका है। यहाँ मांसाहार त्याग से यह समझना चाहिए कि जो विषयों के लोलुपी हैं वे जीव–हिंसा को स्वीकार करते हैं और जो पवित्र मन वाले बुद्धिमान मानव हैं, वे अहिंसा भगवती की आज्ञा पालकर इन्द्रिय विषयों को जीत कर सर्वात्म–प्रिय बन जाते हैं।

आ. अमृतचन्द्र ने पुरूषार्थसिद्धयुपाय में अनेक युक्तियों से मांसाहार का निषेध किया है।

न बिना प्राणिविघातान्मांसस्योत्पत्तिरिष्यते यस्मात्।
मांसं भजतस्तस्मात् प्रसरत्यनिवारिता हिंसा।। 65।।
यदपि किल भवति मांसं स्वयमेव मृतस्य महिषवृषभादेः।
तत्रापि भवति हिंसा तदाश्रितनिगोतनिमर्थनात्।। 66।।
आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यामानासु मांसपेशीषु।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानाम्।। 67।।

–पुरू.सि.उ.।

जैन परिभाषा के अनुसार त्रस जीवों के शरीर के अंश का नाम ही मांस है। दो इन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव **"त्रस"** कहलाते हैं। त्रस जीवों के घात से मांस की उत्पत्ति होती है। कच्ची, पक्की अथवा पक रही मांस–पेशियों में निरन्तर ही अनन्त तज्जातीय निगोदिया जीव उत्पन्न होते रहते हैं। अतः मांस खाने में न केवल एक जीव की हिंसा होती है, अपितु अनन्त जीवों की हिंसा का पाप होता है।

भारतीय ऋषि–मुनि, कपिल, व्यास, पाणिनी, पतंजलि, शंकराचार्य

आर्यभट्ट आदि सभी महापुरूष, इस्लामी सूफी संत, **'अहिंसा परमो धर्मः'** के उपदेशक महात्मा बुद्ध, भ. महावीर, महात्मा गांधी सभी शुद्ध शाकाहारी थे। सभी ने मांसाहार का विरोध किया है, क्योंकि शुद्ध बुद्धि व आध्यात्मिकता मांसाहार से सम्भव नहीं है। अतः शाकाहार के महत्त्व को समझ कर हम पूर्णतः शुद्ध शाकाहारी बनें और परिवार को भी शाकाहारी बनायें। शुद्ध सात्विक सदाचारी जीवन के बिना सुख–शान्ति प्राप्त होना संभव नहीं है। अतः जो आत्मिक शान्ति तथा आत्मानुभूति पाना चाहते हैं, उनका जीवन सात्विक और सदाचारी होना चाहिए, क्योंकि जीवन में सुख–शान्ति शाकाहार से ही पायी जा सकती है।

पुरूषार्थ–चतुष्टय

भारतीय धर्मों में चार पुरूषार्थ माने गये हैं, 1. धर्म, 2. अर्थ, 3. काम और 4. मोक्ष। जैनधर्म में भी ये चारों मान्य हैं। मोक्ष को सर्वश्रेष्ठ और अन्तिम रूप से प्राप्य माना है। गृहस्थ जीवन में आदि के तीन पुरूषार्थों को संतुलित रूप में अपनाया जाये तो मोक्ष पुरूषार्थ भी सध सकता है।

धर्मार्थकाममोक्षाणां त्रिवर्गो यदि सेव्यते।
अनर्गलमतः सौरव्यमपवर्गनुक्रमात्।। 10।।

–पुरू.सि.उ.।

आ. अमृतचन्द्र ने तो अपने ग्रन्थ का नाम ही पुरूषार्थसिद्धयुपाय रखा है। उन्होंने लिखा है कि जब यह जीव समस्त विवर्तों को उर्त्तीर्ण करके अचल चैतन्य को प्राप्त होता है तभी वह सम्यक् पुरूषार्थसिद्धि को प्राप्त कर कृतकृत्य होता है। विपरीत अभिनिवेश को दूर कर आत्मतत्त्व को सम्यक् प्रकार निश्चय कर उस पर अविचल रहना ही पुरूषार्थ–सिद्धि का उपाय है।

सर्वविवर्तोत्तीर्णं सदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्यः सम्यक्पुरूषार्थसिद्धिमापन्नः।। 11।।

–पुरू.सि.उ.।

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वम्।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरूषार्थसिद्धियुपायोऽयम्।। 15।।

–पुरू.सि.उ.।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चारों दो भागों में विभाजित हैं। एक ओर धर्म और अर्थ, तथा दूसरी ओर काम और मोक्ष हैं। काम का अर्थ है – सांसारिक सुख और मोक्ष का अर्थ है सांसारिक सुख, दुख व बन्धनों से मुक्ति! इन दो परस्पर विरोधी पुरूषार्थों का साधन धर्म है और धर्म से तात्पर्य उन शारीरिक और आध्यात्मिक साधनाओं से है, जिनके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है।

भारतीय दर्शनों में एक **चार्वाक मत** ही ऐसा है, जिसने अर्थ द्वारा काम पुरूषार्थ की सिद्धि को ही जीवन का अन्तिम ध्येय माना है; क्योंकि उस मत के अुनसार शरीर से भिन्न जीव जैसा कोई पृथक् तत्त्व ही नहीं है। इसीलिये इस मत को नास्तिक कहा गया है। वेदान्त, वैदिक, जैन, बौद्ध जैसे अवैदिक दर्शनों ने जीव को शरीर से भिन्न एक शाश्वत तत्त्व स्वीकार किया है और इसीलिए ये मत आस्तिक कहे गये हैं तथा इन मतों के अनुसार जीव का अन्तिम पुरूषार्थ काम न होकर मोक्ष है, जिसका साधन धर्म को स्वीकार किया गया है। इसी श्रेष्ठता के कारण उसे चारों पुरूषार्थों में प्रथम स्थान दिया गया है और मोक्ष की चरम पुरूषार्थता को सूचित करने के लिए उसे अन्त में रखा गया है। अर्थ और काम ये दोनों साधन हैं। (साध्य जीवन के मध्य की अवस्थाएँ हैं) इसीलिए इनका स्थान पुरूषार्थों के मध्य में है।

वीरोदय में पुरूषार्थ चतुष्टय – को कवि ने केवलज्ञान होने पर भगवान के चतुर्मुख द्वारा स्पष्ट किया है – धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरूष के हितकारक चारों प्रशस्त पुरूषार्थों को सर्व प्राणियों से कहने के लिए ही मानों वीर भगवान् ने चतुर्मुखता को धारण किया है –

धर्मार्थकामामृतसम्भिदस्तान् प्रवक्तुमर्थान् पुरूषस्य शस्तान्।
बभार वीरश्चतुराननत्वं हितं प्रकर्तुं प्रति सर्वसत्त्वम्।। 43।।

–वीरो.सर्ग. 12।

परन्तु अन्य दर्शनों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का वर्णन इस प्रकार किया है –

दीपो यथा निर्वत्तिमभ्युपेतौ नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न कांचिद विदिशं न कांचित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।

अश्वघोष ने लिखा है कि बुझा हुआ दीपक न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न विदिशा में, किन्तु तैल के समाप्त हो जाने से शान्त हो जाता है। इसी प्रकार निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति भी न तो पृथ्वी में जाता है, न अन्तरिक्ष में, न किसी दिशा में, न किसी विदिशा में, किन्तु क्लेश के क्षय हो जाने पर शान्ति को प्राप्त हो जाता है।

सांख्यों की तरह जैन–परम्परा में पुरूष या आत्मा को सर्वथा अबद्ध नहीं माना है। संसारी अवस्था में अपने कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता आत्मा स्वयं है।

नैयायिकों की तरह जैनदृष्टि से बुद्धि या ज्ञान आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं है, प्रत्युत उसका अपना स्वरूप है। जैनदृष्टि से मुक्तावस्था में जीव के गुणों का **वैशेषिकों** की तरह उच्छेद भी नहीं होता प्रत्युत जीव आत्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

बौद्ध दर्शन की तरह दीपक के बुझ जाने जैसा निर्वाण भी जैन दृष्टि से मान्य नहीं है, क्योंकि जीवन का चरम लक्ष्य श्रेष्ठ और शाश्वत सुख मानने पर ही उस ओर प्रवृत्ति सम्भव है। दुःखों से आत्यन्तिक निवृत्ति यदि दीपक के बुझ जाने की तरह है, तब इस प्रकार की दुःख–निवृत्ति की अपेक्षा तो ऐन्द्रिय सुखों की ओर प्रवृत्ति स्वीकार्य हो सकती है। **जैनदृष्टि** से मोक्ष–दशा प्राप्त होने के बाद आत्मा पुनः कर्मबद्ध नहीं होता। अतः वह जन्म–मरण के दुःखों से सदा के लिए छूट जाता है।

मानव–व्यक्तित्व के चरम विकास का नाम मोक्ष है। **इसे** पाने के लिए जीव को स्वयं पूरूषार्थ करना आवश्यक है। किसी को समर्पण करने से अथवा किसी के अनुग्रह से इसे नहीं पाया जा सकता। इसी प्रकार मात्र सम्यग्दृष्टि या तत्त्वज्ञान से मुक्ति सम्भव नहीं है। मुक्ति के लिए सत्प्रवृत्तियों का पूर्ण विकास अपेक्षित है।

सूक्तियाँ –

1. **संविदन्नपि संसारी स नष्टो नश्यतीतरः। नावैत्यहो तथाप्येयं स्वयं यममुखे स्थितम्।। 10/5।।**

   यह संसारी प्राणी "वह नष्ट हो गया" "यह नष्ट हो रहा है" ऐसा देखता–जानता हुआ भी आश्चर्य है कि स्वयं को यम के मुख में स्थित हुआ नहीं जानता है।

2. **स्वस्थितं नांजनं वेत्ति वीक्षतेऽन्यस्य लांछनम्। चक्षुर्यथा तथा लोकः परदोषपरीक्षकः।। 10/7।।**

   आँख अपने भीतर लगे अंजन को नहीं जानती, पर दूसरे के अंजन को झट देख लेती है। इसी प्रकार यह लोक भी पराये दोषों को ही देखने वाला है। किन्तु अपने दोषों को नहीं देखता है।

3. **स्वार्थाच्च्युतिः स्वस्थ विनाशनाय परार्थतश्चेदपसम्प्रदायः। स्वत्वं समालम्ब्य परोपकारान्मनुष्यताऽसौ परमार्थसारा।। 17/11।।**

   – 'स्वार्थ से भ्रष्ट होना अपने ही विनाश का कारण है और परार्थ (परोपकार) से च्युत होना सम्प्रदाय के विरूद्ध है। अतः मनुष्य को चाहिये कि अपने स्वार्थ को संभालते हुये दूसरों का उपकार अवश्य करे। यही परमार्थ के सारभूत मनुष्यता है।

सन्दर्भ –

1. शाकाहार एक जीवनपद्धति – सं. डा. नीलम पृ. 12।
2. वही पृ. 5।
3. डॉ. हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ. 239–240।

उपसंहार

20वीं शताब्दी के महान कवियों में महाकवि बाल–ब्रह्मचारी पण्डित भूरामल शास्त्री का नाम विशेष उल्लेखनीय है। साहित्यिक व दार्शनिक क्षेत्र में विपुल साहित्य सृजन कर आपने संस्कृत वाङ्मय के मान्य कवियों में अद्वितीय स्थान प्राप्त किया है। पं. भूरामल शास्त्री वर्तमान में जैन निर्ग्रन्थ आचार्य ज्ञानसागर जी के नाम से विख्यात है। संस्कृत कवि कालिदास, माघ, श्रीहर्ष, भारवि आदि के समान ही जब हम कवि आचार्य ज्ञानसागर को तर्क की कसौटी पर परखते हैं, तो हमें उनमें तार्किक चिन्तन के साथ–साथ परम तपस्वी, धार्मिक निष्ठा एवं समन्वयवादी दृष्टिकोण के भी दर्शन होते हैं। महाकवि ने जयोदय, वीरोदय, सुदर्शनोदय, भद्रोदय जैसे महाकाव्यों की तथा चम्पूकाव्य के रूप में दयोदय की रचना कर संस्कृत साहित्य की समृद्धि में अभूतपूर्व योगदान किया है। इनके द्वारा रचित संस्कृत और हिन्दी भाषा में निबद्ध लगभग 30 कृतियाँ उपलब्ध हैं। जिनमें कुछ रचनायें मौलिक हैं, कुछ ग्रन्थों पर टीकाएँ हैं और कुछ अनुदित रचनायें भी हैं। प्रस्तुत शोध–प्रबन्ध में आचार्य ज्ञानसागर द्वारा प्रणीत वीरोदय महाकाव्य और भगवान महावीर के जीवन चरित का समीक्षात्मक विश्लेषण किया गया है।

वीरोदय महाकाव्य की कथा का स्रोत महाकवि जिनसेनकृत महापुराण का तृतीय भाग उत्तरपुराण है। इसी को अपनी लेखनी का आधार बनाकर महाकवि श्री ज्ञानसागर ने वीरोदय महाकाव्य का सृजन किया है। प्रस्तुत महाकाव्य में 22 सर्ग, 988 श्लोक हैं। सम्पूर्ण महाकाव्य में भगवान् महावीर के त्याग एवं तपस्या–पूर्ण जीवन की झांकी प्रस्तुत की गई है। प्रस्तुत महाकाव्य भगवान् महावीर के समग्र जीवन–दर्शन पर आधारित है। कवि ने काव्य के माध्यम से ब्रह्मचर्य व्रत के प्रति पूर्ण निष्ठा एवं चारित्रिक दृढ़ता की शिक्षा दी है। काव्यशास्त्रीय दृष्टि से यह उच्चकोटि का महाकाव्य है।

वीरोदय के परिशीलन से ज्ञात होता है कि यह काव्य एक ओर तो शैली की दृष्टि से कालिदास के काव्यों की श्रेणी में आ जाता है, और दूसरी ओर दर्शनपरक होने से बौद्ध दार्शनिक महाकवि अश्वघोष के काव्यों के समकक्ष प्रतीत होता है। इस काव्य में ब्रह्मचर्य के साथ–साथ अहिंसा एवं अपरिग्रह के महत्त्व की शिक्षा देने में भी कवि का कौशल प्रकट होता है। सर्ग, भावपक्ष, कलापक्ष एवं चरित सम्बन्धी सभी महाकाव्यगत विशेषतायें इसमें दृष्टिगोचर होती है; इस प्रकार यह **महाकाव्य** तो है ही, इसमें जैन **इतिहास** और **पुरातत्व** के भी दर्शन होते हैं। स्याद्वाद और अनेकान्त का विवेचन होने से यह ग्रन्थ **न्यायशास्त्र** तथा शब्दों का संग्रह होने से **शब्द–कोश** भी है।

महाकाव्य के माध्यम से आदर्श जीवन–चरित पर प्रकाश डालना कवि का मुख्य ध्येय रहा है। इसीलिये उन्होंने काव्य का ऐसा पौराणिक कथानक चुना है, जिसका नायक धर्म से अनुप्राणित है और जिसके जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। इस काव्य का नायक धीरोदात्त, लोकविश्रुत भगवान् महावीर है। तीर्थंकर महावीर में एक आदर्श नायक के सभी गुण विद्यमान हैं। वे परम धार्मिक, अद्भुत सौन्दर्यशाली, सांसारिक मोह–माया से विरक्त, जैनधर्म के उद्धारक, दुखियों का कल्याण करने वाले हैं। कुण्डनपुर के राजा सिद्धार्थ और रानी प्रियकारिणी महावीर के माता–पिता हैं।

नायक–प्रधान इस काव्य का नाम काव्य के नायक के नाम पर ही आधारित है। नायक का नाम है महावीर और महावीर के अभ्युदय से शान्त–रस की स्थापना ही कवि का लक्ष्य है। काव्य के नायक और काव्य के लक्ष्य के आधार पर कवि ने इस काव्य का नाम जो 'वीरोदय' वीर का उदय–अभ्युन्नति रखा है, वह सर्वथा उचित है। काव्य के परिशीलन से यह पूर्णरूपेण ज्ञात हो जाता है कि वीर भगवान् युद्धवीर तो नहीं, पर धर्मवीर अवश्य हैं, उन्होंने बाह्य शत्रुओं से युद्ध न करके आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर मोक्ष–लक्ष्मी का वरण किया। इस प्रकार 'वीरोदय' में नायक का ही अभ्युदय दिखलाया है तथा जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन कर महच्चरित की प्रतिष्ठा की है।

आचार्य ज्ञानसागर द्वारा रचित वीरोदय महाकाव्य की महत्ता और तीर्थंकर महावीर के चरित की विशेषता को ध्यान में रखते हुये हमने इस शोध–प्रबन्ध में इस महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रस्तुत किया है। शोध–प्रबन्ध् के **प्रथम अध्याय** में तीर्थंकर महावीर के चरित से सम्बन्धित प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों का परिचय देकर उनमें प्राप्त महावीर चरित की समीक्षा की है। इस अध्ययन में राजस्थानी साहित्य के महावीरचरित और हिन्दी साहित्य में लिखित महावीर सम्बन्धी चरित ग्रन्थों का मूल्यांकन किया है।

शोध–प्रबन्ध के **द्वितीय अध्याय** में वीरोदय महाकाव्य की पृष्ठ–भूमि और उसके चारित्रिक विकास को प्रस्तुत करने की दृष्टि से इस महाकाव्य के रचयिता आचार्य ज्ञानसागर का जीवन परिचय और व्यक्तित्व को स्पष्ट किया। उसके बाद आचार्य ज्ञानसागर के प्रमुख ग्रन्थों की समीक्षा प्रस्तुत की है। जिनमें जयोदय महाकाव्य, सुदर्शनोदय, भद्रोदय और दयोदय चम्पू का वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। इन ग्रन्थों के मूल्यांकन से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ है कि आचार्य ज्ञानसागर चरितकाव्य लिखने में सिद्धहस्त हैं। वीरोदय–चरित कवि की दूसरी प्रौढ़ रचना है। इन संस्कृत काव्यों में कवि ने जैन पौराणिक परम्परा को सुरक्षित रखते हुए शील की महिमा, गृहस्थाचार का महत्त्व और अहिंसाव्रत की उपादेयता आदि पर विशेष प्रकाश ड़ाला है।

वीरोदय के **तृतीय अध्याय** में वीरोदय महाकाव्य का परिचय प्रस्तुत करने के साथ–साथ काव्य की महत्ता को बतलाते हुए भगवान महावीर के जन्म से पूर्व भारत की सामाजिक व धार्मिक स्थिति कैसी थी ? इसका चित्रण करने के उपरान्त पूर्व–भवों का वर्णन करते हुए भ. महावीर के समग्र जीवन–दर्शन को प्रस्तुत किया है। उनके उपदेशों का तात्कालिक राजाओं पर प्रभाव को दर्शाते हुए

गृहस्थ–धर्म व मुनि–धर्म के योग्य कार्यों का वर्णन करते हुए कवि ने गृहस्थ को बारह व्रत व मुनियों को 28 मूल गुणों का निरतिचार पालन करने की बात कही है। इस महाकाव्य में इन दोनों धर्मों का विस्तृत

विवेचन है। जैनागमों में गृहस्थ–धर्म को बहुत महत्त्वपूर्ण माना है। गृहस्थ–धर्म का पालन करने वाले को धर्म, अर्थ, काम का सेवन आगमोक्त रीति से करना आवश्यक बतलाया गया है। पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत का क्रम–क्रम से पालन कर श्रावक धर्म की उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए मुनिधर्म अंगीकार करता है।

वीरोदय महाकाव्य में समोशरण की रचना, दिव्य–ध्वनि का प्रभाव एवं सिद्धान्तों की विवेचना करते हुए भगवान महावीर का मोक्ष गमन एवं पौराणिक आख्यानों का दिग्दर्शन आदि को भी महाकवि ने अपनी लेखनी का विषय बनाया है।

प्रबन्ध के **चतुर्थ अध्याय** में काव्य का ऋतु–वर्णन माघ के ऋतु–वर्णन के समान प्रभावशाली है। वर्षा–ऋतु का भगवान् के गर्भावतरण के साथ, वसन्त–ऋतु का भगवान् के जन्म के साथ, शीत–ऋतु का भगवान के चिन्तन के साथ, ग्रीष्म–ऋतु का भगवान के उग्र तपश्चरण के साथ और शरद–ऋतु का भगवान् महावीर के निर्वाण के साथ वर्णन करके कवि ने ऋतु–वर्णन को एक नः दिशा प्रदान की है। प्रस्तुत महाकाव्य में, ओज, प्रसाद और माधुर्य इन र्तीनों गुणों का समावेश है। साथ ही काव्य की भाषा–शैली सरल व बोधगम्य है। रसात्मकता काव्य का प्राण है। रसानुभूति के माध्यम से ही सामाजिकों को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश हृदयंगम कराया जा सकता है। महाकाव्य की रचना का मूल उद्देश्य संसार की असारता का परिज्ञान कराके, सारभूत स्वरूप की ओर ध्यान आकृष्ट कर मनुष्य को मोक्ष की ओर उन्मुख करना है।

कवि ने शान्तरस के अतिरिक्त अन्य अंगी रसों की मनोहारी अभिव्यंजना की है। रानी प्रियकारिणी के सौन्दर्य–चित्रण में श्रृँगार–रस, देवगणों के आगमन प्रसंग में हास्य–रस व अद्भुत–रस, संसार–दशा के चिन्तन में करूण–रस, भगवान् महावीर की बाल–लीला के प्रसंग में वात्सल्य–रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। काव्य को गतिशील बनाने के लिए आचार्यश्री ने छन्द–योजना भी प्रस्तुत की है। वीरोदय में 988 श्लोकों को 18 छन्दों में निबद्ध किया गया है। प्रयोग की दृष्टि से उपजाति का

सर्वाधिक स्थान है। उपेन्द्रवज्रा, इन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित, वियोगिनी, अनुष्टुप् इत्यादि छन्दों के प्रयोग में कवि ने अपने पाण्डित्य का अनुपम प्रयोग किया है। कवि का अलंकार–विन्यास अपूर्व है। महाकवि ने उपमा, रूपक, यमक, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, भ्रान्मिान, विरोधाभास आदि अलंकारों का प्रयोग करके काव्य को महत्त्वपूर्ण व सुन्दर बना दिया है। अनुप्रास उनका सर्वाधिक प्रिय अलंकार है।

पाँचवें अध्याय में सामाजिक एवं सास्कृतिक विवेचन के अन्तर्गत सामाजिक रीति–रिवाज, वेशभूषा, समाज व सामाजिक संगठन, समाज में अनुशासन, नीतिगत व्यवस्था, रहन–सहन पद्धति का विश्लेषण किया है। धार्मिक अनुष्ठान, व्रत उपवास, तप की साधना से जीवन के विकास की परम्परा को दर्शाया गया है। शिक्षा के सन्दर्भ में गुरू–शिष्य के सम्बन्धों का आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। दया, करूणा और सहिष्णुता जैसे मानवीय गुणों को कवि ने प्रमुखता से निरूपित करते हुए कलात्मकता का वर्णन कुशलता से किया है जिसका इस शोध–प्रबन्ध में उल्लेख किया गया है।

षष्ठ अध्याय में विषय की दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की गई है। धर्म का स्वरूप, धर्म का महत्त्व, देव, शास्त्र, गुरू का स्वरूप, रत्नत्रय का स्वरूप, निश्चय और व्यवहार मोक्षमार्ग की प्ररूपणा कर, पुण्य और पाप का महत्त्व प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत अध्याय में कर्म–सिद्धान्त की मीमांसा में सात तत्त्वों का निरूपण और ज्ञानावरणादि कर्मों का संक्षिप्त स्वरूप प्रस्तुत किया है। सदाचार और शाकाहार जीवन शैली के महत्त्व का वर्णन कर मांसाहार को सर्वथा त्याज्य बतलाकर कवि ने धर्म, अर्थ, काम ओर मोक्ष इन चारों पुरूषार्थों को प्रमुखता से अपनाने का सन्देश दिया है।

इस प्रकार आचार्य ज्ञानसागरकृत वीरोदय महाकाव्य का मूल्यांकन प्रस्तुत करते समय इस शोध–प्रबन्ध के माध्यम से हमें नई–नई जानकारियों और विशेषताओं का ज्ञान हुआ है। यह शोध प्रबन्ध एक ओर जहाँ प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के चरित–काव्यों की पृष्ठभूमि में बीसवीं शताब्दी में रचित वीरोदय महाकाव्य के काव्यात्मक एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य को

प्रस्तुत करता है। वहाँ दूसरी ओर हम इस शोध–प्रबन्ध के द्वारा आचार्य ज्ञानसागर के सम्पूर्ण कृतित्व से भी परिचित होते हैं। इससे ज्ञात होता है कि आचार्य ज्ञानसागर केवल प्राचीन भाषाओं के ही कवि नहीं अपितु जैनधर्म और दर्शन के निष्णात पण्डित थे। वीरोदय महाकाव्य पर प्रस्तुत यह शोध–प्रबन्ध हमें इस बात का भी ज्ञान देता है कि तीर्थंकर महावीर का चरित प्राचीन और आधुनिक कवियों में आकर्षण का केन्द्र रहा है। वीरोदय महाकाव्य प्राचीन कथा–वस्तु को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत करने के साथ–साथ आधुनिक युग में नैतिक और सदाचार की जीवन–पद्धति अपनाने की भी प्रेरणा देता है।

सूक्तियाँ –

1. **यथा स्वयं वांछति तत्परेभ्यः कुर्याज्जनः केवलकातरेभ्यः।**
   तदेतदेकं खलु धर्ममूलं परन्तु सर्वं स्विदमुष्य तूलम्।। 16/6।। –

   मनुष्य जैसा व्यवहार स्वयं अपने लिये चाहते हैं वैसा ही व्यवहार उसे दूसरे दीन, कायर पुरूषों तक के साथ करना चाहिये। यही एक तत्त्व धर्म का मूल है और शेष सब कथन तो इसी का विस्तार है।

2. **विपदे पुनरेतस्मिन् सम्पदस्सकलास्तदा। संचरेदेव सर्वत्र विहायोच्चयमीरणः।। 10/11।।**

   आत्मा को इस शरीर से भिन्न समझ लेने पर सर्व वस्तुएँ सम्पदा के रूप ही हैं। पवन उच्चय (पर्वत) को छोड़कर सर्वत्र संचार करता ही है। भावार्थ – आत्मरूप उच्च तत्त्व पर जिनकी दृष्टि नहीं है और शरीर पर ही जिनका राग है। उन्हें सभी वस्तुएँ विपत्तिमय बनीं रहती हैं किन्तु आत्मदर्शी पुरूष को वे ही वस्तुएँ सम्पत्तिरूप हो जाती हैं।

परिशिष्ट
शब्द एवं लोकोक्ति संकलन

महाकवि पं. भूरामल जी शास्त्री ने उर्दू, फारसी, हिन्दी, अंग्रेजी आदि भाषाओं के अनेक प्रचलित/अप्रचलित देशज शब्दों का तथा लोकाक्तियों–मुहावरों का प्रयोग अपनी रचनाओं में बहुतायत से किया है। कतिपय इतिहास प्रसिद्ध पुरूषों, विख्यात ग्रन्थों एवं प्राचीन आचार्यों के नामों का भी उल्लेख है। वीरोदय महाकाव्य गत ऐसे कतिपय शब्दों एवं कहावतों का संकलन इस परिशिष्ट में पृथक् से किया जा रहा है। सही/बटे में सर्ग/पद्य का संकेत है।

मेवा/ मनाक्– 1/1, अवीर/मीर/अमीर/नेक– 1/5, प्रतिवाद लोपी– 14/52, व्यलोपी– 21/13, विघ्नलोपी– 1/6, नौका/मौका– 18/30, गलालंकरणाय– 1/10, फिरंगी– 17/28, लेखात्– 1/29, सर्वः/खर्वः/वर्वः/नर्वः– 1/33, दुरितैकलोपी– 18/40, वाढ़क्षणे– 8/56, निष्ठा– 19/4, निरतैव/त्रिकाल– 1/12, खलशीलनेन– 1/17, आखोः– 1/19, गल्लकफुल्लका– 9/26, लोपी– 11/29, 12/18, खलता प्रवर्धते– 9/11, गुणरूपचर्चा द्वारा– 5/19, मनाग् वदामः– 5/7, निगले– 1/35, 2/48, कठिना समस्या– 2/31, गले– 3/28, विषादायैव– 10/3, लुठन्ति तपादिव– 2/31, स्वीयशरीरहत्यै– 4/15, करकप्रकाशात्– 4/15, श्रीगेन्दुकेलौ– 9/38, कलहमिते– 9/43, वरीवर्त्ति/सरीसर्त्ति/मरीमर्त्ति/नरो नरीनर्त्ति– 9/35, अधीरः– 12/22, असहयोगो– 11/40, सत्यागृह/वहिष्कारः– 11/42, मतल्लं मोहमल्लं– 12/45, इति प्रपंचः– 12/38, स्वीकुरूतेस्म सेवाम्– 13/8, बेरदलं/वाम्बूलं/मान्दारम्– 19/11, सूर्यस्य घर्मतः– 19/43, पापं लग्नस्य– 22/24, हिन्दुस्थानस्य– 22/11, कलहकारितया सदापि– 22/20, छत्रायते– 2/3, हारायते– 1/24, किरीटायते– 2/47।

कतिपय विशिष्ट नामों का उल्लेख –

नागार्जुन– 15/38, भीष्म पितामह– 8/40, पाण्डव– 8/40, मरीचि– 11/8, सुदामा– 11/36, चामुण्डराय– 15/40, नेमिचन्द्र सि. च. 15/40, समन्तभद्र– 1/24, अकलंक– 1/25, प्रभाचन्द्र 1/25, पूज्यपाद– 3/7, महेश्वर– 3/13, अकलंक– 4/39, देवागम– 4/39, आप्तमीमांसा– 4/39, शीतलप्रसाद– 9/22, शुभचन्द्रसिद्धान्तदेव– 15/38, दरवारि– 9/38।

श्मश्रूं स्वकीयां **वलयन्**– 1/34

अर्धशत्रे लगेन्नवोढापि धवस्य गात्रे– 9/39

न कोऽपि कस्यापि वभूव **वश्यः**– 1/38

निद्रायतेऽन्यस्य पुनः कथेतः – 12/16

अस्मिन् भुवो **भाल** इयद्विशाले– 2/21

दिनानि दीर्घाणि कुतो भवन्ति – 12/20

भूयो भवन् **वार्दल** आशुकारी– 4/13

पतंग–तंत्रायित–चित्तवृत्तिः – 12/25

पत्राणि वर्षा **कलमं** च **लातुम्**– 4/13

झलंझलावशीभूता – ध्वजा – 10/13

रदेषु कर्तुं मृदु **मंजनं** च – 5/9

सत्यागृह–प्रभावेण **महात्मा** – 10/34

चकार **काचित्तिलकं** तु **भाले** – 5/13

स्वराज्यप्राप्तये **सत्याग्रह**–धुरंधरः – 11/39

चिक्षेप **कण्ठे** मृदु **पुष्पहार** – 5/14

दधु–र्विचित्रां तु **निजीयलीलाः** – 11/7

कुहू करोतीह पिक–द्विजाति – 6/19

चलत्यथोत्थाय सतां वतंसः – 11/22

एकान्विता **वीजनमेव** कर्तुम् – 5/39

कर्षन्ति पुच्छं करिणः करेण – 12/4

पलाशनामस्मरणादथायं समीहते स्वां **महिलां** सहायम्– 6/27

पूषेव कल्ये कुहरं प्रसद्य – 12/41

परस्पर–प्रेममयो विचारः – 14/50
लगदलिव्यपदेशतया दधत – 6/36
सम्पोषयन् **खट्टिकको** जघन्य – 16/16
डिण्डिमं स मुदा दापितवान्– 7/6
किमु सम्भवतान् मोदो **मोदके** परभक्षिते – 8/1
मिथोऽनुभावात्सहयोगिनीया गृहस्थता **स्यादुपयोगिनी वा** – 18/32
काचेषु मणिवत्तदा – 8/12
प्रियाया गलमालभे – 8/29
भवाम्बुधेरूत्तरणाय **नौका** तनो–र्नरोक्तैव समस्ति **मौका**– 18/30
न **मनागपि** खिन्नतां गतः – 7/30
तूलेन किमस्तु **खेदः** – 17/30
मखमलोत्तूलशयनात् – 8/33
को नाम वाञ्छेच्च **निशाचरत्वम्**– 18/36
तेल–फुलेलादि सहजं परिगृहयते – 8/34
सद्योऽपि **वशमायान्ति** देवाः किमुत मानवाः – 8/38
त्रेतेतिरूपेण विनिर्जगाम –कालः **पुनर्द्वापर** आजगाम – 19/13
स्वरोटिकां मोटयितुं हि शिक्षते – 9/9
यतोऽधुनाऽभूज्जनता द्विधारा – 18/51
प्रवर्तते हन्त स **नामतो नरः** – 9/12
परं कलत्रं ह्रियतेऽन्यतो हठात् – 9/15
घूकाय चान्ध्यं ददेव भास्वान्। कोकाय शोकं वितरन् सुधावान्।।– 19/13
विभाति यस्याः सततं **हि देहिली** – 9/13
सूचीव रोमांचततीत्यहो – 9/20
घटस्य कार्यं न पटः श्रयेति घटः स एवं न पटत्वमेति– 19/14
उपर्यथो **तूलकुथोऽनयायिनः** – 9/24
पिवत्यहो **संयमनामधारी** – 19/29
अंगारिका चेच्छयनस्य पार्श्वतः – 9/24
दर्पादिसर्पाय तु तार्क्ष्यरूपाः – 20/1

सग्रन्थ–कन्था–विवरात् – 9/25
कुटीरकोणे कुचितांगको – 9/25
निरीहता **फेनिलतोऽपसार्य** –**सन्तोषवारीत्युचितेन** चार्य –20/2
समेत्य **मातुर्निकटं** तदाऽथ – 5/6
जलायितत्त्वं करकेषु पश्यन् – 20/6
क्षेत्रेभ्य आकृष्य फलं खलेषु निक्षिप्यते चेत्कृषकैस्तु तेषु –21/12
हिंसां स दूषयति **हिन्दूरियं** निरूक्तिः – 22/13
संसिद्धमालुकमलादि पुनः सचित्तम्– 22/23

सहायक सन्दर्भ – ग्रन्थ सूची

क्र.सं.	ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकार/सम्पादक	प्रकाशन/सन
1.	अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध–प्रवृत्तियाँ	डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, 1996।
2.	अमितगति श्रावकाचार	सम्पा. डॉ. भागचन्द जैन	अनन्तकीर्ति दि. जैन ग्रन्थमाला बम्बई, 1976।
3.	अलंकार चिन्तामणि	अजित सेन	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी 1973।
4.	अष्टपाहुड	हिन्दी अनुवादक, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य	वर्द्धमान मुद्रणालय वाराणसी 1980–89।
5.	आगम कथा साहित्य मीमांसा	डॉ. प्रेम सुमन जैन	आगम अनुयोग प्रकाशन अहमदाबाद, 1984।
6.	आचार्य ज्ञानसागर के	डॉ. किरण टण्डन काव्यः एक अध्ययन	आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र व्यावर, 1961।
7.	आदिपुराण	जिनसेन, सम्पादक, पं. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1951।
8.	आदिपुराण में प्रतिपादित भारत	डॉ. नेमिचन्द जैन शास्त्री	श्री गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थालय वाराणसी 1968।
9.	आराधना कथाकोश	ब्रह्मचारी श्री नेमिदत्त नेमीचन्द बाकलीवाल	कमल प्रिन्टर्स मदनगंज प्रथम संस्करण 1962।
10.	आराधना कथा–प्रबन्ध	हिन्दी अनुवादक, डॉ. रमेशचन्द्र जैन	आचार्य शान्ति सागर छाणी स्मृति ग्रन्थमाला बुढाना, 1990।
11.	उत्तरपुराण	आचार्य गुणभद्र	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी द्वितीय संस्करण– 1968।
12.	उपासकाध्ययन	सोमदेवकृत, सम्पादक, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी 1994।
13.	काव्य प्रकाश	आचार्य सम्मट व्याख्याकार	ज्ञानमण्डल वाराणसी, 1960।
14.	काव्यादर्श	विश्वेश्वर, सिद्धान्त शिरोमणि	भण्डारकार इन्स्टीट्यूट पूना प्रथम संस्करण 1972।
15.	किराजार्जुनीयम्	भारवि	लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद द्वितीय संस्करण, 1972।

16.	कुवलयमाला का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. प्रेम सुमन जैन	प्राकृत शोध–संस्थान, वैशाली 1975।
17.	चंदप्पहचरिउ	सम्पा, डॉ. भागचन्द जैन भास्कर	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, 1986।
18.	चन्द्रप्रभचरित	वीरनन्दि, अमृतलाल शास्त्री	जैन सं. संघ शोलापुर, 1971।
19.	जयोदय महाकाव्य पूर्वाद्ध, उत्तरार्द्ध	पं. भूरामल शास्त्री	श्री जैनस्मृति व सकल दि. जैन समाज, अजमेर 1994।
20.	जयोदय महाकाव्य का समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. कैलाशपतिं पाण्डेय	आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र ब्यावर, 1981।
21.	जयोदय महाकाव्य का शैली वैज्ञानिक अनुशीलन	डॉ. आराधना जैन	आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र ब्यावर, 1983।
22.	जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज	डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी 1965।
23.	जैन धर्म	पं. कैलाशचन्द्र जैन सिद्धान्तशास्त्री	प्राच्य श्रमण भारती, मुजफ्फरनगर, 1998।
24.	जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग	पं. बलभद्र जैन	गजेन्द्र पब्लिकेशन धर्मपुरा दिल्ली।
25.	जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, द्वितीय भाग	पं. परमानन्द शास्त्री	गजेन्द्र पब्लिकेशन धर्मपुरा दिल्ली।
26.	जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग 6	डॉ. गुलाबचन्द चौधरी	पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी– 1973।
27.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश भाग 1–5	श्री जैनेन्द्र वर्णी	भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली 1996।
28.	जैन दर्शन	डॉ. महेन्द्रकुमार जैन	गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला, 1974।
29.	जैन श्रावकाचार का समालोचनात्मक अध्ययन	डॉ. सनतकुमार जैन	वीर पुस्तक भण्डार, जयपुर।
30.	तत्त्वार्थसूत्र टीका	आचार्य ज्ञानसागर	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर 1994।
31.	तिलोयपण्णत्ती भाग – 1	यतिवृषभाचार्य, सम्पादक आर्यिका विशुद्धमति	चन्द्रप्रभ दि. जैन अतिशय क्षेत्र देहरा–तिजारा, 1997।
32.	त्रिकालवर्ती महापुरूष	प्रो. उदयचन्द जैन सर्वदर्शनाचार्य	बीस चौबीसी कल्पवृक्ष शोध–समिति, जयपुर 1993।

33.	तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा	डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य	आचार्य शान्तिसागर, छाणी ग्रन्थमाला, द्वितीय संस्करण 1992।
34.	दयोदय चम्पू	आचार्य श्री ज्ञानसागर	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर बापूनगर, जयपुर– 1994।
35.	ध्वन्यालोक	आनन्दवर्धन	ज्ञानमण्डल वाराणसी, प्रथम संस्करण 1962।
36.	धर्म और दर्शन	आचार्य देवेन्द्र मुनि	सन्मति ज्ञानपीठ आगरा, 1967।
37.	पउमचरियं	विमलसूरि	जैनधर्म प्रचारक सभा भावनगर, 1994।
38.	पद्मपुराण	रविषेण, सम्पादक पं. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1951।
39.	पर्यावरण और जैन धर्म	डॉ. प्रेम सुमन जैन	अ. भा. जैन विद्वत् परिषद् जयपुर, 1986।
40.	पवित्र मानवजीवन	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर, 1994।
41.	पार्श्वनाथचरित का समीक्षात्मक अध्ययन	डॉ. जयकुमार जैन	जैन धर्म प्रचार समिति मुजफ्फरनगर, 1987।
42.	पुरूषार्थसिद्धयुपाय	आचार्य अमृतचन्द, सम्पा वैद्य गम्भीरचन्द जैन	दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़, वि.सं. 2499।
43.	प्राकृत कथा साहित्य परिशीलन	डॉ. प्रेम सुमन जैन	संघी, प्रकाशन जयपुर, 1992।
44.	प्राकृत भारती	सम्पा, डॉ. प्रेमसुमन जैन डॉ. सुभाष कोठारी	आगम अहिंसा समता एवं प्राकृत संस्थान जयपुर, 1991।
45.	प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	डॉ. नेमिचन्द शास्त्री ज्योतिषाचार्य	तारा पब्लिकेशन्स कमच्छा वाराणसी, 1966।
46.	प्राकृत साहित्य का इतिहास	डॉ. जगदीशचन्द्र जैन	चौखम्बा वाराणसी।
47.	भगवान महावीरः एक अनुशीलन भाग 1	आचार्य देवेन्द्र मुनि	श्री तारक गुरू जैन ग्रन्थालय उदयपुर, 1974।
48.	भगवान महावीर	डॉ. शोभनाथ पाठक	श्यामला हिल्स, भोपाल 1984।
49.	भद्रोदय महाकाव्य	ब्र. पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर 1994।
50.	भाग्य परीक्षा (भाग्योदय)	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर 1994।

51.	भारतीय दर्शन	बलदेव उपाध्याय	नागरी मुद्रणालय काशी षष्ठ संस्करण, 1960।
52.	कवि आचार्य ज्ञानसागर संस्कृत साहित्य में प्रकृति चित्रण	डॉ. किरण टण्डन	आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र ब्यावर, 1996।
53.	महावीर पुराण	आचार्य सकलकीर्ति सम्पा, नन्दलाल जैन विशारद	जैन पुस्तक भवन कलकत्ता 1901।
54.	महावीर युग व जीवनदर्शन	डॉ. ए. एन. उपाध्याय डॉ. हीरालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ संस्थान नई दिल्ली, 1998।
55.	मानवधर्म	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर 1994।
56.	मूकमाटी महाकाव्य	आचार्य विद्यासागर	भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली। 1996।
57.	मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र)	अनुवाद पं. परमेष्ठीदास न्यायतीर्थ	टोडरमल स्मारक प्रकाशन समिति, जयपुर, 1998।
58.	यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन	डॉ. गोकुलचन्द जैन	सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1967।
59.	रत्नकरण्डश्रावकाचार	स्वामी समन्तभद्र, सम्पा, पं. पन्नालाल जैन	वीर सेवा समिति मन्दिर ट्रस्ट काशी, 1972।
60.	वड्ढमाणचरिउ	सम्पादक एवं अनुवादक डॉ. राजाराम जैन	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन वाराणसी, 1973।
61.	वर्धमान पुराण	नवलशाह,	दिगं. जैन पुस्कालय, सूरत।
62.	वरांगचरित	जटासिंहनंदि	चौरासी संघ मथुरा।
63.	वसुनन्दि श्रावकाचार	सम्पा, प्रो. भागचन्द जैन भास्कर	पार्श्वनाथ विद्यापीठ वाराणसी 1999।
64.	विद्याधर से विद्यासागर	सुरेश सरल	आचार्य ज्ञानसागर वागर्थ विमर्श केन्द्र ब्यावर, 1996।
65.	विवेकोदय	सम्पा, क्षुल्लक ज्ञानभूषण	वीरसेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर, 1994।
66.	वीर शासन के प्रभावक आचार्य	डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल	भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन नई दिल्ली, 1975।
67.	वीरोदय महाकाव्य	ब्रह्म. पं. भूरामलशास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर, 1994।

68.	बृहत्कथाकोश	हरिषेणाचार्य	कमल प्रिन्टर्स, मदनगंज अजमेर, 1962।
69.	सचित्त विवेचन	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर 1994।
70.	सचित विचार	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, जयपुर 1994।
71.	समन्तभद्र अवदान	डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन	स्याद्वाद, प्रचारिणी सभा जयपुर 2001।
72.	समयसार	कुन्दकुन्द, सम्पादक पं. बलभद्र जैन	श्री कुन्दकुन्द भारती दिल्ली 1978।
73.	समसार	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर, 1994।
74.	सम्यक्त्वसार शतक	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर, 1994।
75.	सरल जैन विवाह विधि	पं. भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर, 1994।
76.	सल्लेखना दर्शन	मुनि श्री सुधासागर	श्री ताम्रपत्र शास्त्र एवं पुस्तक प्रकाशन समिति,ललितपुर उ.प्र.
77.	संस्कृत साहित्य का प्रामाणिक इतिहास	डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी	चौखम्भा संस्कृत सीरिज वाराणसी, 1962।
78.	सागारधर्मामृत	आशाधरकृत, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री	भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1978।
79.	साहित्य दर्पण	आचार्य विश्वनाथ	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी प्रथम संस्करण 1964।
80.	सुदर्शनोदय महाकाव्य	पण्डित भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर, 1994।
81.	सुदर्शनचरितम्	हिन्दी अनुवादक डॉ. रमेशचन्द्र जैन	भारतीय अनेकान्त विद्वत् परिषद, 1992।
82.	स्वामी कुन्दकुन्द व सनातन जैन धर्म	पण्डित भूरामल शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट जयपुर 1994।
83.	षड्खण्डागम	पुष्पदन्त भूतबति सम्पादक हीरालाल जैन	जैन साहित्य उद्धारक फण्ड कार्यालय अमरावती,1939।
84.	हरिवशपुराण	जिनसेन, सम्पादक पं. पन्नालाल जैन	भारतीय ज्ञानपीठ काशी 1978।

कोशग्रन्थ

1.	जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश	भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली।
2.	संस्कृत–हिन्दी कोश	मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली।
3.	प्राकृत हिन्दी शब्द कोश	पार्श्वनाथ विद्यापीठ, वाराणसी।
4.	अपभ्रंश हिन्दी कोश	नरेशकुमार, दिल्ली।

पत्र–पत्रिकायें

1.	जैन सिद्धान्त भास्कर	– डी. के. जैन शोध संस्थान, आरा 1990।
2.	महावीर जयन्ती स्मारिका	– ज्ञानचन्द बिल्टीवाला, राजस्थान जैन सभा, जयपुर 1998–99।
3.	श्रमण	– श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी (उ.प्र.)।
4.	वीर वाणी	– डॉ. सनतकुमार जैन, वीर प्रेस, जयपुर।
5.	तीर्थंकर	– डॉ. नेमीचन्द जैन, पत्रकार कॉलोनी, इन्दौर 1988।
6.	अनेकान्त	– वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली।
7.	शोधादर्श	– महावीर शोध केन्द्र, लखनऊ।
8.	प्राकृतविद्या	– कुन्दकुन्द भारती, प्राकृत भवन, नई दिल्ली।
9.	तुलसीप्रज्ञा	– जैन विश्वभारती संस्थान, लाडनूँ।
10.	अर्हत्वचन	– कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर।
11.	सम्बोधि	– एल. डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद।
12.	जैन जर्नल	– जैन भवन, कलकत्ता।

भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी सांगानेर (जयपुर) से

प्रकाशित ग्रन्थों का विवरण

1. प्रवचनसार 75/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
2. समयसार 80/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
3. जयोदय महाकाव्य (पूर्वार्ध एवं उत्तरांश) 150/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
4. वीरोदय महाकाव्य 100/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
5. सुदर्शनोदय महाकाव्य 75/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
6. दयोदय (चम्पू) 30/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
7. विवेकोदय 30/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
8. समुद्रदत्त चरित्र (भाग्योदय) 30/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
9. सम्यक्त्व सार शतक 60/-
   महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
10. तत्त्वार्थसूत्र महाशास्त्र 60/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
11. मुनि मनोरंजनाशीति 20/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
12. भक्ति संग्रह 20/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
13. हित सम्पादक 30/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
14. मानवधर्म (हिन्दी) 30/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
15. कर्त्तव्यपथ प्रदर्शन 30/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
16. भाग्य परीक्षा 25/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
17. ऋषभ चरित्र 26/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
18. गुण सुन्दर वृत्तान्त 20/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
19. सरल जैन विवाह विधि 15/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
20. पवित्र मानव जीवन 20/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
21. सचित्त विवेचन
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
22. सचित्त विवेचन 12/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
23. स्वामी कुन्दकुन्द और सनातन जैन धर्म 20/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
24. इतिहास के पन्ने 15/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
25. शांतिनाथ पूजन विधान 20/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
    (अनुवादक निहालचन्द जैन)
26. मानवधर्म (अंग्रेजी) 50/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
27. सुदर्शनोदय (अंग्रेजी) 100/-
    महाकवि आचार्य ज्ञानसागरजी
    (बलजीतसिंह)

28. महा. आ. ज्ञानसागरजी के हिन्दी साहित्य की मौलिक विशेषताएं 10/-
डॉ. के.एल. जैन
29. महाकवि आ. ज्ञानसागरजी संस्कृत साहित्य में प्रकृति चित्रण की विशेषतायें 10/-
डॉ. किरण टण्डन
30. महाकवि आ. ज्ञानसागर के काव्य एक अध्ययन 65/-
डॉ. किरण टण्डन
31. आ. ज्ञानसागर साहित्य में पर्यावरण एक दृष्टि 50/-
पं. निहालचन्द जैन
32. आ. ज्ञानसागर द्वारा स्मृत साहित्य 50/-
डॉ. रमेश चन्द जैन
33. आचार्य विद्यासागर ग्रन्थावली I, II, III, IV 100/-, 85/-
आ. विद्यासागर जी
34. विद्याधर से विद्यासागर 40/-
डॉ. सुरेश 'सरल'
35. जे गुरू चरण जहां पड़े 20/-
एलबम
36. आध्यात्मिक पनघट 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
37. नग्नत्व क्यों और कैसे? 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
38. मुनि का मुखरित मौन 15/-
(कविताएं)
मुनि श्री सुधासागरजी
39. अद्यो सोपान 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
40. जोवन एक चुनौती 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
41. सम्यक्त्वाचरण 10/-
मुनि श्री सुधासागरजी
42. दृष्टि में सृष्टि 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
43. तीर्थप्रवर्त्तक 35/-
मुनि श्री सुधासागरजी
44. श्रुत दीप 16/-
मुनि श्री सुधासागरजी
45. जियें तो कैसे जियें? 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
46. चित्त चमत्कार 14/-
मुनि श्री सुधासागरजी
47. संस्कृति संस्कार 14/-
मुनि श्री सुधासागरजी
48. नियति की सीमा 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
49. फूटी आंख विवेक की 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
50. नाव और नाविक 15/-
मुनि श्री सुधासागरजी
51. कड़वा मीठा सच 20/-
मुनि श्री सुधासागरजी
52. वास्तुकला का कीर्तिस्तम्भ 7/-
मुनि श्री सुधासागरजी
53. सुधा सन्दोहन 5/-
मुनि श्री सुधासागरजी
54. मु. श्री सुधासागरजी व्यक्तित्व और कृतित्व 35/-
मुनि श्री सुधासागरजी
55. कुन्द-कुन्द वाणी विशेषांक 15/-
56. अंजना पवनंजय नाटकम् 20/-
मुनि श्री सुधासागरजी

57. आदिब्रह्मा ऋषभदेव 25/-
अनुवाद डॉ. रमेशचंद जैन
58. बौद्ध दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा 30/-
डॉ. रमेशचंद जैन
59. हे ज्ञानदीप आगम प्रणाम 10/-
डॉ. रमेशचंद जैन
60. वास्तुसार प्रसाद मंडन 125/-
61. वास्तुसार प्रकरण 125/-
श्री परम जैन चन्दाडगज ठक्कर फेरू
62. सल्लेखना दर्शन 20/-
सम्पादक-डॉ. रमेशचन्द जैन
सल्लेखना पर विद्यत् संगोष्ठी-ललितपुर
63. विश्व के कीर्तिस्तम्भ 151/-
नवगजरथ स्मारिका ललितपुर
64. कीर्तिस्तम्भ 185/-
आ. ज्ञानसागर द्वारा रचित वीरोदय पर
द्वितीय विद्वत् संगोष्ठी, अजमेर (राज.)
65. लघुत्रयी मंथन 90/-
(आ. ज्ञानसागर द्वारा रचित सुदर्शनोदय
भद्रोदय/दयोदय पर तृतीय विद्वत्
संगोष्ठी-ब्यावर)
66. जयोदय महाकाव्य परिशीलन 150/-
(आ. ज्ञानसागर रचित जयोदय पर चतुर्थ
विद्वत संगोष्ठी-किशनगढ़)
67. महाकवि आ. ज्ञानसागर अध्यात्मक
सन्दोहन(आ. ज्ञानसागर साहित्य पर
पंचम विद्वत् संगोष्ठी, जयपुर) 90/-
68. जैन दर्शन में रत्नत्रय का स्वरूप 20/-
डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन
69. जैन राजनैतिक चिंतनधारा 20/-
डॉ. विजयलक्ष्मी जैन
70. जयोदय महाकाव्य का
समीक्षात्मक अध्ययन 45/-
डॉ. कैलाशपति पाण्डैय
71. जयोदय महाकाव्य का शैली
वैज्ञानिक अनुशीलन 35/-
डॉ. कु. अनुराधा जैन
72. सर्वार्थसिद्धि का समीक्षात्मक अध्ययन 50/-
डॉ. सीमा जैन
73. पासणाहचरिउ-एक समीक्षात्मक अध्ययन 50/-
डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन 'भारती'
74. संस्कृत साहित्य में बीसवीं शताब्दी के जैन
मनीषियों का योगदान 50/-
डॉ. नरेन्द्रसिंह राजपूत
75. चारित्र चक्रवर्ती 80/-
पं. सुमेरचन्द दिवाकर
76. मोक्ष मार्ग प्रकाशक 65/-
पं. टोडरमलजी
77. नीति वाक्यामृत 65/-
पं. सोमदेव
78. आहारदान कैसे 8/-
श्री देशराज 'एडवोकेट'
79. माँ मुझे मत मारो 15/-
डॉ. सुनील जैन एवं त्रिशला जैन
80. जिनपूजा 25/-
संकलन
81. महाकवि आ. विद्यासागर की साहित्य
साधना एवं शोध संदर्शिका 15/-
मुनि श्री सुधासागर जी
82. आ. ज्ञानसागरवाङ्मय में नय निरूपण 35/-
पं. शिवचरण लाल जैन
83. आ. ज्ञानसागर साहित्य में चित्रालंकार 30/-
डॉ. रुद्रदत्त त्रिपाठी
84. आ. विद्यासागर का व्यक्तित्व एवं
काव्यकला 50/-
डॉ. माया जैन
85. महापर्व-राज 20/-
मुनि श्री सुधासागर जी

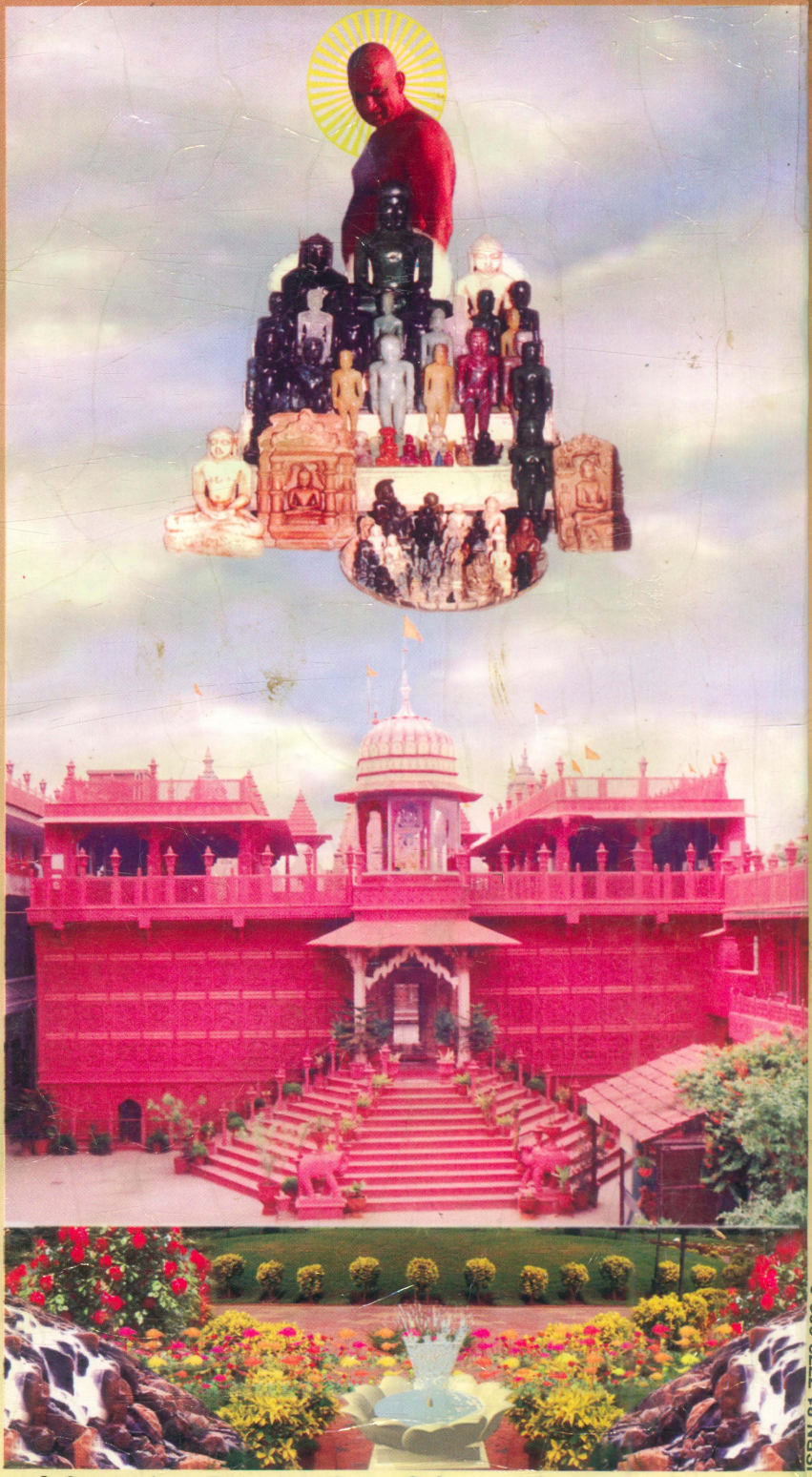
86. जिन्दगी का सच 15/-
मुनि श्री सुधासागर जी
87. पणमामि चरणं विसुद्धतरं
88. सुधासागर हिन्दी इंग्लिश डिक्शनरी 300/-
सम्पादक-डॉ. रमेशचंद
89. सांख्य दर्शन की शास्त्रीय समीक्षा
डॉ. शक्तिबाला कौशल
90. आ. ज्ञानसागर की साहित्य साधन एवं
सांगानेर जिन बिम्ब दर्शन
91. शोध संदर्शिका महाकवि आचार्य
ज्ञानसागर के वाङ्मय समाहित शोध
विषयक शीर्षक 70/-
प्रेरणा मुनि सुधासागरजी
92. अब आई अक्ल ठिकाने 15/-
मुनि श्री सुधासागर जी
93. ऋषभदेव चारित्र 40/-
आचार्य ज्ञानसागरजी
94. व्रत विधि विधान संग्रह 20/-
95. सांगानेर वाले बाजा भगवान आदिनाथ
पूजन आरती चालीसा 5/-
96. भद्रोदय (अंग्रेजी) 50/-
97. सामान्य-ज्ञान-प्रथम 15/-
क्षु. गम्भीरसागर जी
98. पार्श्वनाथ चरित्र 50/-
जय कुमार जैन
99. ज्ञान का सागर 50/-
सुरेश सरल
100. समागम 15/-
101. सुधा का सागर 60/-
सुरेश सरल
102. वसुधा पर विद्यासागर 15/-
103. आ. विद्यासागर ग्रन्थावली परीक्षीलन 150/-
सीकर स्मारिका रमेशचन्द
104. पथ ऑफ ड्यूती 35/-
105. गुण सुन्दर व्रतांत में आगम कथायें 50/-
श्रीमती अलका मिश्रा
106. आचार्य जिनसेन कृत हरिवंश पुराण
परिशीलन (कोटा स्मारिका) 150/-
पं. सुरेन्द्र कुमार जैन
107. वीरोदय महाकाव्य की सूक्तियों का
समीक्षात्मक अध्ययन 20/-
हेमंत सिंह रावत
108. आचार्य ज्ञानसागर द्वारा विरचित 'जयोदय'
महाकाव्य 'चमत्कारतत्व' के परिप्रेक्ष्य में
समीक्षात्मक अध्ययन 50/-
109. आचार्य ज्ञानसागर के हिन्दी साहित्य का
समीक्षात्मक अध्ययन 50/-
डॉ. राजुल जैन
110. जयोदय महाकाव्य का दार्शनिक एवं
सांस्कृतिक अध्ययन 50/-
डॉ. रेखा रानी
111. परम सुधासागर
पं. लालचन्द जैन 'राकेश'
112. मुनि सुधासागर : व्यक्तित्व और सृजन 60/-
डॉ. दीपक कुमार जैन
113. यागमण्डल पंचकल्याणक पूजन 25/-
संकलनकर्त्ता : ब्र. सुरेन्द्र कुमार जैन 'सरस'
114. जैन दर्शन में अनेकान्तवाद :
एक परिशीलन 100/-
डॉ. अशोक कुमार जैन

उपर्युक्त प्रकाशित साहित्य के अलावा हमारे यहाँ विभिन्न प्रतिष्ठानों से प्रकाशित जैन साहित्य भी उपलब्ध हैं।

भगवान ऋषभदेव ग्रन्थमाला

श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी सांगानेर (जयपुर)

फोन : 0141-2731952, 2730390



श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र मन्दिर संघीजी, सांगानेर, जयपुर का विहंगम दृश्य

ISBN 81-7772-009-0